# आचार्य रामचंद्र शुक्ल

( आचार्य शुक्ल की साहित्यिक कृतियों की विस्तृत समीक्षा )

—संशोधित तथा परिवर्धित—

शिवनाथ, एम्० ए०

●

# प्रथम संस्करण का निवेदन

अपने श्रद्धेय गुरुवरों पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और पं० नंददुलारे ाजपेयी को सर्वप्रथम मैं नतमस्तक हो प्रणाम करता हूँ, जिनकी सहायता ौर प्रेरणा से यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य के संमुख आ सकी है। पूज्य वेश्वनाथ जी की यदि कृपा न हुई होती तो संभवतः पुस्तक अभी अप्रस्तुत ी रहती। किस प्रकार इन गुरुवरों से उऋण हो सकूँगा, समझ नहीं पा रहा हूँ। भाई सीताराम सिंह का भी बड़ा भारी ऋण मेरे ऊपर है, जो यथासमय पुस्तकों से मेरी सहायता करते रहे हैं। छोटे भाई के नाते उनसे मुझे ऋण लेने का पूरा अधिकार भी है। ऋण भर सकूँगा कि नहीं इसकी मुझे चिन्ता नहीं, मैं छोटा जो हूँ।

पुस्तक के समीक्षात्मक होने के कारण इसमें मैं आचार्य शुक्ल के अध्यापन-कौशल तथा कोश-कार्य पर कुछ नहीं लिख सका, क्योंकि यहाँ इनकी आवश्यकता नहीं समझी। इसी प्रकार उनके अँगरेजी के लेखों पर भी मैंने कुछ विचार नहीं किया—उनका संबंध विशुद्ध साहित्य से न देखकर। उनमें आचार्य शुक्ल की दृष्टि केवल प्रचारात्मकता पर ही है भी।

दो शब्द अपने इस प्रथम प्रयास की प्रवृत्ति के विषय में भी कह दूँ। इस प्रस्तुत प्रयास का लक्ष्य आचार्य शुक्ल के सभी साहित्यिक कार्यों की विवेचना करके उनकी विशेषताओं का उद्घाटन है। पर समीक्षक के धर्म के नाते उनके दोषों की ओर संकेत करने से भी विमुख नहीं रह सका। अपने कार्य में मैं कितना सफल रहा, इस विषय में तो सहृदय ही कुछ कह सकेंगे। बस इतना ही।

रक्षाबंधन,
सं० २०००
काशी।

ननाथ

# द्वितीय संस्करण का निवेदन

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के जीवनवृत्त और व्यक्तित्व के संबंध से जो न
सामग्री मुझे प्राप्त हुई उसका उपयोग मैंने इस संस्करण में किया है।
सामग्री के लिए मैं आचार्य शुक्ल के परम प्रिय अनुज श्री हरिश्चंद्र शुक्ल औ
श्री कृष्णचंद्र शुक्ल तथा उनके सुपुत्र श्री गोकुलचंद्र शुक्ल का बहुत
कृतज्ञ हूँ।

द्वितीय संस्करण में मैंने यथास्थान आवश्यक प्रवर्धन तथा संशोधन भी किया है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के पश्चात् आचार्य शुक्ल का 'सूरदास' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है और उनकी 'रस-मी... प्रकाशित होनेवाली है। अतः अगले संस्करण में ही पुस्तक के विशेषरूप से प्रवर्धित करने का निश्चय किया गया।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस संस्करण में परिच्छेदों के अंतर्गत उपशीर्षक लगा दिए गए हैं।

शरत् पूर्णिमा,
सं० २००४ वि०
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

शिवनाथ

# सूची

## लेखक के अन्य ग्रंथ

१. हिंदी-कारकों का विकास ।

२. अनुशीलन ।

३. आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका ।

४. हिंदी नाटकों का विकास ।

५. भारतेंदु की कविता (श्री बच्चनसिंह के साथ)

६. अनुशीलन ।

७. मीमांसिका ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल

# आचार्य रामचंद्र शुक्ल

## उपक्रम

### ( १ )

आधुनिक हिंदी-साहित्य के गद्य-युग का वास्तविक आरंभ भारतेंदु बाबू **हरिश्चंद्र** ने किया। गद्य के विकास का आभास यत्र-तत्र उनके जीवन-काल में ही मिलने लगा था। पर हिंदी-गद्य का विकास के पथ पर सम्यक् रूप से आने का समय **'सरस्वती'** के प्रकाशन का आरंभ तथा अल्प काल पश्चात् ही इसके संपादन के लिए पं० **महावीरप्रसाद द्विवेदी** का हिंदी-साहित्य में आगमन है। 'सरस्वती' के प्रकाशन के कुछ आगे-पीछे कतिपय गद्य-निर्माताओं का भी विकास आरंभ हुआ, जिन्होंने आगे चलकर अपने प्रतिभा-प्रकाश से सारे हिंदी साहित्य को आच्छादित कर दिया। इन निर्माताओं के नाम हैं— श्री **प्रेमचंद्र**, श्री **प्रसाद**, श्री **महावीरप्रसाद द्विवेदी** और श्री **रामचंद्र शुक्ल**। श्री प्रेमचंद्र और श्री प्रसाद का क्षेत्र विशुद्ध कारयित्री प्रतिभा (क्रीएटिव जीनियस) का था। इनका क्षेत्र गद्य का होते हुए भी द्विवेदी जी और शुक्ल जी से भिन्न था। द्विवेदी जी तथा शुक्ल जी का विषय-क्षेत्र प्रधानतः एक ( आलोचना और निबंध का ) था, पर परिस्थिति की भिन्नता के कारण दोनों का विकास भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ। द्विवेदी जी को 'सरस्वती' के संपादक के नाते अनेक सामयिक विषयों और प्रसंगों पर निरंतर लिखते रहना पड़ता था, इसलिए उनका कार्य प्रचारात्मक अधिक रहा। उनकी दृष्टि बहुमुखी हो गई। उन्हें प्रायः साधारण वा मध्यम कोटि के पाठकों की भूख पूरी करनी पड़ती थी और प्रभूत मात्रा में पूरी करनी पड़ती थी। भाषा-संस्कार से लेकर नाना सामयिक और समयोपयोगी विषयों पर लेखनी चलाना और संपादक के समस्त कर्तव्यों का पालन करना उनके जिम्मे पड़ा। उनके यहाँ अधिक भीड़ थी। पर शुक्ल जी की परिस्थिति उससे उलटी थी। यहाँ एकांत था, भीड़-भाड़ नहीं थी; इस कारण इन्हें

अध्ययन, मनन, विश्लेषण, निरीक्षण आदि का पूर्ण अवकाश मिला। अतः ये हिंदी को साहित्य विषयक शास्त्रीय तथा नवीन बौद्धिक सामग्री दे सके। शुक्ल जी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे ही, इस अनुकूल परिस्थिति में इन्हें फूलने-फलने का अच्छा अवसर मिला और ये हिंदी में आचार्य के यथार्थ पद पर प्रतिष्ठित हुए।

( २ )

पं० रामचन्द्र शुक्ल के पूर्वजों का मूल निवास गोरखपुर मंडलांतर्गत (जिले मे) भेड़ी नामक स्थान था। इनके पितामह **पं० शिवदत्त शुक्ल** वहीं रहते थे। उनका स्वर्गवास बहुत अल्प वय अर्थात् तीस वर्ष में ही हो गया। इस समय पं० शिवदत्त जी के पुत्र (हमारे शुक्ल जी के पिता) पं० **चंद्रबली शुक्ल** की वय केवल चार-पाँच वर्ष की थी। आश्रय की अव्यवस्था के कारण पं० रामचंद्र शुक्ल की मातामही अपने चार-पाँच वर्ष के पुत्र को लेकर अब 'नगर' की रानी साहिबा के साथ ही प्रायः रहने लगीं। रानी साहिबा का इनपर स्वीय कन्या का सा प्रेम था। उन्होंने 'नगर' के पास ही बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में इनके निवास के लिए भूमि देकर घर भी बनवा दिया। पं० चंद्रबली शुक्ल की शिक्षा-दीक्षा का भी बहुत ही समुचित और सुचारु प्रबंध हो गया और उन्होंने काशी के क्वींस कॉलेजिएट स्कूल से एंट्रेंस (स्कूल फाइन) पास कर लिया।

पं० रामचंद्र शुक्ल का जन्म अगोना ग्राम में ही संवत् १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ। पं० रामचंद्र शुक्ल की माता गाना के मिश्रवंश की थीं, जिस वंश में **गोस्वामी तुलसीदास** का जन्म हुआ था। पं० रामचंद्र के जन्म के चार वर्ष पश्चात् अर्थात् सं० १९४५ में इनके पिता की नियुक्ति हमीरपुर जिले की राठ तहसील में प्रधान या प्रबंधक कानूनगो (सुपरवाइजर कानूनगो) के पद पर हुई। यहीं शुक्ल-जी की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। ये यहाँ के वर्नाक्यूलर स्कूल में भर्ती हुए। भविष्य में हिंदी के प्रकांड पंडित के रूप में संमुख आनेवाले शुक्ल जी की प्रारंभिक शिक्षा भी अजीब ढंग से हुई। यथास्थान इसका उद्घाटन होगा कि शुक्ल जी के पिता मुसलमानियत और अँगरेजियत के कितने कायल थे। इसके अतिरिक्त वह समय भी ऐसा था जब हिंदी उर्दू के समान ही एक

वर्नाक्यूलर थी; जिसे बहुत ही थोड़े लोग पढ़ते थे। हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था भी नाम मात्र को ही थी। केवल छठीं, सातवीं कक्षा तक इसकी पढ़ाई होती थी। मगर पिता के निर्देशानुसार ये उक्त कक्षाओं तक भी हिंदी की शिक्षा प्राप्त न कर सके। इन्होंने आठवीं कक्षा तक उर्दू, फारसी पढ़ी और नवीं में ड्राइंग ले लिया।

मगर शुक्ल जी में हिन्दी के प्रति प्रेम बचपन से ही था। अतः ये पिता के आदेश का उल्लंघन कर चुपके से हिंदी की कक्षा में पंडित **गंगाप्रसाद** से हिंदी पढ़ते थे। यह सं० १९४६-४८ के आसपास की बात है, जब शुक्ल जी ६-७ वर्ष के थे।

राठ मे लगभग चार वर्ष रहने के पश्चात् सं० १९४९ में इनके पिता मिर्जापुर में सदर कानूनगो हो गए। इसी बीच में शुक्ल जी की माता का स्वर्गवास राठ में ही हो गया; इस समय इनकी अवस्था लगभग नौ वर्ष की थी। अब सारा परिवार मिर्जापुर आ गया और रमई पट्टी नामक स्थान में रहने लगा।

पं० रामचन्द्र शुक्ल मिर्जापुर के जुबिली स्कूल में उर्दू के माध्यम से अंगरेजी पढ़ने लगे। सं० १९५५ के लगभग इन्होंने मिडिल पास किया। शुक्ल जी का विवाह १२ वर्ष की अवस्था में काशी के पं० **रामफल ज्योतिषी** की कन्या से हुआ। जिस समय ये नवीं कक्षा में थे उस समय इनकी पूजनीया मातामही का स्वर्गवास हो गया; उन पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। वे भी इन्हें बहुत मानती थीं। शुक्ल जी के व्यक्तित्व में गांभीर्य की निहिति का एक कारण इनकी मातामही के स्वर्गवास का इनपर प्रभाव भी है। उनकी मृत्यु का इनपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये क्रमशः गम्भीर होते गए। इसके पूर्व ये इतने गम्भीर नहीं थे और अपने समवयस्कों के साथ खेला-कूदा भी करते थे। मातामही की मृत्यु के कुछ दिनों पश्चात् तक तो हंसी के प्रसंग आने पर भी ये नहीं हँसते थे।

सं० १९५८ में इन्होंने लन्दन मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा पास की। आगे पढ़ने के उद्देश्य से प्रयाग की कायस्थ पाठशाला में इन्होंने एफ० ए० में नाम लिखाया। उस समय एफ० ए० में उच्च गणित की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। शुक्ल जी गणित में बहुत कमजोर थे। अतः एक

महीने के पश्चात् इन्होंने 'पाठशाला' छोड़ दी। गणित को छोड़कर सभी विषयों में शुक्ल जी के अतिरिक्त कक्षा में कभी कोई प्रथम नहीं आता था। अंत में ये 'प्लीडरशिप' ( वकालत ) पढ़ने प्रयाग गए। तब स्कूल फाइनल अथवा एफ० ए० पास करने के पश्चात् जो कानून पढ़ते थे उन्हें 'प्लीडरशिप' की उपाधि मिलती थी और जो ग्रेजुएट होकर इसे पढ़ते थे उन्हें एल-एल० बी० की उपाधि। पर इसमें इन्हें सफलता न प्राप्त हो सकी।

( ३ )

शुक्ल जी को शिक्षा-काल में अर्थ-संकट का काफी सामना करना पड़ा। कहा जाता है कि विमाता से इनकी नहीं बनती थी जिसके कारण इनके पिता भी इनसे खिंचे रहते थे और वे इनकी आर्थिक सहायता नहीं करते थे। फलतः शुक्ल जी को अपने अध्यवसाय के बल पर ही शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी। द्रव्योपार्जन के लिए ये '**आनन्दकादंबिनी** में अतिरिक्त समय में काम करते थे। स्कूल के प्रधानाध्यापक श्रीयुत **के० एन० बरुआ** इनके प्रति बहुत ही कृपालु थे और इन्हें ट्यूशन दिला देते थे। इस प्रकार शुक्ल जी ने शिक्षा प्राप्त की।

शुक्ल जी के अर्थ-संकट के साथ ही इनकी कर्मठता और इनका अध्यवसाय देख इनके पिता इनसे बहुत प्रभावित हुए और एक दिन इन्हें पकड़कर खूब रोए। उन्होंने तुरत ३००) इन्हें दिया। अब पिता से मेल-भाव हो गया और आपसी खींच-तान दूर हो गई।

( ४ )

शिक्षा समाप्त कर लेने पर शुक्ल जी ने सरकारी नौकरी की और शीघ्र ही उसे छोड़ी भी। इसका उल्लेख हुआ है कि शुक्ल जी के पिता मिर्जापुर में सदर कानूनगो थे। वे आवश्यकतानुसार नकशा शुक्ल जी से ही बनवाते थे। यह बहुत ही प्रसिद्ध बात है कि शुक्ल जी की हस्तलिपि अत्यन्त सुन्दर थी। जब ये रचकर लिख देते तो इनके अक्षर छापे के अक्षरों से कम सुन्दर नहीं बनते थे। उस समय मिर्जापुर के कलक्टर **विंढम साहब** थे। उन्होंने एक दिन शुक्ल जी द्वारा बनाए गए नकशों को देखा और उनसे अत्यन्त प्रभावित

होकर इनके पिता से पूछा कि ये नक्शे किसके बनाए हैं। उन्होंने कहा कि मेरे लड़के के। यह जान **विंढम साहब** ने तुरत शुक्ल जी की नामजदगी नायब तहसीलदारी के लिए कर दी। यहाँ यह भी कह दिया जाय कि कुछ दिनों के बाद नायब तहसीलदारी के लिए जो परीक्षा हुई उसमें शुक्ल जी घोड़सवारी तक में अच्छी तरह उत्तीर्ण हुए। अस्तु। विंढम साहब शुक्ल जी पर कृपालु थे ही, अतः नामजदगी के साथ ही इन्हें एक अँगरेजी आफिस में २०) मासिक पर फिलहाल नियुक्त कर दिया। मगर शुक्ल जी के आत्मसंमान ने इन्हें अधिक दिनों तक यहाँ टिकने न दिया। एक बार कार्यालय के प्रधान लेखक ने इनसे रविवार को भी आने के लिए कहा। इस पर इन्होंने त्यागपत्र दे दिया। स्मरण यह रखना है कि यह वह समय था जब सरकार के अधिकारी किसी व्यक्ति के हृदय में आत्मसंमान को जगने नहीं देना चाहते थे। विंढम साहब भी इसी वर्ग के थे—यद्यपि त्यागपत्र देने पर उन्होंने शुक्ल जी को बहुत ऊँचा-नीचा समझाया था और त्यागपत्र लौटा लेने को कहा था। परन्तु शुक्ल जी पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

शुक्ल जी के लिए आत्मसंमान जीवन का अमूल्य रत्न था, जिसे खो देना वे मनुष्यत्व से भ्रष्ट होना मानते थे। इसे त्यागकर अधिकारियों के संकेत पर विभिन्न प्रकार का नाटक करना ये नहीं सह सकते थे। ये कहते थे—"आत्मसंमान की रक्षा करते हुए काँटों पर घसीटा जाना अच्छा पर इसे खोकर फूलों में तुलना अच्छा नहीं।" नौकरी त्यागने के पश्चात् इसकी प्रतिक्रिया के रूप में सं० १९५९ में शुक्ल जी ने **'इंडियन रिव्यू'** में 'हाट हैज इंडिया टु डू ?' नामक लेख लिखा।

विंढम साहब ने जब यह लेख पढ़ा तब शुक्ल जी के पिता को बुलाकर कहा—'देखो तुम्हारा लड़का रिभोल्यूशनरी हो रहा है, हाथ से निकल जायगा, किसी तरह रोको।"

विंढम साहब शुक्ल जी के परिवार के बहुत बड़े शुभचिंतक थे। कालांतर में वे शुक्ल जी का बहुत संमान करने लगे और इनके परिवारवालों से इनके विषय में बराबर पूछताछ करते रहते थे।

नौकरी त्याग देने के बाद घर और बाहर सर्वत्र का वातावरण इनके

विरुद्ध था। लोग इन्हें बहेतू की कोटि से शायद ऊपर नहीं समझते थे और बहेतू समझे जाने का कारण यह था कि ये प्रकृति-प्रेमवश खूब भ्रमण करते थे। इनके पिता से लोगों ने कहा—"ये क्या करेंगे, ये तो बहेतू हो गए दिन रात घूमा करते हैं।" ऐसी दशा में इनके पिता भी इनसे खिंचे रहते शुक्ल जी का अर्थ-कष्ट भी बढ़ा, जिसके कारण इन्होंने सं० १९६५ में मिर्जापुर के मिशन स्कूल में २०) मासिक वेतन पर ड्राइंग-मास्टरी कर ली। बाद में वेतन २२) और फिर २५) भी हुआ। इस काम को शुक्ल जी ने बहुत प्रसन्नता से ग्रहण किया था और इसमें इनका मन भी खूब लगता था।

(५)

शुक्ल जी के साहित्य-निर्माण की दो पवित्र भूमियाँ रही हैं, एक मिर्जापुर की और दूसरी काशी की। मिर्जापुर में ही/इनके साहित्य-निर्माण का आरंभ समझना चाहिए; काशी में आकर उसमें विकास, प्रौढ़ता और पूर्णता आई। यद्यपि शुक्ल जी इधर प्रायः काशी में ही रहा करते थे तथापि उस मिर्जापुर के प्रति इनका विशेष प्रेम था, जहाँ इनके साहित्यिक जीवन का आरंभिक काल व्यतीत हुआ था। एक बार इन्होंने कहा था—"लोगों ने मुझे बनारसी समझ लिया है, यह मेरे साथ अन्याय है। मैं मिर्जापुर का हूँ। और मिर्जापुर मुझे अत्यंत प्रिय है।.......मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ।"

शुक्ल जी के जीवन-वृत्त पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि इनके साहित्यिक होने का हेतु इनके जीवन के बाल्य-काल से ही उपस्थित था। यदि कोई इसे अतिशयोक्ति की सीमा तक न ले जाय तो कहा जा सकता है कि इनकी माता से इन्हें जो रक्त मिला वह महान्-साहित्यिक परंपरा का रक्त था, क्योंकि हमने देखा है कि शुक्ल जी की माता उसी वंश की थीं जिसमें हिंदी के ही सर्वश्रेष्ठ कवि नहीं, विश्व के भी सर्वश्रेष्ठ कवियों में गिने जानेवाले **गोस्वामी तुलसीदास** का जन्म हुआ था। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति शुक्ल जी की कितनी श्रद्धा थी, यह किसी पर अप्रकट नहीं है। एक प्रकार से शुक्ल जी का सारा काव्य-सिद्धांत गोस्वामी जी के काव्य के आधार पर ही निर्मित समझना चाहिए। यह तो हुई माता के संबंध से आए साहित्यिक बीज की बात। शुक्ल जी के

पिता भी बड़े काव्य-प्रेमी जीव थे। 'प्रेमघन की छायास्मृति' में शुक्ल जी ने लिखा है—"मेरे पिता जी फारसी के अच्छे ज्ञाता और पुरानी हिंदी-कविता के बड़े प्रेमी थे। फारसी कवियों की उक्तियों को हिन्दी-कवियों की उक्तियों के साथ मिलाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। वे रात को प्रायः **'रामचरित मानस'** और **'रामचंद्रिका'** घर के सब लोगों को एकत्र करके, बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे। आधुनिक हिंदी-साहित्य में **भारतेंदु जी** के नाटक उन्हें बहुत प्रिय थे। उन्हें भी वे कभी-कभी सुनाया करते थे।" शुक्ल जी के पिता के काव्य प्रेम में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। वे हिन्दी-कविता के प्रेमी थे, इसमें भी संदेह नहीं। परन्तु यह प्रेम दूसरे ढंग का था, इसका कुछ कारण तो धार्मिकता थी और कुछ कारण फारसी-कविता से हिंदी-कविता की तुलना की इच्छा। उद्धरण में शुक्ल जी ने इसका उल्लेख किया भी है। फारसी-साहित्य से शुक्ल जी के पिता का अगाध प्रेम था। उन्होंने बस्ती-निवासी मौलवी **कम्बर अली** या **अकबर हुसेन** से पंद्रह वर्ष तक फारसी पढ़ी थी। उनके अधिकतर मित्र मुसलमान थे। मुसलमानी ढंग की डाढ़ी रखते थे। घर और बाहर सर्वत्र पाजामा पहनते थे। ढीली धोती से उन्हें सख्त नफरत थी। घर में भी उर्दू बोलते थे। उन्हें ब्राह्मणों से कुछ घृणा थी। वे इन्हें 'बम्हन' कहते थे। मुसलमानियत से इतना प्रभावित होते हुए भी भोजनादि में भारतीय ढंग की स्वच्छता वे बराबर बरतते थे। मुसलमानियत का इतना कायल व्यक्ति यदि हिंदी को 'गँवारू बोली' समझे तो आश्चर्य नहीं। हम देख चुके हैं कि कैसे शुक्ल जी चुपके से हिंदी पढ़ते थे।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनमें साहित्य-प्रेम था, यह प्रेम चाहे किसी भी साहित्य के प्रति क्यों न हो। धर्म-भावना से अथवा हिंदी-साहित्य की फारसी-साहित्य से तुलनाकी दृष्टि से वे सूर के पद, **'रामचरितमानस'** **'रामचंद्रिका'** **'बिहारी-सतसई'** **'हम्मीर हठ'**, **भारतेंदु** केसभी नाटक बहुत ठाट से पढ़ते थे।

शुक्ल जी के पिता भी विचित्र व्यक्ति थे। एक ओर तो वे मुसलमानी सभ्यता से प्रभावित थे और दूसरी ओर आर्यसमाजी विचारों से। वे **'सत्यार्थ-प्रकाश'**, **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'**, **'साहित्य-दर्पण'** ( इटावे से प्रकाशित होनेवाली आर्यसमाजी मासिक पत्रिका ) आदि आर्यसमाजी विचारों से संपन्न

पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ बराबर पढ़ते रहते थे। बात यह है कि शुक्ल जी की भाँति ही इनके पिता भी बचपन से ही स्वतंत्र विचारों के थे, लकीर के फकीर न थे। इसी कारण जब जिस बात को उचित समझते थे तब उसे कार्यान्वित करते थे। यही कारण है कि कालांतर में शुक्ल जी के प्रभाव से वे सनातनी विचार धारा से संपृक्त **श्री रामावतार शर्मा** रचित **'मुद्गलानंद चरितावली'** सुनाया करते थे। इसे सुनकर वे कहते—"मुझे भी कुछ ऐसा ही लग रहा है।" इस प्रकार उनके विचारों में परिवर्तन हुआ। और अब उन्होंने मुसलमानी डाढ़ी को फ्रेंच कट के रूप में रखा, पाजामे से पतलून की ओर आए। स्मरण यह रखना है कि तब अँगरेजियत का प्रभाव भी कम न था। जो भी हो, इस विवरण से शुक्ल जी के बाल्य-काल में उनके चारों ओर छाई हुई साहित्यिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का तो परिचय प्राप्त होता ही है, साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि **तुलसी** के **'रामचरितमानस'** से उनका 'परिचय' आरम्भ से ही था, आगे चलकर तुलसी पर उनका कितना 'प्रेम' हुआ, यह विदित ही है। पर जिन **केशव** से इनका 'परिचय' बाल्य-काल से ही था, उन केशव के प्रति इनका 'प्रेम' भविष्य में कभी नहीं दिखाई पड़ा! ऊपर उद्धृत गद्य-खंड से एक बात का ज्ञान और होता है, वह यह कि हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग के प्रथम नेता **भारतेंदु हरिश्चन्द्र** से भी इनका परिचय बाल्य-जीवन से ही था। इसी लेख में आगे इन्होंने लिखा है—"जब उनकी (पिता जी की) बदली हमीरपुर जिले की राठ तहसील से मिरजापुर हुई तब मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी। उसके पहले ही मैं भारतेंदु के संबंध में एक अपूर्व मधुर भावना मेरे मन में जगी रहती थी। **सत्यहरिश्चन्द्र नाटक** के नायक राजा हरिश्चंद्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी। 'हरिश्चन्द्र' शब्द में दोनों की एक मिली-जुली भावना एक अपूर्व माधुर्य का संचार मेरे मन में करती थी।" इस उद्धरण से भारतेंदु के प्रति शुक्ल जी की बाल्य-कालिक भावना तथा धारणा का परिचय मिलता है। आगे चलकर शुक्ल जी ने भारतेंदु पर कई लेख तथा कविताएँ लिखीं। वस्तुतः इन भारतेंदु जी को लेकर ही इनका परिचय **'प्रेमघन'** जी से हुआ, जिनसे इन्हें आरम्भ में प्रचुर साहित्यिक प्रेरणा मिली और प्रत्यक्ष

वा परोक्ष रूप से ये उनसे प्रभावित भी हुए। इसी लेख में इन्होंने आगे चलकर लिखा है—"मिर्जापुर आने पर कुछ दिनों में सुनाई पड़ने लगा कि **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** के एक मित्र यहां रहते हैं, जो हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका नाम है **उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी**। भारतेंदु-मंडल की किसी सजीव स्मृति के प्रति मेरी कितनी उत्कंठा रही होगी, यह अनुमान करने की बात है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'सजीव स्मृति' **प्रेमघन** जी ही थे। अपनी बाल-मित्र-मंडली के साथ ये 'प्रेमघन' की 'पहली झांकी' भी ले आए थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी का बाल्य-काल साहित्यिक विभूतियों के श्रवण, स्मरण तथा दर्शन से प्रभावित हुआ।

किशोरावस्था में पं० **केदारनाथ पाठक** से परिचय होना भी शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन में विशेष महत्व रखता है। इनके साहित्यिक जीवन को अग्रसर और प्रौढ़ करने में अवश्य ही उन्होंने सहारे का काम किया। इन्हें **नागरीप्रचारिणी सभा** में लाने में भी उन्हीं का प्रधान हाथ था। पं० **केदार नाथ** पाठक ने मिर्जापुर में 'मेयोमेमोरियल लाइब्रेरी' खोली थी, जहाँ नित्य सायंकाल श्री **काशीप्रसाद जायसवाल** श्री **प्रयागदास** और शुक्ल जी पढ़ने जाया करते थे। यह तब की बात है जब शुक्ल जी नवीं कक्षा में पढ़ते थे। इस लाइब्रेरी की शुक्ल जी ने जितनी पुस्तकें पढ़ीं, उन सबपर इनके नोट लिखे हुए हैं। ये बाल्य-काल से ही अध्ययनशील थे और नवीन नवीन विषयों का अध्ययन करते थे। इनके छोटे भाई **श्री हरिश्चन्द्र शुक्ल** का कथन है कि जब ये दसवीं कक्षा में थे तब मैंने इन्हें **हर्बर्ट स्पेंसर** की **'साइकोलाजी'** नामक पुस्तक पढ़ते देखा था। शुक्ल जी को यहाँ से अँग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं की पुस्तकें पढ़ने को मिलती थीं। शुक्ल जी के लिए हिन्दी-पुस्तकें एकत्र करने में पाठक जी को विशेष प्रबन्ध करना पड़ता था, क्योंकि वे चाहते थे कि ये हिन्दी की पुस्तकों का अवलोकन करें। हिन्दी की ओर शुक्ल जी की प्रवृत्ति तो थी ही। इस प्रकार पं० केदारनाथ पाठक शुक्ल जी में अध्ययन की प्रवृत्ति जगाने और इनकी ज्ञान-वृद्धि करने में सहायक हुए। वे शुक्ल जी के घर पर इन्हें पुस्तकें पढ़ने को दे आया करते थे। घर पर पाठक जी को देख शुक्ल जी के पिता कहते—"ले आया हिन्दी" "आ गया कमबख्त!" शुक्ल जी में अध्ययन का

व्यसन आरम्भ में ही था और अन्त तक बना रहा। पिछले काल इन्हें श्वास और खाँसी का रोग हो गया था। रोग की अवस्था में भी यह व्यसन नहीं छूट पाता था। देखा गया है कि ये खाँसते जाते थे और पढ़ते जाते थे।

लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में शुक्ल जी को ऐसी साहित्यिक मित्र-मंडली मिल गई जिसमें निरन्तर साहित्य-चर्चा हुआ करती थी। अब शुक्ल जी अपने को हिंदी का एक लेखक समझने लगे। 'प्रेमघन की छाया-स्मृति' नामक लेख में आपने एक स्थान पर लिखा है—"१६ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते तो समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों कि एक खासी मंडली मुझे मिल गई। जिनमें श्रीयुत **काशीप्रसाद जी जायसवाल**, बा० **भगवानदास जी हालना** पं० **बदरीनाथ गौड़**, पं० **उमाशंकर द्विवेदी** मुख्य थे। हिन्दी के नए- पुराने लेखकों की चर्चा बराबर इस मंडली में रहा करती थी। मैं भी अब अपने को एक लेखक मानने लगा था। हम लोगों की बातचीत प्रायः लिखने-पढ़ने की हिन्दी में हुआ करती थी, जिसमें 'निस्संदेह' इत्यादि शब्द आया करते थे।" अब इनकी 'सूरत' पर हिन्दी का 'शौक' झलक मारने लगा था। एक बार इनके पिता जी ने अपने मुहल्ले के एक सब-जज साहब से इनका परिचय देते हुए कहा—"इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक है।" चट जवाब मिला—"आपको बताने की जरूरत नहीं। मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया"—( 'प्रेमघन की छाया-स्मृति' ) वह द्रष्टा मुसलमान था!

साहित्य-निर्माण की ओर शुक्ल जी की प्रवृत्ति बालपन से ही थी। कहा जाता है कि अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक कालमें शुक्ल जी श्री **रामगरीब चौबे** से अप्रत्यक्षतः बहुत प्रभावित हुए। वे रमई पट्टी में शुक्ल जी के घर में ही रहते थे। वे अत्यंत गौर वर्ण के थे और अफीम खाते थे। संभवतः भाँग छानने की प्रेरणा परोक्षतः शुक्लजी को उन्हीं से मिली। परंतु ये भाँग के मुरीद कभी नहीं हुए। श्री रामगरीब चौबे अँगरेजी भाषा के प्रकांड पंडित तथा अँगरेजी से हिंदी और हिंदी से अँगरेजी में अनुवाद करने में परम प्रवीण थे। कोई हिंदी बोलता जाता और वे अँगरेजी में तुरत अनुवाद करते जाते। अँग- ... से हिंदी में अनुवाद की भी ऐसी ही गति थी। मौलिक रचना

के क्षेत्र में भी उनकी गति बहुत ही तीव्र थी। बैठते तो बराबर लिखते ही जाते। **चौबे जी** की इस लेखन-शक्ति से अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में शुक्ल जी परोक्षतः अवश्य प्रभावित हुए। कहा जाता है कि **क्रुक्स** साहब का **'कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स'** नामक समस्त ग्रंथ चौबे जी का ही लिखा है। स्वर्गीय **श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा के टाड राजस्थान** में भी उन्होंने काम किया है। श्री **चंद्रबली पांडे** को चौबे जी की हिंदी की कुछ कविताएँ भी प्राप्त हुई हैं। इनके कुछ अनुसंधानात्मक निबंध भी पुरानी पत्रिकाओं में मिलते हैं। अपने सहपाठियों के उपहास में तथा अन्य छोटी-मोटी इधर-उधर की बातों पर ये दो-चार पंक्तियाँ जोड़ लिया करते थे। सुनकर आश्चर्य होता है कि इन्होंने तेरह वर्ष की अवस्था में ही **'हास्य-विनोद'** नामक एक नाटक लिखा था, जिसे किसी महाशय ने हँसते-हँसते फाड़ डाला। इससे ज्ञात होता है कि इनमें हास्य-विनोद की प्रवृत्ति आरंभ से ही थी। **'पृथ्वीराज'** नाम का एक और नाटक इन्होंने लिखना आरंभ किया था, जो दो ही अंक तक लिखा जा सका, पूरा नहीं हुआ। इनकी सर्वप्रथम प्रकाशित कविता 'मनोहर छटा' है, जो सोलह वर्ष की अवस्था में लिखी गई थी और **'सरस्वती'** में प्रकाशित हुई थी। 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा', 'साहित्य' आदि लेख इसी मिर्जापुर के निवास-काल में लिखे गए थे। हिंदी की सर्वप्रथम कहानियों में गिनी जानेवाली कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' इसी समय लिखी गई थी। **जोसेफ़ एडीसन** के **'प्लेज़र ऑन इमैज़िनेशन'** का अनुवाद **'कल्पना का आनंद'** नाम से तथा **मेगास्थनीज़** की **'टा इंडिका'** का **'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन'** नाम से अनुवाद इसी समय की रचनाएँ हैं। पता चला है कि 'कल्पना का आनंद' उस समय अनूदित हुआ जिस समय शुक्ल जी नवीं कक्षा में थे। यह अनुवाद अर्थ-संकट के कारण हुआ था।

शुक्ल जी की इन दो-चार रचनाओं का नामोल्लेख करने का हमारा तात्पर्य यह है कि इनमें साहित्य के निर्माण की प्रवृत्ति बाल्य-काल से ही थी। इसके अतिरिक्त हमारा उद्देश्य यह दिखाना भी है कि इनके आरंभिक तथा प्रथम कार्य-क्षेत्र मिर्जापुर में ही इनकी सभी प्रकार की रचना-प्रवृत्तियों के दर्शन मिलते हैं, जिनमें आगे चलकर काशी के निवास-काल में विकास और प्रौढ़ता

आई। कविता, निबंध, कहानी, अनुवाद आदि सभी प्रकार की रचनाएँ हमें इस मिर्जापुर की भूमि में लिखी गई मिलती हैं।

लेख के इस खंड से विदित हो गया होगा कि शुक्ल जी में साहित्यिक बनने की प्रवृत्ति बाल्य-काल से ही थी और इस प्रवृत्ति को पनपने के लिए अनुकूल परिस्थिति भी मिली और इस परिस्थिति में उसका विकास आरंभ हुआ। अब तक शुक्ल जी मिर्जापुर में ही थे।

( ६ )

सं० १९६६-६७ के लगभग शुक्ल जी **'हिंदी-शब्द-सागर'** का काम करने के लिए काशी आए। शुक्ल जी के साहित्यिक जीवन में काशी का आगमन भी एक प्रधान घटना है। अब ये साहित्य और साहित्यिकों के प्रधान पीठ में आ गए थे, जहाँ इन्हें साहित्यिक कार्य करने के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएँ तथा प्रोत्साहन मिलने लगे।

इसमें संदेह नहीं कि शुक्ल जी में प्रतिभा थी और उसका प्रस्फुटन कभी न कभी अवश्य होता, पर इस प्रतिभा के विकास के लिए क्षेत्र देने का श्रेय काशी नागरीप्रचारिणी सभा को है; क्योंकि शुक्ल जी अपने सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रधान रूप में—आलोचक के रूप में—'सभा' के फर्मायशी कामों* द्वारा ही दिखाई पड़े। 'सभा' की **'तुलसी-ग्रंथावली'**, **'जायसी-ग्रंथावली'** तथा **'इतिहास'** ने ही इन्हें हिंदी का सर्वश्रेष्ठ आलोचक बनाया।

इनके अतिरिक्त आलोचना-संबंधी और कार्य भी इसी काशी के कार्य-काल में हुए। मनोभावों पर इनके शास्त्रीय तथा साहित्यिक लेख भी इसी समय के बीच सामने आए। **'बुद्धचरित'** तथा **'हृदय का मधुर भार'** आदि काव्य भी इसी काल-काल की रचनाएँ हैं। शुक्ल जी के प्रौढ़ अनुवाद भी इसी समय हुए।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि शुक्ल जी की प्रतिभा में पूर्ण विकास तथा प्रौढ़ता काशी आगमन के पश्चात् आई। शुक्ल जी इसी काशी की पवित्र भूमि

* एक बार शुक्ल जी ने बातचीत के सिलसिले में 'तुलसी-ग्रंथावली', 'जायसी-ग्रंथावली', 'इतिहास' आदि को 'सभा' का 'फर्मायशी काम' तथा 'रसमीमांसा' को अपनी रुचि का स्वतंत्र काम बतलाया था।

में 'शुक्ल जी' बने। शुक्ल जी की इतनी बड़ी साहित्यिक प्रतिभा ( लिटरेरी जीनियस ) का समुचित आदर भी हिंदी-साहित्य ने किया, ये साहित्यिक पद तथा पुरस्कार से संमानित भी किए गए।

कुछ काल तक शुक्ल जी के हाथों में **'काशी नागरीप्रचारणी पत्रिका'** का संपादन भी रहा, जब वह मासिक रूप में निकलती थी। इस समय 'पत्रिका' में शुक्ल जी के बहुत से लेख बिना नाम दिए ही निकले हैं। 'पत्रिका' को देखने से विदित होता है कि उसके लिए सामग्री प्रस्तुत करने में इन्हें विशेष परिश्रम करना पड़ता रहा होगा। हम देख चुके हैं कि **'आनंद-कादंबिनी'** के संपादन में भी शुक्ल जी का हाथ रहता था। तो, शुक्ल जी संपादक के रूप में भी साहित्य के संमुख आते हैं!

कोश का कार्य समाप्त होने के पश्चात् शुक्ल जी की नियुक्ति हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में अध्यापक के पद पर हुई। यहाँ इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में हिंदी-साहित्य की शिक्षा के प्रतिष्ठापकों में शुक्ल जी प्रमुख व्यक्ति थे। हिंदी में उच्च शिक्षा के लिए प्रतिभित साहित्यिक व्यवस्था की आवश्यकता थी। शुक्ल जी ने उसकी पूर्ति की। हिंदी-निबंध और आलोचना के क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठ कोटि की रचनाओं द्वारा इन्होंने भारतीय विश्वविद्यालयों की हिंदी-साहित्य की शिक्षा को अवलंब दे उसका स्तर उच्च बनाया। हिंदी-साहित्य में इनकी गहरी पैठ, सुलझी बुद्धि और विचारों को बोधगम्य बनाने की सरल प्रणाली ने हिंदी-साहित्य की उच्च शिक्षा-व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान की। विश्वविद्यालयों में जब हिंदी-साहित्य भी एक वैकल्पिक विषय हुआ तब इससे खिंचे रहनेवालों ने सोचा कि हिंदी में क्या है जो इसकी पढ़ाई की जायगी, ऐसे लोगों की यह भी धारणा थी कि हिंदी जैसे क्षुद्र (?) विषय में प्रश्न-निर्धारण आदि कैसे होगा? कहना न होगा कि ऐसे लोगों की उक्त धारणाओं का मूलोच्छेद करने में शुक्ल जी प्रमुख थे। इन्होंने हिंदी-साहित्य में भी वैसे ही श्रेष्ठ कोटि के प्रश्नों का निर्धारण किया जैसे श्रेष्ठ कोटि के प्रश्न अन्य विषयों में निर्धारित किए जाते थे। एक समय ऐसा था जब विश्वविद्यालयों के अध्यापक इसके विषय में शुक्ल जी से पूछताछ करते

थे। शुक्ल जी भी समुचित परामर्श देते, जिससे हिंदी-साहित्य की शिक्षा की व्यवस्था उत्तरोत्तर विकसित हुई।

बाबू **श्यामसुंदरदास के** हिंदी-विभाग के अध्यक्ष के पद से अवकाश ग्रहण करने पर ये सं० १९९४ में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष बनाए गए और जीवन-पर्यंत इसी पद पर अधिष्ठित रहे।

शुक्ल जी को श्वास का रोग था, जो जाड़े में कष्ट दिया करता था। एक बार इन्होंने कहा था—"यह जाड़े में ही तंग करता है, गरमी और बरसात में तो मैं दो-दो घंटे तक पहाड़ी झरनों में स्नान करता हूँ।" सं० १९९७ का जाड़ा बीत चला था और ये लोगों से कहने भी लगे थे कि "यह साल तो मैं काट ले गया।" पर काल ने आकर अंत में धोखा दे ही दिया। माघ सुदी ६, रविवार सं० १९९७ की रात को ( ९–९½ के मध्य ) श्वास के दौरे के बीच सहसा हृदय की गति बंद हो जाने से इनका स्वर्गवास हो गया। वह मृत्यु, जिसके पेट की ज्वाला हिंदी के **प्रेमचंद** और **प्रसाद** को कवलित करके भी शांत न हुई थी, इस 'राम' को भी निगीर्ण कर गई, जो अपनी अयोध्या (हिंदी) भली भाँति बसाकर प्रस्थान की कामना रखते थे।

( ७ )

शुक्ल जी के जीवन तथा साहित्य से प्रकृति का बड़ा घनिष्ट संबंध रहा है। ये प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। प्रकृति को लेकर इन्होंने कुछ काव्य-सिद्धांत भी स्थिर किए हैं। जिस प्रकृति को ये काव्य मे इतना महत्त्व देते थे, जिससे इनका इतना प्रेम था, उसके साथ इनका परिचय भी बाल्य-काल से ही था और जीवन-पर्यंत ये उसी प्रेमभरी दृष्टि से उसके दर्शन के लिए लालायित रहे।

मिर्जापुर की जिस 'रमई पट्टी' में शुक्ल जी रहते थे उसी में **पं० विंध्येश्वरी-प्रसाद** नामक एक सज्जन संस्कृत के अच्छे पंडित तथा प्रकृति के अनन्य उपासक रहा करते थे। उनके यहाँ संस्कृत के विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। वे इन विद्यार्थियों को लेकर प्रायः विंध्याचल की ओर निकल जाते और वहाँ प्रकृति के रम्य दृश्यों को देखकर कालिदास, भवभूति आदि के प्रकृति-वर्णन-संबंधी श्लोकों को पढ़ाया करते थे। शुक्ल जी भी उनके साथ प्रायः पर्वत की ओर निकल जाते और उन्हीं लोगों के साथ सानंद विचरण करते। यह तब की बात

है जब शुक्ल जी बालक थे। यहीं से इनके प्रकृति-प्रेम का आरम्भ होता है, और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वह प्रेम अंत तक बना रहा। मिर्जापुर के प्राकृतिक दृश्यों से तो इन्हें अत्यंत प्रेम था। मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व मिर्जापुर के कवि-सम्मेलन में इन्होंने कहा था—"मैं मिर्जापुर की एक-एक झाड़ी, एक-एक टीले से परिचित हूँ। उसके टीलों पर चढ़ा हूँ। बचपन मेरा इन्हीं झाड़ियों की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ। लोगों की अंतिम कामना रहती है कि वे काशी में मोक्ष-लाभ करें, किंतु मेरी अंतिम कामना यही है कि अंतिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य खंड हो जो मेरे मन में, भीतर बाहर, बसा हुआ है।" इससे शुक्ल जी के प्रकृति-प्रेम और साथ ही इनकी तत्संबंधी भावुकता का परिचय मिल जाता है।

इसका निर्देश किया जा चुका है कि शुक्ल जी की प्रकृति-क्षेत्र में भ्रमणशील प्रवृत्ति के कारण इनके पिता अप्रसन्न रहा करते थे। जब ये मिर्जापुर में रहते थे तब अपराह्ण में अपने समवयस्क मित्रों के साथ प्रकृतिदर्शन के हेतु निकल जाते थे। कभी-कभी तो तीन-तीन बजे रात तक घूमा ही करते थे। सैर-सपाटे को जाते, तो थोड़ा भाँग का सामान भी लेते जाते। शुक्ल जी के मित्रों में एक श्री **रामेश्वरनाथ शुक्ल** थे। वे आर० एस० एस० में नौकर थे। वे भी अजीब घुमक्कड़ थे। मिर्जापुर शहर से दो-दो तीन-तीन बजे रात को ही घूमने चलने के लिए शुक्ल जी को लिवाने रमई पट्टी आ जाया करते थे। वे बहुत ही हाज़िर जवाब थे और जरा बहुरूपिया ढंग से रहा करते थे—कभी कुछ पहनते थे, कभी कुछ। उन्होंने **'इङ्गिलस्तान का इतिहास'** लिखा है। वे हिंदी की कविता अच्छी करते थे और सुकंठ होने के कारण बहुत अच्छे ढंग से सुनाते भी थे। शुक्ल जी का और उनका साथ जीवन भर बना रहा। वे अभी स्वर्गगत हुए हैं।

शुक्ल जी के अनुज श्री **हरिश्चन्द्र शुक्ल** ने लिखा है—"वसंत और वर्षा ऋतुओं में वे सुरभित द्रुमलताच्छित वनस्थलियों में विहार करते थे और शरत् आदि अन्य ऋतुओं में नदी की कछारों या हरे भरे मैदानों में। प्रत्येक ऋतु में वे प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लिया करते थे। वनस्थलियों में भ्रमण करते करते थक जाने पर वे मंद-मंद बहती और कल-कल शब्द करती हुई

किसी निर्झरिणी के किनारे जा ठहरते। वहाँ अपने चारों ओर प्राकृतिक विभूति की अपार राशि लगी देख उन्हें न तन की सुध रहती और न मन की और भावावेश में बहुत ही धीमे स्वर से श्लोक पढ़ने लगते थे। मिर्जापुर के आसपास शायद ही कोई टीला होगा, विरला ही कोई गिरिशिखर होगा, जिस पर वे न चढ़े हों, शायद ही कोई दर्रा होगा, मुश्किल से कोई घाटी होगी जिसे उन्होंने पार न किया हो।"

यहीं एक और बात की ओर निर्देश कर देना अतिप्रसंग न होगा। वह यह कि शुक्ल जी के संस्कृत प्रेम का आरंभ भी यहीं से (**पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद** के संबंध से) समझना चाहिए, और प्रतीत तो ऐसा होता है कि ये प्रकृति का यथार्थ चित्रण करनेवाले संस्कृत काव्यों, यथा, **वाल्मीकीय रामायण', 'कुमार-संभव', 'मेघदूत' 'उत्तररामचरित'** आदि पढ़ने के लिए ही संस्कृत की ओर झुके।

प्रकृति-दर्शन के लिए शुक्ल जी का पर्यटन अथक होता था। 'मेघदूत' में वर्णित प्राकृतिक प्रदेशों की यात्रा तक करने ये निकले थे। ये प्रायः वर्षा ऋतु में विंध्याचल घूमने जाते थे और नए-नए प्राकृतिक स्थलों के दर्शन की कामना रखते थे। इससे इनके प्रकृति-संबंधी ज्ञान में अभिवृद्धि होती थी और अन्य बातें भी ज्ञात होती थीं। यहाँ एक छोटी-सी घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ, जो पूज्य **पं० शिवनाथप्रसाद मिश्र** से विदित हुई है। एक बार शुक्ल जी हिंदी विभाग के साथ विंध्याचल का पर्यटन करने गए थे। एक दिन की यात्रा में वे ऐसे स्थल पर पहुँचे जहाँ मेंहदी का जंगल लगा था। इसे देखकर शुक्ल जी ने कहा कि कदाचित् मेंहदी भारतीय वस्तु है (इसके पहले ये यह समझते थे कि मेंहदी भारत में यवनों के साथ फारस से आई) और गुरुदेव **पं० केशवप्रसाद मिश्र** से पूछा कि मेंहदी को संस्कृत में क्या कहते हैं। पंडित जी ने छूटते ही उत्तर दिया—"मेंधिका नखरंजिनी मैंने किसी संस्कृत-कोश में देखा है, कोश का नाम नहीं स्मरण आ रहा है।" मेंहदी के उस जंगल का नाम 'मेंधिकाटवी' रखा गया। इस घटना के उल्लेख का अभिप्राय यही है कि ये प्रकृति के वन-खंडों में घूम-घूमकर अपनी संस्कृति आदि के विषय में भी बहुत-सी बातें अवगत किया करते थे।

शुक्ल जी ने अपने बँगले के अहाते में ब्रज-मंडल की सीमा में स्थित

आगरे से कदंब और करील लाकर लगाया था, जो अब भी विद्यमान हैं। इनका यह नित्य का नियम था कि अपराह्न में चाय पीने के पश्चात् ये अहाते में लगे फूलों के पौधों के पास जाते और उनमें न जाने किस रहस्य का दर्शन कर ढंग से उनसे वार्तालाप करते देखे जाते। जिन शुक्ल जी का प्रेम व्रज-मंडल के ही कदंब और करील से था और जो फूलों में भी किसी रहस्य का दर्शन करते थे उनकी भावुकता सहज ही बोधगम्य है।

शुक्ल जी को प्रकृति का ज्ञान भी विलक्षण था। प्रकृति की वस्तुओं के एक-एक अंग से परिचित थे। कभी-कभी फूलों के अंगों को ये वैज्ञानिक की भाँति अलग-अलग करके समझाते थे। किसी भी जाति के गुलाब को ये पहचान सकते थे। प्रकृति से संबद्ध इनकी दो-एक और बातें हैं, जिनका प्रभाव इनके काव्य-सिद्धांत पर भी पड़ा है। वह यह कि ये प्रकृति के मधुर, कोमल और सुंदर रूपों के ही प्रेमी नहीं थे, प्रत्युत उसके विकट, भयंकर, टूटे-फूटे, उजड़े रूपों में भी रमते थे। इसके अतिरिक्त ये प्रकृति के प्रकृत रूपों में ही सौंदर्य का शुद्धस्वरूप मानते थे, कटे-छँटे रूपों में नहीं, ये वन के सौंदर्य के प्रेमी थे, उपवनों को चाहते थे, अमीरों के उन बाग-बगीचों को नहीं, जिनमें पौधों को कतरकर मोर, हाथी, ऊँट या घोड़े बनाए जाते हैं।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि शुक्ल जी में प्रकृति-प्रेम का बीज बाल्य-काल से ही विद्यमान था और वही क्रमशः अंकुरित-पल्लवित होता गया; बात यहाँ तक पहुँची कि उसे लेकर इन्होंने काव्य-सिद्धांत तक स्थिर किए।

( ८ )

यथास्थान हमने देखा है कि शुक्ल जी के जीवन-प्रवाह से किन्हीं ऐसे व्यक्तियों का संस्पर्श हुआ जिनसे प्रभावित हो इनकी जीवन-धारा किन्हीं विशिष्ट मार्गों पर बही। तात्पर्य यह कि शुक्ल जी किन्हीं ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आए जिनसे ये प्रभावित हुए। ऐसे व्यक्तियों को इन्होंने भी प्रभावित किया, इसमें संदेह नहीं; प्रभावित तो इन्होंने अपने पिता को किया, इसे हम देख चुके हैं। ऐसे व्यक्तियों में **श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' श्री केदारनाथ पाठक, श्री रामगरीब चौबे** का उल्लेख किया जा चुका है। शुक्ल जी ने 'प्रेमघन की छाया-स्मृति' में अपने मित्रों में श्री **उमाशंकर द्विवेदी** और

**श्री भगवानदास हालना** का भी नाम लिया है। **श्री उमाशंकर द्विवेदी** जिमनास्टिक के अध्यापक मिर्जापुर और काशी दोनों स्थानों में थे। वे बहुत ही बलवान् थे। कालांतर में श्री **काशीप्रसाद जायसवाल** और शुक्ल जी में कुछ सैद्धांतिक झगड़ा हो गया था। यह झगड़ा बाद में वैयक्तिक हो गया और अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गई थी। ऐसी अवस्था में द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की जान बचाई थी। यह घटना सं० १९६०–६२ के आस-पास की है। जायसवाल जी तथा शुक्ल जी के वाद-विवाद का उल्लेख आचार्य **महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने भी **'सरस्वती'** (भाग ६, संख्या १२, दिसंबर १९०५, विविध विषय, पृष्ठ ४५३) में किया है।

जैसा कि शुक्ल जी ने लिखा है श्री भगवानदास हालना इनके आरंभिक मित्रों में से हैं। शुक्ल जी में और हालना जी में प्रायः शास्त्र, साहित्य और भक्ति की चर्चा होती थी। ये दोनों मित्र राम-भक्ति की ओर विशेष झुके थे, अतः वार्तालाप के सिलसिले में इनमें भक्ति के प्रसंग बराबर उठा करते थे।

शुक्ल जी अपने गाँव के एक श्री **बलभद्र सिंह** से बहुत ही प्रभावित हुए थे। उनका नाम 'हृदय का मधुर भार' में भी आया है। वे डिपुटी कलक्टर थे। उनके संयम, उनके पौरुष, उनकी सहनशीलता, उनकी दानवीरता आदि सद्गुणों की अनेक कथाएँ हैं; जिनका यहाँ उल्लेख करना अतिप्रसंग होगा। इतना ही कह देना अलम् है कि वे शुक्ल जी की दृष्टि में आदर्श क्षत्रिय थे। शुक्ल जी को इस युग में क्षत्रित्व उन्हीं में मिला।

वे पक्के विद्या-व्यसनी भी थे। वे पुराण के गहरे पंडित थे। परंतु उनके विचार कुछ पुराने ढंग के थे और शुक्ल जी नवीन और प्राचीन दोनों पर दृष्टि रखते थे। रमईपट्टी में ऐसे ही लोगों के निवास करने के कारण शुक्ल जी कहा करते थे कि वहाँ सत युग है। अपने पिता आदि के समय को द्वापर करते थे और अपने समय को कलि युग।

हमने शुक्ल जी के एक मित्र श्री **रामेश्वरनाथ शुक्ल** का उल्लेख किया है। यह भी कहा है कि वे लेखक और कवि भी थे। वे बहुत ही हाजिर-जवाब थे। शुक्ल जी को प्रत्युत्पन्नमति व्यक्ति बहुत प्रिय थे, क्योंकि ये भी अवसर पड़ने पर कभी इससे चूकते न थे। शुक्ल जी में हास्य, व्यंग्य और

विनोद की जो प्रवृत्ति थी उसका मूल इनका प्रत्युत्पन्नमतित्व ही है। शुक्ल जी की हाजिरजवाबी के भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यहाँ एक का ही उल्लेख किया जा रहा है। **'सरस्वती'** के 'भूतपूर्व संपादक कानपुर-निवासी श्री **देवीप्रसाद शुक्ल** ने एक बार कानपुर की चर्चा करते हुए कहा कि वहाँ धूल, धुआँ और धूर्त के सिवा और कुछ नहीं है। यह सुन शुक्ल जी बोले—'तो मुझे कानपुर जाकर सिर्फ धूल, धुआँ और देखना है।'

स्वर्गवास के कुछ ही दिनों पूर्व शुक्ल जी अयोध्या गए थे। वहाँ सरयू के किनारे एक याचक को इन्होंने 'साहब की टोपी ऊँची रहे! साहब की टोपी ऊँची रहे!' रटते सुना। ये उसके पास गए, उसे कुछ देकर कहा—"यदि तुम चाहते हो कि स्त्रियाँ भी तुम्हें कुछ दिया करें तो पास से जब किसी स्त्री को जाते देखो तब चट बोल उठो—'मेम साहब की जूती ऊँची रहे, मेम साहब की जूती ऊँची रहे।'

हमने देखा है कि शुक्ल जी के लिए जीवन में आत्मसंमान बहुमूल्य वस्तु थी। इसी की रक्षा के लिए इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ी थी। अलवर राज्य की नौकरी भी इसी की रक्षा के लिए छोड़ी। उनसे गुलामी नहीं हो सकती थी। अलवर राज्य की नौकरी का प्रसंग यह है। अलवर के महाराज **श्री जयसिंह** बहुत ही विद्वान् थे। वे बहुत ही प्रौढ़ अंगरेजी लिखते और बोलते थे। वे दर्शन के भी पंडित थे। इङ्गलैंड में उन्हें 'फिलासफर प्रिंस' (दार्शनिक राजा) कहा जाता था। उन्हें अपनी साहित्यिक जिज्ञासा के समाधान तथा अँगरेजी के भाषणों के अच्छे अनुवाद की सुव्यवस्था के लिए हिंदी-भाषा और साहित्य के अच्छे विद्वान् की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने अपने राज्य के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर **श्री रामभद्र ओझा**, एम० ए० से कहा कि हिंदी की साहित्यिक संस्थाओं तथा विश्वविद्यालय से हिंदी के अच्छे विद्वान् लाओ। ओझा जी दो प्रोफेसरों, दो वकीलों तथा एक पंडित **श्रीनारायण चतुर्वेदी** को ले गए। प्रोफेसरों में से एक शुक्ल जी भी थे। अलवर महाराज ने इन व्यक्तियों की योग्यता की परीक्षा के लिए दार्शनिक प्रश्न किए। शुक्ल जी ने ही उनके सभी प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दिया। अतः ४००) मासिक पर नियुक्त कर लिए गए।

परंतु एक मास तक ही ये वहाँ टिक सके। स्वतंत्रचेता शुक्ल जी वहाँ अधिक दिनों तक टिक भी नहीं सकते थे। दरबार में चूड़ीदार पायजामा, शेरवानी, सिर पर साफा और कमर में पट्टी बाँधकर जाना पड़ता था, जो शुक्ल जी को बेहद नापसंद था। महाराज के सामने चाहे किसी भी समय इनकी बुलाहट हो सकती थी। किसी भी वक्त फोन से ये बुला लिए जाते, कहा जाता—महाराज की **'विनयपत्रिका'** का एक पद नहीं लग रहा है, तुरत आइए। इसी प्रकार की फर्मायशें आती थीं, जिन्हें पूरी करने में शुक्ल जी असमर्थ थे। इस तरह की नौकरी से ये ऊब गए। एकबार कार्यवश महाराज के साथ काशी आए। यहीं इस नौकरी से इस्तीफा दे दिया और पुनः विश्वविद्यालय में पूर्ववत् कार्य करने लगे।

अलवर जाते समय महामना पं० **मदनमोहन मालवीय** ने शुक्ल जी से कहा था—"नीदर अलवर विल सूट यू नार यू विल सूट अलवर ( न अलवर ही आपके लायक है और न आप ही अलवर के लायक हैं ) मगर, खैर, जाइए।" मालवीय जी नहीं चाहते थे कि शुक्ल जी विश्वविद्यालय से जायँ। परंतु अर्थ-संकट के कारण शुक्ल जी मालवीय जी की बात काटकर भी अलवर गए। यह घटना सं० १९७९–८० के आस पास की है।

एक दिन घर में संयोगवश फटी धोती पहने शुक्ल जी पलंग पर बैठे थे। इनकी धर्मपत्नी ने फटी धोती को लक्ष्य कर विनोदवश कहा—"तुम अच्छी नौकरी तो करते नहीं, यहाँ ७५) पर जिंदगी बिता रहे हो।" यह सुन शुक्ल जी तुरत बोले—

चीथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखट पर
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।

( २ )

शुक्ल जी के व्यक्तित्व के विषय में दो-चार बातें और जान लेनी आवश्यक हैं, जिनकी इनके साहित्य पर छाप है। शुक्ल जी की प्रमुख शक्ति, जिसके कारण ये साहित्य-क्षेत्र में निखरे रूप में आए, इनकी गुण-दोष के संग्रह-त्याग की नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति थी। इनमें किसी वस्तु के गुण-दोष को पकड़ने की बड़ी ही तीव्र प्रज्ञा थी, और इसी शक्ति के कारण ये आलोचना

के क्षेत्र में इतने सफल हुए। यद्यपि शुक्ल जी ने साहित्य के सभी क्षेत्रों को आज-माया—क्या कहानी, क्या कविता, क्या अनुवाद, सभी प्रकार की रचनाएं प्रस्तुत कीं—पर आलोचना के क्षेत्रमें आकर ये जम गए। और इनके यहां जमाव का कारण यही गुण-दोष के विवेक की शक्ति थी।

गुण दोष-निरूपण या नीर-क्षीर-विवेक का सम्बन्ध बुद्धि-पक्ष से है। इससे यह न समझना चाहिए कि इनमें हृदय-पक्ष नहीं था। वह भी था उसके दर्शन कविता और आलोचना तथा निबंध में यत्र-तत्र बराबर होते हैं। पर शुक्ल जी का हृदय-पक्ष या उनकी भावुकता भी अनर्गल और निरर्थक नहीं है, वह भी नियंत्रित और सार्थक है।

शुक्ल जी का आलोचक के ही बाने मे प्रधान रूप से आने का एक कारण और है, और वह है इनका गम्भीर व्यक्तित्व। इनके गम्भीर—व्यक्तित्व की छाप इनकी रचनाओं पर लगी हुई है, प्रधानतः इनके निबन्धों तथा इनकी आलो-चनाओं पर। इस गांभीर्य के साथ ही इनमें एक गुण और था, जो इसका ठीक उलटा है, और जिसकी अच्छी छाप इनके साहित्य पर पड़ी है। यह गुण था इनकी हास्य-व्यंग्य और विनोद की प्रवृत्ति। आधुनिक युग में पाश्चात्य लेखकों के हास्य-विनोद की बड़ी प्रशंसा होती है, और गद्य-रचनाओं में इसकी बड़ी आवश्यकता समझी गई है। इसकी प्रशंसा करनेवालोंके सामने हम शुक्ल जी को भी रख सकते हैं, जिनका हास्य या व्यंग्य-विनोद गम्भीर तो होता ही था अर्थगर्भ भी होता था, फालतू शब्दव्यय और फालतू उमंगों का वहाँ लेश भी नहीं।

( १० )

अब शुक्ल जी के उन मूल विचारों पर भी सरसरी दृष्टि डाल लें, जिनका संनिवेश इनकी रचनाओं में मिलता है, जिन विचारों से इनकी रचनाएँ प्रभा-वित हैं। ऐसा करने के लिए हमें उन परिस्थितियों का तथा उन परिस्थितियों में प्रवाहित विचार-धाराओं का भी अवलोकन करना होगा जिनमें शुक्ल जी पूर्ण रूप से साहित्य-क्षेत्र में उतरे, क्योंकि किसी युग में प्रचलित किन्हीं विचारों से किसी व्यक्ति का बचा रहना सम्भव नहीं होता। यदि प्रत्यक्षतः नहीं तो परोक्षतः उनसे वह अवश्य प्रभावित होता है। इन परिस्थितियों तथा

विचार-धाराओं की अभिज्ञता के लिए पूर्वीय एवं पश्चिमीय विचारों को भी देखना होगा।

आज चारों ओर हाथ-पैर फैलाए इस बुद्धिवाद के युग ( एज आव इंटेरोगेशन ) का आरम्भ तभी से समझना चाहिए जब से यूरोप में विज्ञान (सायंस) या औद्योगिक युग ( इंडस्ट्रिलाईजेशन ) का आरम्भ हुआ। इस युग ने अपने प्रतिष्ठापन के लिए विगत सामंत-युग के समस्त आदर्शों का प्रतिवाद किया। वह संस्कृति जो प्राचीन जीवन पर आधृत थी बदलने लगी और उसके साथ ही जीवन की सब दिशाओं में परिवर्तन हुए। धार्मिकता ( यहां इससे आशय पोप और पादरियों के संघ बद्ध धर्म से है ) का प्रभाव घटा और सामन्तशाही का आकर्षण कम होकर क्रमशः मध्यवर्ग में केन्द्रित हुआ। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह युग मध्य वर्ग के उत्थान का था। काव्य और साहित्य का भी स्वरूप बदलने लगा। प्राचीन धार्मिक काव्य का आदर घट चला और नवीन भावनाएं तथा प्रतीक व्यवहार में आने लगे। इस युग ने व्यक्ति के प्रति व्यक्ति की कर्तव्य-भावना तथा उनमें पारस्परिक समता और स्वातंत्र्य की चेतना का उदय किया। वस्तुतः बुद्धिवादवश उदित इन चेतनाओं का फल ही अठारहवीं शताब्दी के अन्त (सन् १७८९) में फ्रांस की राज्यक्रांति थी, जो राजा द्वारा केवल समाजके उच्च वर्ग को प्रदत्त सुविधाओं के विरोध में साधारण जनता, विशेषतः मध्यवर्ग, के पक्ष-समर्थन को लेकर घटित हुई थी। इस क्रांति के मूल में स्थित प्रधान भावनाएँ दो थी—एक तो समष्टि रूप में स्वातन्त्र्य की भावना और दूसरी व्यष्टि रूप में स्वातन्त्र्य की भावना। इसने तुरन्त ही ऐक्य ( इक्वैलिटी ) भ्रातृभाव ( फ्रेटर्निटी ) तथा स्वातन्त्र्य ( लिबर्टी ) की घोषणा की। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि इस क्रांति में क्रांतिकारियों की दृष्टि समाज के उच्च या सामन्त वर्ग से हटकर मध्य वर्ग तक ही पहुंची थी, निम्न वर्ग तक नहीं। अथवा यह कहना कदाचित् अधिक संगत होगा कि सिद्धांतः पूर्ण स्वातन्त्र्य की घोषणा करनेवाली इस फ्रांसीसी राज्य क्रांति से मध्य वर्ग ने ही लाभ उठाया। शोषित या श्रमिक वर्गों में तब तक क्रांति की चेतना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

फ्रांस की इस राज्यक्रांति का प्रभाव यूरोप के प्रायः सभी बड़े-बड़े देशों

पर पड़ा। इसके आस-पास जितने साहित्यिक तथा दार्शनिक हुए सभी ने इसके सिद्धांतों से सहानुभूति प्रकट की और सभी इससे प्रभावित हुए। इस क्रांति के आगे-पीछे उत्पन्न साहित्यिक और दार्शनिक **कांट, हीगेल, स्पिनोजा, लाक, ह्यूम, मिल, स्पेंसर** सभी के साहित्य और दर्शन का मुख्य आधार विज्ञान-प्रसूत बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातंत्र्य आदि था तथा उनका लक्ष्य था विचारप्रणाली एवं संस्कृति का आपाततः कायाकल्प करना। इस नवीन संस्कृति के अगुवा ये दार्शनिक और विचारक मध्य वर्ग के उत्थान-काल के प्रतिनिधि हैं। इसके अतिरिक्त इन चिंतकों ने जो सामाजिक सिद्धांत स्थिर किए वे बुद्धिवाद तथा वैज्ञानिक युग से प्रभावित थे। अब तक **डारविन** का विकासवाद भी सब के संमुख आ गया था, जो आगामी बुद्धिवाद का ज्वलंत प्रेरक बन गया। इस वैज्ञानिकता तथा बुद्धिवाद के कारण जीवनव्यापी परिवर्तनों के साथ काव्य और कला के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। नई धाराएँ प्रवाहित हुईं और नए प्रतिमान ( स्टैंडर्ड ) निर्धारित हुए।

इस मध्यवर्गीय उत्थान-काल के दार्शनिकों में अनुसंधेय विषयों की भिन्नता चाहे जितनी हो और उनके वैयक्तिक विकास के अनुसार उनमें विचारों का चाहे जितना अंतर हो किंतु इतना तो स्पष्ट है कि उनकी विचार प्रणाली और उनके निरूप्य लक्ष्यों में बहुत दूर तक समता है। उन दार्शनिकों में से कोई सामाजिक और कोई राजनीतिक, कोई आर्थिक और कोई मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के विचार-विमर्श में प्रवृत्त हुए और कुछ इन व्यावहारिक क्षेत्रों से अलग रहकर विशुद्ध दार्शनिक ( स्पेकुलेटिव ) भूमि में ही विचरण करते रहे; किंतु उन सब के मूल में नवीन जीवन की प्रवृत्तियाँ और प्रेरणाएँ स्वभावतः कार्य कर रही थीं।

सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक जन को व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र माना। इस प्रकार सिद्धांत रूप में 'अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक हित' ( दि ग्रेटेस्ट गुड आव दि ग्रेटेस्ट नंबर ) का आदर्श प्रतिष्ठित हुआ। इसी से राजनीति में प्रजातंत्रात्मक प्रणाली का जोर बढ़ा और वह विचार-धारा प्रवर्तित हुई जो मध्य वर्ग की उदारता ( लिबरलिज्म ) और

मानवादर्शवादिता ( ह्यूमैनिटेरियनिज्म ) की द्योतक थी । प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र तो अवश्य रखा गया, पर स्वभावतः स्वातंत्र्य के साथ कर्तव्य या उत्तर-दायित्व का पक्ष भी बराबर बना रहा । इस प्रकार के लोकादर्शवाद की स्थापना के प्रमुख दार्शनिक **लाक. ह्यूम** और **मिल** थे । यहाँ हम पुनः स्मरण दिलाना चाहते हैं कि उनकी दृष्टि विशेषतः मध्य वर्ग पर थी । स्मरण रखना चाहिए कि यह नवीन जीवनोत्थान यूरोप में आरंभ हुआ और कुछ समय तक वहीं परिमित रहा । इसलिए युरोपीय देशों में तो यह नई जीवन-व्यवस्था सुख-समृद्धि और विकास की साधिका हुई, किंतु आगे चलकर यही यूरोपेतर देशों में यूरोप की साम्राज्य-स्थापना में भी सहायक हुई और इस प्रकार यह अपने मूल स्वरूप—'मानवता का स्वातंत्र्य'—से दूर जा पड़ी । क्रमशः यह यूरोप में भी औद्योगिक और मध्य वर्ग की गुटबंदी और उनकी अधिकार-लालसा बढ़ाने में योग देने लगी और अंत में व्यापक समाजिक संघर्ष का कारण बनी ।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत संपत्ति का भी आदर्श प्रतिष्ठित हुआ और व्यक्तिगत उद्योग के आधार पर व्यक्तिगत संपत्ति-संग्रह की भी प्रतिष्ठा मिली । यही भावना आगे चलकर संपत्तिवाद ( कैपिटलिज्म ) के रूप में परिणत हुई । इसका अनिष्टकर परिणाम यूरोप में तब तक नहीं उपस्थित हुआ था । वह कुछ काल पश्चात् हुआ, जिसके कारण **मार्क्स** के सामाजिक सिद्धांत सामने आए । इस व्यक्तिगत संपत्ति या पूँजीवाद की प्रधानता के कारण उस काल के कुछ साहित्यिकों तथा दार्शनिकों में आशावाद का स्वर ऊँचा था ।

किंतु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यहाँ व्यक्तिगत विचार-वैचित्र्य भी था और निराशावादी दार्शनिकता भी । निराशावादी दार्शनिकों में से एक तो था **शापेनहावर**, जो बौद्ध दुःखवाद का अनुयायी प्रतीत होता है, और दूसरा था **नीत्से**, जिसका सिद्धांत अतिमानवीय ( सुपर-ह्यूमन ) त्राता, रक्षक या संचालक के कठोर अनुशासन में ही सामाजिक विकास की संभावना देखता था । ये दोनों ही मूलतः निराशावादी दार्शनिक कहे जाते हैं और मध्यवर्गीय उत्थान की आशावादी सामान्य विचार-धारा के अपवाद से हैं ।

उन्नीसवीं शती में, विशेषतः इसके अंत और बीसवीं शती के आरंभ में, भारतवर्ष की भी वही परिस्थिति थी जो इस परिवर्तनकालीन यूरोप की थी। अँगरेजी शिक्षा की अच्छी व्यवस्था हो गई थी। यहाँ के उच्च वर्ग और मध्य वर्ग भी उसकी चकाचौंध से आकृष्ट होकर उसकी ओर तेजी से बढ़ रहे थे। पश्चिम के विचारों का आगमन भी पूर्व में बड़े जोरों पर था।

इस समय के साहित्यिकों, राजनीतिज्ञों और समाजसेवियों की दृष्टि भी नवीन परिस्थिति से अनुप्रेरित हुई। भारतीय स्थिति यूरोपीय स्थिति से कई रूपों में भिन्न भी थी। यहाँ की जाति-संस्था या वर्णाश्रम-संस्था के अपने अलग वर्ग थे, जिनके साथ नवीन स्थिति से उत्पन्न औद्योगिक वर्गों से खींचतान भी चलती रही। यह संघर्ष यूरोप में इतना गहरा नहीं था। दूसरी भिन्नता यह थी कि भारतवर्ष में विदेशी शासन बाहर से आकर प्रतिष्ठित हो गया था, जिसने बहुत अंशों में एकदम नई समस्याओं की सृष्टि की और यहाँ की राष्ट्रीय गतिविधि को यूरोपीय गतिविधि से भिन्न एक दूसरे ही धरातल पर ला खड़ा किया। तथापि जहाँ तक युग-चेतना या युग-संस्कृति का प्रश्न है, भारतवर्ष में भी मध्यवर्गीय उत्थान (परतंत्रता और प्रादेशिक सीमा के अंतर्गत) और बुद्धिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। हमारे देश में 'राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना हुई, जिसमें स्वतंत्रता-प्रेमी मध्यवर्ग का आरंभ से ही प्राधान्य रहा। क्रमशः उसके संचालक **तिलक** और **गाँधी** हुए। शिक्षा, समाज, राजनीति आदि सब का संचालन मध्य वर्ग के हाथों में था। **स्वामी दयानंद** धार्मिक जटिलताओं और जाति-भेद के विस्तारों आदि के विरुद्ध आंदोलन उठाकर तथा कतिपय समाजिक परिवर्तनों का प्रचार करके हिंदूजातीय जीवन की प्रस्तुत स्थिति को सँभालने में संलग्न हुए। बंगाल में ब्राह्मसमाज तथा अन्य प्रांतों में भी इसी से मिलती-जुलती संस्थाएँ और व्यक्ति प्रादुर्भूत हुए, जिन्होंने समाजिक जीवन में समयोपयोगी परिष्कार का कार्य किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अभी तक लोगों की दृष्टि उच्च वर्ग तक ही आई थी, यह समय भी यूरोप की भाँति मध्यवर्ग के उत्थान का था।

भारतीय समाज की यही अवस्था थी। भारतीय साहित्यकार भी इसी समाज के प्राणी थे और इन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे। आरंभ में हम

**भारतेंदु** जी का उल्लेख कर चुके हैं। उन्हें नवीन युग का प्रथम साहित्यिक नेता माना जा सकता है। उनकी चेष्टा साहित्य की सभी दिशाओं में नवीनता लाने की थी। किंतु उनकी वह चेष्टा स्वभावतः आरंभिक ही थी। उसमें तब तक प्रौढ़ता नहीं आई थी। भारतेंदु जी द्वारा प्रवर्तित नवीन आंदोलन इसी से परिचित-क्षेत्र में ही फैल सका। उसके समाजव्यापी प्रसार का अवसर तब आया जब **द्विवेदी** जी क्षेत्र में आए और पत्र-पत्रिकाओं का विस्तृत प्रचलन हुआ।

शुक्ल जी का कार्य द्विवेदी जी के समान विस्तृत नहीं, पर अधिक गंभीर और विशद अवश्य था। इन्होंने सर्वप्रथम नवीन विचार-धारा को सुशृंखल स्वरूप प्रदान किया। इनका क्षेत्र प्रधानतः साहित्यिक था। अतः इन्होंने **तुलसी, सूर** और **जायसी** जैसे महाकवियों के काव्य को इस ढंग से उठाया और ऐसी विवेचना की जो नवीन होते हुए भी उन प्राचीन कवियों के प्रति अत्यंत उदार थी। इस प्रकार शुक्ल जी ने प्राचीन काव्य और उसमें व्यक्त संस्कृति को समादर की वस्तु बनाकर अपार लाभ पहुँचाया।

विचारों या सिद्धांतों के क्षेत्र में शुक्ल जी की दृष्टि सदैव बुद्धिवादी रही है। ये बुद्धि की तुला पर तौलकर तब किसी सिद्धांत की स्थापना या उसकी मान्यता ग्रहण करते थे। इसी प्रवृत्ति के कारण हम देखते हैं कि ये 'विकासवाद' के सिद्धांत को मानते हैं। इसका निर्देश इनके साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है। इनके मतानुसार सृष्टि का विकास क्रमिक रूप से हुआ, जो एक बुद्धिसंगत बात है। ये शुद्ध भारतीय पंडितों की भाँति यह नहीं मानते कि आरंभ में ही ईश्वर ने सर्वरूपेण पूर्ण तथा प्रौढ़ सृष्टि का सर्जन किया। इस विकासवाद का प्रभाव इनके सिद्धांतों पर पड़ा है। ये 'भक्ति' का विकास 'भय' की सीढ़ी पार करने पर ही बतलाते हैं। यह बात **'गोस्वामी तुलसीदास'** के 'लोकधर्म' शीर्षक निबंध में देखी जा सकती है।

शुक्ल जी के सिद्धांतों या विचारों में लोक-सिद्धांत या लोक-भावना सब से प्रमुख है। इस लोक-सिद्धांत को लेकर ही इनके साहित्य या काव्य-संबंधी सिद्धांत स्थिर हुए हैं। इन्होंने धर्म का स्वरूप भी इसी के आधार पर स्थिर किया है। ये उसी धर्म, उसी साहित्य, उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं, जिससे

अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक नैतिक लाभ और आनन्द प्राप्त हो सके। शुक्ल जी की लोकवाद की भावना बड़ी व्यापक, उदार और सर्वदेशीय है। ये उसका सम्बन्ध भारतवर्ष से ही नहीं प्रत्युत विश्व भर से जोड़ना चाहते हैं। इनके लोकवाद का अभिप्राय है सभी देशों के लोक और समाज की सुरक्षा तथा उसकी स्थिति और सम्यक् स्थापना। जिस रूप में इन्होंने लोकवाद का प्रतिपादन किया है उसको देखते हुए हम उस ( लोकवाद ) की दो श्रेणियाँ मान सकते हैं। एक श्रेणी तो वह किसी विशिष्ट देश के अन्तर्गत समाजरक्षा तथा संस्थापना से सम्बद्ध है और दूसरी श्रेणी वह जो एक देश द्वारा दूसरे देश की रक्षा तथा संस्थापना से संबद्ध है। अभिप्राय यह कि इनका लोकवाद उत्तरोत्तर अपनी सीमा बढ़ाता चलता है। उसका सम्बन्ध किसी देश के समाज की रक्षा और स्थिति से चलकर किसी देश द्वारा दूसरे की रक्षा और स्थिति तक पहुँचता है। ये किसी देश के समाज की सुरक्षा तथा संस्थापना के अभिलाषी तो हैं ही, साथ ही एक देश द्वारा दूसरे देश की रक्षा तथा संस्थापना के भी इच्छुक हैं। और आज संसार में लोकवाद की इस भावना का अत्यन्ताभाव देख ये दुःखी होकर संसार के वणिक वृत्तिवाले तथा लोक की सुरक्षा तथा संस्थापना का ढोंग करनेवाले देशों पर व्यंग कसते हैं। इसका उदाहरण इनके निबन्धों में देखा जा सकता है। विशेषतः उन निबंधों में जो मनोविकार पर लिखे गये हैं, जैसे 'भय' शीर्षक निबंध में।

जो व्यक्ति गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्ण धर्म की श्रेणी पर क्रमशः दृष्टि रखता हुआ अन्तिम श्रेणी के धर्म का—विश्वधर्म का—पालन करता दिखाई पड़ता है वही 'पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम' है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक या विश्व का सेवक ही इनकी दृष्टि में पुरुषोत्तम भगवान् है। 'मानस की धर्म-भूमि' के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

समाज की रक्षा और स्थिति के लिए इन्होंने किन्हीं प्रक्रियाओं का भी प्रतिपादन किया है। इनका कथन है कि समाज की रक्षा और स्थिति तभी सम्भव है जब हम अपने हृदय के कोमल तथा परुष दोनों भावों का उपयोग सम्यक रूप से यथास्थान करें: हम दीन-हीन पर दया करें और अत्याचारी का

'उपक्रम' में शुक्ल जी के जीवनवृत्त, उनके व्यक्तित्व और विचार के विषय में पाठकों का चंचु-प्रवेश कराने से हमारा तात्पर्य यही है कि इनके साहित्य के मनन के लिए सामान्य पीठिका प्रस्तुत हो जाय, जिससे प्रवाह के बीच किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो सके।

---

# आलोचना

He (critic) is an enemy of the false, the pretentious, the meretricious because he is intent upon clearing the way for what he conceives to be genuine and real [ वह ( आलोचक ) मिथ्या, छद्म और बाह्यरुचिरता का शत्रु होता है, क्योंकि वह ऐसा मार्ग प्रशस्त करने में प्रवृत्त होता है जिसे वह तात्त्विक और सत्य समझता है । ]—**आर० ए० स्कॉट-जेम्स्** प्रणीत **'दि मेकिंग ऑव लिटरेचर'**, पृ० ११३ ।

**साहित्यकार की सीमा**

यदि साहित्यकार की सीमा के अंतर्गत रसात्मक और रमणीय वस्तु उपस्थित करनेवाले कारयित्री-प्रतिभा-संपन्न केवल कवि ही लिए जायँगे तो वह शब्द संकुचित अर्थ का द्योतन करेगा । ऐसी दशा में 'साहित्य' के दूसरे प्रमुख कार्य 'प्रेषण' का कोई लक्ष्य ही न रहेगा । जब कोकिल के पंचम स्वर और मयूर के मनोहर नृत्य का सुनने और देखनेवाला ही न होगा तो उनके गाने और नाचने का प्रयोजन ही व्यर्थ हो जायगा । साहित्य के इसी कार्य की पूर्ति के लिए कवि के समानधर्मा सहृदय वा रसिक होते आए हैं और वे भी साहित्यकार की सीमा के ही अंतर्गत रखे गए हैं । कोई कृति प्रस्तुत करने के पश्चात् उसे औरों को दिखा-सुनाकर उनसे साधुवाद लेने की प्रवृत्ति मानव में आदि काल से ही रही है, और वह अब भी है । कवि अपनी रचना रसिक के समक्ष प्रकट करके उससे साधुवाद ( 'दाद' ), लेना चाहता है; इससे उसको शांति और तृप्ति मिलती है । उसके इस कार्य की सिद्धि 'सहृदय' द्वारा ही होती है । सहृदय द्वारा निर्दिष्ट अपनी त्रुटि पर भी शिष्ट कवि तृप्त ही होता है ।

विचार करने पर 'सहृदय' दो प्रकार के लक्षित होते हैं । एक वे जो किसी कृति में रमते अर्थात् उसका रस मात्र लेते हैं । उनमें काव्यानुभूति

सहृदय

की ग्राहक शक्ति तो होती है, पर वे कृति की विवेचना करने में असमर्थ होते हैं, वे दो-चार शब्दों में ही मुग्ध भाव से कृति का गुण-दोष कह डालते हैं, उसकी तह में पैठकर अनेक प्रकार से उसका अवगाहन करके वाणी द्वारा उसे भली भाँति व्यक्त नहीं कर पाते। दूसरे वे होते हैं जो ऐसा कर सकते हैं, और साहित्य में सच्चे सहृदय या आलोचक कहे जाते हैं। पहले प्रकार के सहृदय को चाहें तो हम केवल 'रसिक' कह सकते हैं। पर 'रसिक' और 'सहृदय' या आलोचक का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, बिना रसिक हुए, बिना रमने की कोरी स्थिति को पार किए आलोचक होना कठिन ही नहीं एक प्रकार से असम्भव है। अतः कहना यों चाहिए कि रसिक को ही जब सशक्त वाणी और परिष्कृत विवेचन-शक्ति मिल जाती है तब वह आलोचक हो जाता है। इस प्रकार साहित्यकार की सीमा के अंतर्गत कवि या कर्ता तथा उसका समानधर्मा सहृदय या आलोचक दोनों आएँगे और दोनों की रचनाएँ साहित्य की श्रेणी में रखी जाएँगी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि कवि का कर्म और सहृदय या आलोचक का कर्म दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। पर ऐसा होते हुए भी आलोचक में कवि के समान ही कुछ गुणों की अवस्थिति आवश्यक है, जिससे वह उसका समानधर्मा हो सके, जिससे वह सहृदय—कवि के समान हृदयवाला, हृद्गत भाव को समझनेवाला या भावुक (मैन आव् फीलिंग) कहला सके। आलोचक में भी कवि के समान ही कल्पना, अनुभूति आदि का होना आवश्यक है, जिससे वह कवि की परिस्थिति में पड़कर सहानुभूतिपूर्वक उसकी आलोचना कर सके। तात्पर्य यह कि कवि तथा सहृदय के कर्म भिन्न-भिन्न अवश्य है, पर आलोचक का कवि-सुलभ गुणों से युक्त होना भी अनिवार्य है, बिना इसके सफलता उससे निमुख ही रहेगी। कवि तथा आलोचक के अन्योन्याश्रित या समान गुण की अवस्थिति के कारण हमें कुछ साहित्यकार ऐसे दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें कवि-कर्म तथा सहृदय-कर्म दोनों विद्यमान होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसे ही व्यक्ति थे। उनमें कारयित्री शक्ति

साहित्यकार और सहृदय

( क्रीएटिव पावर ) के साथ ही भावयित्री वा आलोचनात्मक शक्ति ( क्रिटिसाइजिंग पावर ) भी थी। उन्होंने निबंध, कविता आदि की रचना तो की ही, आलोचनाएँ भी लिखीं। आलोचना के क्षेत्र में उन्हें विशेष सफलता मिली।

इस क्षेत्र में सफलता-प्राप्ति के लिए उनमें अनेक गुणों की संस्थिति भी थी। आलोचना उपज्ञात ( ओरिजिनल ) साहित्य, यथा काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि की भाँति मन की उमंग वा तरंगभरी हलकी ( लाइट ) स्थिति ( मूड ) का परिणाम नहीं होती। आलोचक कवि की भाँति अपनी मन की तरंग में कभी नहीं लिखता। जो आलोचक ऐसा करता है उसकी आलोचना वास्तविक आलोचना की सीमा से बाहर की वस्तु करार दे दी गई है। प्रभावाभिव्यंजक आलोचक ( इंप्रेसनिस्ट क्रिटिक ) आज उतने आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। आलोचना मन की गंभीर ( थाटफुल ) स्थिति का परिणाम है, जिसमें बुद्धि के साथ हृदय भी लगा चलता है, पर विषय ( आलोच्य ) का विवेचन सापेक्ष्य होने के कारण आगे-आगे बुद्धि ही चलती है, वही नेत्री होती है। अतः आलोचना बुद्धि-पक्ष-प्रधान कर्म है। आलोचना में इस बुद्धि-पक्ष की प्रधानता कुछ तो आलोचक के जन्मगत स्वभाव से संबंध रखती है, पर अधिकतर उसकी अध्ययनशीलता से ही संबद्ध होती है। बिना अध्ययन वा मनन के विवेचन वा गांभीर्य संभव नहीं। तात्पर्य यह कि आलोचना के लिए गांभीर्य, बुद्धि-पक्ष की प्रधानता तथा अध्ययनशीलता की परमावश्यकता है। 'उपक्रम' में आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व आदि पर विचार करते हुए उनमें हम इन गुणों की संस्थिति देख चुके हैं। वस्तुतः इन्हीं गुणों के कारण वे हिंदी के इतने बड़े आलोचक हो सके। उन्होंने अपनी विवेचन-शक्ति द्वारा हिंदी की आलोचना को सत्य और सुव्यवस्थित पथ पर पहले-पहल लगाया। इस प्रकार वे हिंदी की सच्ची आलोचना के प्रथम प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का कितना बड़ा महत्त्व है, यह उनके पूर्व की आलोचनागत परिस्थिति देखने से विदित होगा।

आलोचना और आचार्य शुक्ल

प्राचीन भारतीय साहित्य में भी आलोचना का रूप मिलता है, पर उसमें

उसका रूप कुछ दूसरे ही ढंग का था, आजकल का-सा न था। प्राचीन आलोचक किसी कवि पर अपने विचार सूत्र-रूप में, एकाध श्लोक में, व्यक्त कर देते थे। सूत्र-रूप में कथित विशेषताओं के पल्लवन द्वारा उद्दिष्ट कवि के विषय में अच्छा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था। लक्षण-ग्रंथों में भी कुछ-कुछ आलोचना मिलती है, जहाँ एक आचार्य दूसरे आचार्य द्वारा निर्मित लक्षण वा उद्धृत उदाहरण का खंडन-मंडन करता था। इस प्रकार की आलोचनाओं के अवलोकन से आलोचक के पांडित्य का पूरा परिचय अवश्य मिलता है, पर आलोचना का जो स्वरूप आज निर्धारित किया गया है उसकी सीमा में वह नहीं आ पाता। इस प्रकार की आलोचनाओं को हम चाहें तो 'पंडित-शैली' की आलोचना कह सकते हैं। यह तो व्यावहारिक आलोचना ( अप्लायड क्रिटिसिज्म ) की बात हुई, जिसका अच्छा स्वरूप यहाँ दृष्टिगत नहीं होता। पर भारत में सैद्धांतिक समालोचना ( प्योर क्रिटिसिज्म ) का स्वरूप बड़ा ही विस्तृत रहा है। इस क्षेत्र में उसका बड़ा महत्त्व है, जिसका मान आज भी होता है। भारतीय रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि के वाद सैद्धांतिक आलोचना के ही अंतर्गत आते हैं। आज की योरोपीय सैद्धांतिक आलोचना घूम-फिरकर भारतीय सैद्धांतिक आलोचनाओं के निर्णयों पर ही पहुँच रही है।

**भारतीय साहित्य में आलोचना**

हमारे यहाँ जो आलोचना आजकल दिखाई पड़ती है उसके स्थूल स्वरूप का आरंभ हिंदी में आज से लगभग ५०–६० वर्ष पूर्व हुआ था। इस क्षेत्र में भी, अन्य क्षेत्रों की भाँति, अँगरेजी का प्रभाव पड़ा। श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने अपनी 'समालोचना' (सं० १९५३) नाम्नी पुस्तिका में एक स्थल पर लिखा है—"हमारे देश में यह ( समालोचना ) प्राचीन समय में जैसी चाहिए वैसी न थी और अर्वाचीन काल में तो लुप्तप्राय हो गई थी पर अभी दस पंद्रह वर्षों में ही अँगरेजी ग्रंथ-कर्ताओं के परिचय से केवल कहीं कहीं इसका प्रारंभ हो चला है।"

**हिंदी में आलोचना**

हिंदी में 'सच्ची समालोचना' के प्रारंभकर्ता श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा श्री बालकृष्ण भट्ट हैं। इन लोगों ने सं० १९४२-४३ में इसका आरंभ पुस्तकालोचन के रूप में अपनी-अपनी पत्रिकाओं—'आनंद-कादंबिनी'

और 'हिंदी-प्रदीप'—में किया था। 'प्रेमघन' जी ने श्री गदाधर सिंह द्वारा अनूदित पुस्तक 'बंगविजयता' की आलोचना सं० १९४२ में की थी और भट्ट जी तथा 'प्रेमघन' जी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगता-स्वयंवर' की आलोचना अपनी-अपनी पत्रिकाओं में सं० १९४३ में। इन आलोचनाओं में यद्यपि आलोचकों की दृष्टि गुण-दोष-दर्शन मात्र पर ही है तथापि कहीं-कहीं विवेचन की ओर भी ये लोग उन्मुख हुए हैं। वस्तुतः आलोचना के लिए जिन विशेषताओं की आवश्यकता उस समय समझी जाती थी वे इनमें अवश्य थीं। आजकल मासिक पत्रिकाओं में पुस्तकों की जो आलोचनाएँ—प्रायः गुण-दोष-दर्शनवाली—दिखाई पड़ती हैं, उक्त जनों की आलोचनाएँ भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की थीं। आजकल की आलोचनाओं में कुछ लाघव (चुस्ती) होता है, उनमें कुछ विस्तार वा ढीलापन था।

आलोचना के प्रारंभकर्ताओं ने तो इस क्षेत्र में कुछ ठीक-ठिकाने का कार्य किया। पर आगे चलकर अग्निहोत्री जी की उक्त पुस्तिका तथा 'सरस्वती' में इस विषय में जो बातें लिखी प्राप्त होती हैं उनसे ज्ञात होता है कि इधर आकर आलोचना खिलवाड़ वा व्यवसाय के साधन की वस्तु समझी जाने लगी थी, और अब लोग आलोचना या तो किसी लेखक के प्रति रागवश करते थे या द्वेषवश। अग्निहोत्री जी लिखते हैं—"आजकल तो समालोचकगणों के सामान्यतः उद्देश्य द्वेषबुद्धि और मत्सर से, वा यों ही विनोदार्थ ग्रंथकर्ताओं का उपहास और उनकी फजीती करना है। यदि यह न रहा तो यह तो अवश्य ही रहता है कि हमारा नाम लोगों को विदित हो और उसी के साथ हमारी विद्वत्ता भी उन्हें प्रदर्शित हो।"—(समालोचना, पृ० २८)। 'सच्ची समालोचना' के दश वर्ष पश्चात् की आलोचना का यह स्वरूप है। 'सरस्वती' (भाग १, संख्या ९) में 'हम्मीर-हठ' की आलोचना करते हुए मिश्रबंधु (श्री श्यामबिहारी मिश्र तथा श्री शुकदेवबिहारी मिश्र) लिखते हैं—"बहुधा हमारे यहाँ के समालोचक महाशय कागज व छापे की प्रशंसा, तथा मूल्य पर अपनी अनुमति प्रकाश करके पुस्तक के साहित्य-संबंधी गुण-दोषों के विषय में या तो एकदम मौन ही धारण कर बैठते हैं, या यदि बड़ा ही साहस किया तो दो-एक अत्यंत प्रगट विषयों पर प्रायः प्रशंसा करके अपने को कृतकार्य मान लेते

हैं, और ग्रंथ में (विशेषकर यदि कुछ भी प्राचीन ग्रंथ हुआ) किसी प्रकार त्रुटि दिखाना तो पाप ही समझते हैं।" 'सरस्वती' की संख्याओं में सन् १९०-१९२१ के लगभग तक आलोचना के संबंध में जितनी बातें हैं, उनमें प्रायः इस प्रकार की अत्यधिक हैं। इन उदाहरणों के देने से मेरा तात्पर्य यही है कि हिंदी में आलोचना अपने आरंभिक रूप में केवल गुण-दोष-दर्शन के रूप में तो थी ही आगे चलकर उसमें अन्य अनेक छोटी बातें भी आ गई थीं, जिनका कुछ कुछ परिचय उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा प्राप्त हो जाता है। इससे यह न समझना चाहिए कि 'प्रेमघन' जी तथा भट्ट जी के समान आलोचनाएँ नहीं होती थीं; होती थीं, पर उनकी संख्या बहुत ही कम थी, और ऐसे आलोचक अपवाद स्वरूप थे। श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाएँ भी इसी समय निकल रही थीं, चाहे गुण-दोष का ही कथन उनमें रहता रहा हो, पर इस प्रकार की आलोचनाओं की अपेक्षा वे बहुत ही व्यवस्थित थीं।

यहीं एक बात और कहना है। अब तक जो आलोचनाएँ होती थीं, वे प्रायः किसी पुस्तक को ही लेकर, और ये आलोचनाएँ पत्रिकाओं में उनके संपादकों द्वारा ही की जाती थीं; अन्य व्यक्ति प्रायः बहुत ही कम आलोचना करते थे, या करते ही नहीं थे। इस प्रकार की आलोचनाएँ पत्रिकाओं में ही बिखरी पड़ी रहती थीं, पुस्तक-रूप में व्यवस्थित रूप धारण कर अलग वे तब तक नहीं आई थीं।

हिंदी में पुस्तक-रूप में आलोचना के आगमन का श्रीगणेश द्विवेदी जी की 'हिंदी कालिदास की समालोचना' से होता है, जो सन् १९०१ (सं० १९५८) में प्रकाशित हुई थी, और जिसमें "लाला सीताराम बी. ए. के कुमारसंभव, ऋतुसंहार, मेघदूत और रघुवंश भाषा विषयक विचार" थे। इसकी 'भूमिका' में द्विवेदी जी ने लिखा था—"जहाँ तक हम जानते हैं, हिंदी में आज तक एक भी इस प्रकार की काव्यालोचना पुस्तकाकार नहीं निकली। यह पहली ही है।" 'सरस्वती' (भाग २, संख्या १२) में इस पुस्तक के विषय में लिखते हुए श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने लिखा था—"हिंदी में द्विवेदी जी की उक्त कृति का नाम सुनकर केवल हिंदी वा संस्कृत के विद्वान् मात्र ही नहीं किंतु उपाधियुक्त लोगों के निम्नश्रेणिस्थ विद्वान् लोग भी आश्चर्यचकित होंगे,

इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं है। क्योंकि हिंदी में पुस्तकाकार समालोचनाओं का प्रकाशित होना आज दिन लों अभूतपूर्व है।"

द्विवेदी जी की आलोचनाओं को देखने से दो बातें लक्षित होती हैं। एक तो यह कि उनमें प्रायः गुण-दोष-दर्शन ही है; किसी-किसी में तो केवल गुण ही गुण और किसी-किसी में केवल दोष ही दोष का उल्लेख वा निर्देश मिलता है। दूसरी यह कि समालोचना नाम से प्रसिद्ध उनकी कुछ कृतियों का लक्ष्य केवल संस्कृत की रचनाओं का परिचय हिंदीवालों को देना है। ऐसी कृतियाँ सच्चे अर्थ में समालोचनाएँ कैसे कही जा सकती हैं।

द्विवेदी जी के पश्चात् श्री मिश्रबंधु, श्री पद्मसिंह शर्मा आदि की आलोचनाएँ संमुख आईं। इन लोगों ने समालोच्य कवियों की विशेषताओं पर दृष्टि अवश्य रखी, पर कुछ-कुछ पक्षपात की प्रवृत्ति के कारण इनके द्वारा दोष-दोष वा गुण-गुण का ही दर्शन हो सका। कवियों को छोटा-बड़ा प्रमाणित करनेवाली इनकी आलोचनाएँ शुद्ध समालोचना की श्रेणी में संभवतः नहीं रखी जायँगी! इन लोगों की अपेक्षा इन्हीं लोगों की शैली पर लिखी गई श्री श्रीकृष्णबिहारी मिश्र की आलोचना कवियों की विशेषताओं की परिचायिका तथा मार्मिक है। विवेचन की भी इनकी प्रवृत्ति कुछ प्रतीत होती है।

सैद्धांतिक अलोचना के क्षेत्र में बाबू श्यामसुंदरदास सर्वप्रथम अग्रसर हुए और उन्होंने विशेषतः पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर 'साहित्यालोचन' प्रस्तुत किया—लगभग सन् १९२०-२१ में।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अब तक आलोचना का प्रवाह अपने मूल स्थान से कुछ आगे अवश्य बढ़ गया था। गुण-दोष-निदर्शन से कुछ बढ़कर कवियों की विशेषताओं के निरूपण की प्रवृत्ति का आभास अवश्य मिलने लगा था। पर ऐसी आलोचनाओं की संख्या अँगुलियों पर गिनने योग्य ही थी। ऐसे एक ही दो आलोचक दिखाई पड़ते थे। अभी तक उस विवेचनात्मक वा विश्लेषणात्मक आलोचना का सच्चा स्वरूप नहीं दिखाई पड़ रहा था जिनमें समालोच्य कवि वा साहित्यकार की कृतियों की विशेषताओं का निरूपण उसके देश-काल की परिस्थिति को संमुख रखकर सहानुभूतिपूर्वक किया जाता है,

जिसमें कोई कवि छोटा-बड़ा नहीं करार दिया जाता, जिसमें आलोचक आलोच्य कवि कि आलोचना उसी के विचारों आदि को दृष्टि में रखकर करता है। हिंदी में उपर्युक्त प्रकार की विवेचनात्मक आलोचना का आरंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। उनकी तुलसी, सूर और जायसी की आलोचनाओं में आलोचना के इस स्वरूप के दर्शन हमें मिलेंगे।

**आचार्य शुक्ल का ऐतिहासिक महत्त्व**

आचार्य शुक्ल के ऐतिहासिक महत्त्व को और स्पष्ट करने के लिए एक बात और कहनी है। आज की शिष्ट आलोचना में किसी निर्धारित प्रतिमान (स्टैंडर्ड) द्वारा किसी कवि वा साहित्यकार को तौलना वा नापना अग्राह्य है। आज माना यह जाता है कि किसी कवि की कृति ही उसकी आलोचना का प्रतिमान है, कवि के विचारों, उसकी परिस्थिति को ही दृष्टि-पथ में रखकर आलोचना होनी चाहिए। बात तो ठीक है, पर कोई आलोचक किसी कवि व कृति पर विचार करते हुए अपनी रुचि (टेस्ट वा इंटरेस्ट) से पृथक् नहीं रह सकता, उसकी आलोचना में उसकी रुचि का संनिवेश यदि प्रत्यक्षतः नहीं तो परोक्षतः रहेगा ही, ऐसी रुचि जो उसके मन में घुली-मिली होती है। आलोचक की आलोचना से उसकी रुचि अलग नहीं की जा सकती*। आलोचक को आलोचना में तटस्थ रुचि (डिसइंटरेस्टेड इंटरेस्ट) रखने का परामर्श देने वाले भी उसकी स्वकीय रुचि का निर्देश करते ही हैं। इसी रुचि को लेकर समर्थ और शिष्ट रुचिवाला आलोचक अपने लिए आलोचना के कुछ सिद्धांत निर्धारित करता है और उसके ये सिद्धांत उसकी आलोचना के आधार होते हैं। इसी कारण सभी बड़े आलोचक साहित्य वा काव्य के मीमांसक भी होते हैं। वे साहित्य-सिद्धांत और आलोचना दोनों प्रस्तुत करते हैं। आचार्य शुक्ल इसी श्रेणी के आलोचक थे। उन्होंने आलोचना तो की ही, साथ ही काव्य वा साहित्य के सिद्धांत भी निर्धा-

* None the less, criticism, often precedes taste, and often follows it in such close neighbourhood that we often do not know which is which.—E. E. Kellett's *Fashion in Literature.*

रित किये, जिनका विचार यथास्थान होगा। उनके कुछ अपने काव्य-सिद्धांत हैं, जिनके आधार पर उनकी आलोचनाएं खड़ी हैं। शुक्ल जी हिंदी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने काव्य-सिद्धांत भी स्थिर किये और आलोचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इनके पहले कोई ऐसा आलोचक नहीं दिखाई पड़ता। इनके पूर्व जितने आलोचक हुए, थे उनकी आलोचना का आधार निजी नहीं था. वे प्रायः संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों में निर्धारित साहित्य-सिद्धांतों को दृष्टि पथ में रख-कर आलोचनाएँ प्रस्तुत करते थे। वे प्राचीन सिद्धांतों के प्रस्थान से चलकर लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे। आचार्य शुक्ल ने अपना प्रस्थान स्थापित किया और उसके अनुसार लक्ष्य की ओर चले। इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि आलोचना-क्षेत्र में शुक्लजी का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

ऊपर हमने देखा है कि श्रेष्ठ आलोचक साहित्य मीमांसक भी होता है, वह कुछ साहित्यिक-सिद्धात भी प्रस्तुत करता है, जिनमें उसकी रुचि प्रधान रूप से काम करती है। हम ने यह भी देखा है कि आलोचक के सिद्धांत उसकी आलो-चना के आधार होते हैं, वे ही उसकी दृष्टियाँ होती हैं, जिनसे वह आलोच्य पर विचार करता है। ऐसी स्थिति में आचार्य शुक्ल के साहित्य-सिद्धांतों के दर्शन करने के पश्चात् उनकी आलोचना के विषय में और कुछ कहना सुविधाजनक प्रतीत होता है।

प्रकृति वा ईश्वर द्वारा मानव को वरदान-स्वरूप जो अनेक वस्तुएँ मिलीं उनमें वाणी को सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए, जिसके द्वारा वह अपने
हृदय और बुद्धिगत भावों और विचारों को एक दूसरे पर
साहित्य–वाङ्मय तथा अनादि काल से प्रकट करता आ रहा है। वाङ्मय वा
विशुद्ध साहित्य साहित्य इसी वाणी का—इसके साथ यदि 'विशिष्ट' वा
'असामान्य' विशेषण लगा लिया जाय तो और अच्छा हो—
कंठानुकंठ और लिखित रूप में संचय है।

आजकल 'साहित्य' शब्द प्रधानतः दो अर्थों में चलता है। वह 'वाङ्मय' के पर्याय के रूप में भी प्रचलित है, जिसके अंतर्गत रचनात्मक और विवेचना-त्मक सभी विद्याएँ वा शास्त्र आ जाते हैं। इसका अर्थ 'शुद्ध साहित्य' भी लिया

जाता है, जिसकी सीमा के भीतर काव्य, नाटक, कथा, निबंध, आलोचना आदि आते हैं।

आचार्य शुक्ल यद्यपि 'शुद्ध साहित्य' क्षेत्र के व्यक्ति थे तथापि उन्होंने 'साहित्य' से 'वाङ्मय' ( शास्त्र ) तथा 'शुद्ध साहित्य' दोनों का अर्थ ग्रहण किया है। प्रतीत ऐसा होता है कि पहले वे 'साहित्य' से 'शुद्ध साहित्य' का ही अर्थ लेते थे, पर बाद में उसे 'वाङ्मय' का पर्याय मानने लगे। उन्होंने अपने 'साहित्य' ('सरस्वती', सन् १९०४) नामक निबंध में विज्ञान (शास्त्र) तथा साहित्य का भेद प्रदर्शित किया है, और आजकल 'साहित्य' ( वाङ्मय ) के गृहीत अर्थ की सीमा के अंतर्गत 'विज्ञान' भी आ सकता है। देखिए—"सारांश यह कि विज्ञान 'पदार्थ' या 'तत्त्व' का बोधक है और साहित्य 'कल्पना' और 'विचार' का; विज्ञान ब्रह्मांड-व्याप्त है और साहित्य का स्थान किसी एक व्यक्ति में। विज्ञान शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाता है, किंतु साहित्य में भाषा का सब से प्रशस्त प्रयोग है और अलंकार, मुहाविरा, वाक्य-रचना, माधुर्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमें संमिलित हैं। साहित्य भिन्न-भिन्न लोगों का भिन्न-भिन्न प्रकार से भाषा को काम में लाना है।" इस उद्धरण से लक्षित यह होता है कि यहाँ 'साहित्य' से उनका तात्पर्य 'शुद्ध साहित्य' से है। आगे चल कर वे 'साहित्य' से 'वाङ्मय' का भी अर्थ लेते हैं। इंदौरवाले भाषण के आरंभ में वे कहते हैं—"साहित्य के अंतर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।" इस उद्धरण का 'अर्थ-बोध' शब्द विशेष महत्त्व का है। इसके आगे उसी 'भाषण' में शुक्ल जी कहते हैं—"अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित्त, आप्तोपलब्ध और कल्पित।" इसमें अनुमित तथा आप्तोपलब्ध अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान तथा इतिहास है. कल्पित अर्थ का क्षेत्र काव्य है। 'साहित्य' ( या शुद्ध साहित्य ) के अंतर्गत दर्शन-विज्ञान तथा इतिहास नहीं आते. वे 'वाङ्मय' के अंतर्गत हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इधर वे 'साहित्य' को 'वाङ्मय का पर्याय मानते थे।

पर 'साहित्य' को 'वाङ्मय' का पर्याय मानने का भी उनका कोई-न-कोई उद्देश्य

है। वे 'वाङ्मय' के अन्तर्गत आनेवाले विषय को भी विशेष परिस्थिति में 'शुद्ध साहित्य' के भीतर ले लेते हैं। ऐसा करना उचित भी है, अन्यथा साहित्य तथा अन्य शास्त्रों का पारस्परिक संबंध ही व्यर्थ हो जायगा। वे कहते हैं—"पर भाव या चमत्कारसमन्वित होकर ये तीनों (प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध) प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते हैं।"—(इंदौरवाला भाषण, पृ० ३)। अभिप्राय यह कि दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदि भी साहित्य (काव्य) के अंतर्गत आ सकते हैं, यदि उनकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हो कि वे भावोन्मेष करें, तथा चमत्कार वा अनुरंजनयुक्त हों। यदि दर्शन, विज्ञान आदि केवल अर्थ-बोध कराएँगे, केवल जानकारी कराएँगे, जैसा कि वे करते हैं, तो वे साहित्य के अंतर्गत न आ सकेंगे। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"अर्थ-बोध कराना मात्र, किसी बात की जानकारी कराना मात्र, जिस कथन या प्रबंध का उद्देश्य होगा वह साहित्य के भीतर न आएगा, और चाहे जहाँ जाय।"—(इंदौरवाला भाषण, पृ० ३)।

'वाङ्मय' तथा 'साहित्य' पर किये गये विचार द्वारा साहित्य के स्वरूप का भी कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्य शुक्ल ने साहित्य की परिभाषा बड़े ही स्पष्ट और सीधे शब्दों में की है। वे कहते हैं—

**साहित्य का स्वरूप**

"'विचार' और 'कल्पना' भाषा द्वारा प्रकट किए जाते हैं। यही साहित्य है। पदार्थ साहित्य नहीं, पदार्थों का शब्द-रूपी संकेत भी साहित्य नहीं और केवल शब्द भी साहित्य नहीं—'विचार' का नाम साहित्य है। ये विचार भाषा द्वारा प्रकट किये जाते हैं।.....और 'विचारों' से तात्पर्य कल्पना, अनुभव, विवेचना तथा अन्यान्य मन की क्रियाओं से है।"—(साहित्य, 'सरस्वती' सन् १९०४)। वस्तुतः साहित्य जगत्-स्थित मानव के हृदय तथा बुद्धि से संबद्ध आलंबन और विषय की साहित्यकार द्वारा अभिव्यंजना ही है। साहित्यकार इस अनेक रूपात्मक जगत् में रहकर, इसकी बातों को अपने भीतर ले जाकर, पुनः उन्हें बाहर प्रकाशित करता है, वाणी द्वारा। वाणी द्वारा प्रकाशित यही अभिव्यक्ति साहित्य की संज्ञा धारण करती है। इस प्रकार आचार्य शुक्ल साहित्य को 'कल्पना' और 'विचार' की वाणीगत अभिव्यक्ति मानते हैं। अब बात रही

यह कि यह वाणी या भाषा किस प्रकार की हो। इस पर यथास्थान विचार होगा। इस युग का शिष्ट अँगरेज समालोचक एबरक्रांबी भी साहित्य को 'विशुद्ध अनुभव' (प्योर एक्सपीरिएंस) की वाणीगत अभिव्यक्ति मानता है*।

साहित्य के संक्षिप्त परिचय के पश्चात् यह भी देख लेना चाहिए कि विधान-पद्धति की दृष्टि से कितने प्रकार की रचनाएँ इसके अंतर्गत आती हैं। इंदौर वाले भाषण में साहित्य पर विचार करने के पश्चात् आचार्य शुक्ल ने रचना-शैली को दृष्टि में रखकर उसके (साहित्य के) भीतर काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य और निबंध को रखा है। निबंध के ही भीतर उन्होंने साहित्यालोचन भी ले लिया है। उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही हम उक्त विषयों पर आचार्य शुक्ल के मत की विवेचना करेंगे। सर्वप्रथम हमारा विवेच्य विषय काव्य आता है।

**आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांतों के आधार**

आचार्य शुक्ल के काव्य सिद्धांतों पर विचार करने के पूर्व उन विचारों का भी उल्लेख कर देना आवश्यक और सुविधाजनक होगा जिनके आधार पर ये काव्य-सिद्धांत स्थित हैं। 'उपक्रम' में कहीं कहीं उनका (विचारों का) उल्लेख हो भी चुका है।

आचार्य शुक्ल के सभी काव्य-संबंधी सिद्धांतों या विचारों के मूल में यह अनेकरूपात्मक गोचर जगत् तथा जीवन निहित है, वे काव्य को जगत् और जीवन से परे या दूर की वस्तु नहीं मानते। उनके विचारानुसार काव्य में इन्हीं के अंतर्गत घटित घटनाओं तथा स्थित वस्तुओं का चित्रण होता है। जगत् से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य उसकी केवल उसी सीमा से नहीं है जिसके अंतर्गत आज मानव-संबद्ध वस्तु-व्यापार विशेष रूप से दौड़-धूप किया करते हैं, प्रत्युत उसकी परिमिति में वह भाग भी आता है जो आज मानव द्वारा किन्हीं अंशों में व्यक्त है। वह भाग है प्रकृति। 'उपक्रम' में हम आचार्य

* So literature is the expression of pure experience which is communicable in language and which can be satisfactory simply because it has been communicated.

—Lascelles Abercrombie M. A.'s. *Principles of Literary Criticism.*

शुक्ल के प्रकृति प्रेम पर विचार कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांत चेतन को लेकर तो स्थिर किये ही गये हैं, साथ ही जड़ प्रकृति—कुछ दार्शनिकों ने प्रकृति को चेतन भी कहा है—को भी लेकर। जगत् (या प्रकृति) के अंतर्गत वह शून्य लोक भी आता है जहाँ सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, ग्रह आदि संस्थित हैं। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद या रहस्यभावना पर विचार करते हुए इस ग्रहलोक का ही विशेष आधार लिया है।

काव्य का शुद्ध लक्ष्य उच्च नीच सभी वर्गों के मनुष्यों को आनंद की अनुभूति कराना होता है, इस दृष्टि से तो काव्य में उच्च या नीच वर्ग का प्रश्न ही नहीं उठता। पर आचार्य शुक्ल ने काव्य संबंधी सिद्धांतों की दृष्टि से जिस वर्गगत जीवन या मनुष्य पर ध्यान रखा है वह मध्यम या निम्न वर्ग का जीवन है, क्योंकि साधारण या सामान्य जीवन इसी वर्ग का होता है, और इसी जीवन की अनुभूति अत्यधिक मानवों को रहती है।

तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांत या विचार जगत और जीवन के आधार पर स्थित हैं। सिद्धांत का आधारभूत जीवन सामान्य या साधारण है, और जगत चर-अचर या जड़ चेतनमय।

आचार्य शुक्ल हृदय स्थित कोमल तथा परुष दोनों भावों की सार्थकता के समर्थक हैं, वे इन दोनों प्रकार के भावों की उपयोगिता मानते हैं। इसलिए वे काव्य में इन दोनों के चित्रण पर जोर देते हैं। केवल कोमल भावों की ही व्यंजना को, जो प्रायः दृष्टिगत होती है, वे अच्छा नहीं समझते, उनके विचारानुसार कोमल के साथ ही परुष भावों की व्यंजना भी होनी चाहिए। काव्य में कोमल तथा परुष दोनों भावों की स्थिति की आवश्यकता पर दृष्टि रखकर ही वे इस क्षेत्र में 'सामंजस्यवाद' के समर्थक हैं।

इसी संबन्ध में एक बात और कहना है। वह यह कि आचार्य शुक्ल काव्य में चमत्कारवाद के पक्षपाती नहीं थे। वे सीधी सादी वस्तु या भाव व्यंजना के ही सदैव समर्थक रहे। काव्य में असाधारण नहीं, साधारण ही विशेष रूप से अपेक्षणीय है, क्योंकि साधारण में ही असाधारण की स्थिति है। आचार्य शुक्ल इसी मत के अनुयायी थे। इसी विचार के कारण उन्होंने चमत्कारवादियों को सर्वत्र निम्न कोटि में रखा है।

कर्ता कवि तथा उसकी कृति काव्य में अन्योन्याश्रित संबंध है, दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। अतः आचार्य शुक्ल ने काव्य पर विचार करते हुए कवि के गुण तथा कर्म का भी निर्देश यत्र-तत्र किया है। कवि सामान्य मानव-समाज के कुछ ऊपर उठा हुआ विशेष प्राणी होता है। 'विशेष प्राणी' इस दृष्टि से कि उसके हृदयगत धर्म सामान्य से ऊँचे होते हैं। सभी मनुष्यों के पास हृदय होता है, सभी मनुष्यों के हृद्गत भाव यथावसर अपना-अपना कार्य करते हैं, सभी मनुष्यों में अनुभूति होती है, पर कवि के हृदय के भाव अन्यों की अपेक्षा अपना कार्य कुछ तीव्रतापूर्वक संपादित करते हैं। कवि की अनुभूति भी अन्यों की अपेक्षा तीव्र होती है। तात्पर्य यह कि इन भावों और अनुभूतियों को लेकर ही कवि अन्य मानवों से विशिष्ट गिना या समझा जाता है। वह अधिक या विशेष भावुक या अनुभूतिशील होता है। आचार्य शुक्ल ने कवि के लिए इन्हीं गुणों का होना विशेष रूप से माना है। वे कहते हैं—"भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है।"-( इतिहास, पृ० ३६५) अन्य स्थलों पर भी उन्होंने कवि में इसी गुण का होना कहा है—"कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७०)

**कवि का रूप**

भावुकता और अनुभूति हृदय के शुद्ध व्यापार हैं, इनके साथ ही कवि में एक और गुण का होना आचार्य शुक्ल ने आवश्यक माना है, वह है कल्पना। कल्पना का संबंध हृदय तथा बुद्धि दोनों से है। वह हृदय की प्रेरणा पर तो चलती है, पर सुचारु गति उसे बुद्धि से मिलती है। कल्पना कवि की विशेष सहायिका होती है, यही उसकी अनुभूति या भावुकता को उच्च-नीच भूमि पर ले जाती है, जिससे कवि अपने कर्म की पूर्ति में सफल होता है। कल्पना, अनुभूति या भावुकता से संपन्न होते हुए भी कवि गूँगा बना रहेगा, यदि वह इनके द्वारा प्रस्तुत वस्तु या भाव को व्यक्त करने के लिए भाषा से अनभिज्ञ होगा। इसलिए कवि को भाषा की भी आवश्यकता होती है। आचार्य शुक्ल ने कहा है—"अतः हम कह सकते हैं कि कल्पना और भावुकता कवि के लिए दोनों अनिवार्य हैं। भावुक जब कल्पनासंपन्न और भाषा पर अधिकार रखने-

वाला होता है तभी कवि होता है"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७१ )।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि कवि में असामान्य या विशिष्ट हृदय की स्थिति होती है, जिसके कारण उसकी भावुकता या अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। साथ ही वह कल्पनाशील भी होता है। इन गुणों के कारण कवि में दो विशेषताएँ आती हैं, भावुकता या अनुभूति की तीव्रता होने से वह इसके आलंबन या विषय की शीघ्रता से ग्रहण करता है और साथ ही कल्पना द्वारा भाव की गहरी या हलकी अनुभूतियों में अपने को तुरंत ही पहुँचा देता है। इस प्रकार वह अन्य की परिस्थितियों में अपने को शीघ्र ही ढाल पाता है, अन्य के सुख-दुःख का अनुभव स्वयं कर पाता है: उसका हृदय या अंतःकरण विशाल हो जाता है। आचार्य शुक्ल ऐसे ही विशाल अंतःकरणवाले को प्रकृत कवि कहते हैं—"प्राप्त प्रसंग के गोचर-अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।"—( गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १७२-७३ )। कवि के संबंध में ऐसी ही बात उन्होंने प्रायः सभी स्थलों पर कही है—"कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भावका अनुभव करे।"—( वही, पृ० ९३ )।

हृदय की इस विशालता या व्यापकता से कवि में लोक सामान्य हृदय के योग्य आलंबन निर्णीत करने की शक्ति भी आ जानी चाहिए, उसे इस बात का ज्ञान हो जाना चाहिए कि कौन-सा आलंबन ऐसा होगा जिसके प्रस्तुत करने से सभी का हृदय उसमें लीन हो सकेगा। इस प्रकार के आलंबन के चुनाव की क्षमता रखनेवाले को आचार्य शुक्ल सच्चा कवि कहते हैं, क्योंकि रस-दशा इसी पथ पर चलकर प्राप्त हो सकती है जो काव्य का परम लक्ष्य है। वे कहते हैं—"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"—( चिंतामणि, पृ० ३०८-९ )।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में प्रकृति का क्या स्थान है यह हम देख चुके हैं। वे कवि के लिये प्रकृति का निरीक्षण आवश्यक बतलाते हैं—"प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिए कवि की आँखें खुली रहनी चाहिएँ; उसका मृदु संगीत सुनने के लिए कान खुले रहने चाहिएँ; और सबका प्रभाव ग्रहण करने के लिए उनका हृदय खुला रहना चाहिए।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ११४)।

**काव्य तथा भाव**

कविता वा काव्य प्रधानतः हृदय का व्यापार है, उस हृदय का जो भाव-शून्य नहीं है, प्रत्युत भावों का संस्थान है। इसी से आचार्य शुक्ल ने कहा है—"कविता वही जिससे चित्त किसी आवेग में लीन हो जाय।"—(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, संख्या १० पृ० ११२)। चित्त को आवेग में लीन करने के लिए कविता में अनेक बातें होनी चाहिएँ, जिनका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं; हमारा तात्पर्य इस उद्धरणगत 'आवेग' शब्द से विशेष है। यहाँ 'आवेग' से तात्पर्य भाव वा हृदय के आवेग से है। कहने का अभिप्राय यह कि कविता का मुख्य संबंध भावों से है।

**काव्य तथा आलंबन**

भाव वा मनोविकार हृदय में वासना के रूप में प्रसुप्त रहते हैं, उनका उद्बोधन किसी विशिष्ट परिस्थितिवश होता है अर्थात् भावों का जगना परिस्थिति-सापेक्ष्य है। मानव-हृदयगत भावों को जगने के लिए आलंबन परिस्थिति की प्राप्ति एकांत में—जहाँ कुछ न हो—नहीं हो सकती। ऐसी परिस्थिति वा ऐसा अवसर तभी आ सकता है जब मानव किन्हीं जड़ और चेतन वस्तुओं के संपर्क में रहे, क्योंकि भावों के मूल सुख और दुःख, जो इन्हें (भावों को) अनेक रूपों में परिणत करते हैं, जड़ और चेतन परिस्थिति में ही मिल सकते हैं, और, जड़ और चेतन की उपलब्धि इस बाह्य प्रकृति में होती है, जिनके ही भीतर जीवन भी चलता है। इस प्रकार अवगत यह होता है कि भावों को जगने का क्षेत्र बाह्य प्रकृति वा जगत् और जीवन में मिलता है। साहित्यिक पदावली में इसे यों कह सकते हैं कि भावों के आलंबन जगत् और जीवन हैं। अतः कविता का संबंध भावों से है और भावों के

आलंबन जगत् और जीवन हैं, इस प्रकार कविता के भी आलंबन जगत् और जीवन ठहरते हैं। आचार्य शुक्ल भी मूलतः हृदय के भावों का संबंध जगत् और जीवन में स्थापित करना कविता का कार्य समझते हैं—"हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।"—(चिंतामणि, पृ० १९१)। एक दूसरे उद्धरण से यह बात भी स्पष्ट हो जायगी—"अतः काव्य का काम मनुष्य के साथ सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र से आलंबन या विषय चुन-चुनकर रखना है। इस प्रकार उसका संबंध जगत् और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वतः सिद्ध है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृ० १)। एक स्थल पर आचार्य शुक्ल ने काव्य को इस जगत् की अभिव्यक्ति कहा है—"कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है; काव्य भी अभिव्यक्ति। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।" (वही, पृ० ११)। अभिव्यक्ति के इसी रूप को लेकर आचार्य शुक्ल काव्य में 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना करने के पक्षपाती हैं।—(देखिए वही, पृ० ५)।

ऊपर हृदय या भाव को लेकर काव्य पर विचार हुआ। काव्य में बुद्धि या ज्ञान का भी स्थान है। उसमें ज्ञान तथा भाव दोनोंका सामंजस्य होना चाहिए। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा वह श्रेष्ठ काव्य की कोटि में न आ सकेगा। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"हृदय की ऐसी भावदशा कभी-कभी होती है जिसका न धर्म से विरोध होता है, न ज्ञान से, और न किसी दूसरी भावदशा से। यही सामंजस्य हमारे यहाँ का मूल मंत्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।" इस सामंजस्य का अभिप्राय यह है कि बुद्धि अपना स्वतंत्र रूप से ज्ञान-संपादन का कार्य करे और हृदय भाव-प्रवर्तन का। एक दूसरे के कार्य में बाधक न हो, हस्तक्षेप न करे। बुद्धि यह न कहने जाय कि हृदय क्या? वह तो फालतू काम किया करता है; हृदय यह न कहने जाय कि बुद्धि क्या? वह तो सूखे लक्कड़ चीरा

करता है। दोनों एक दूसरे के सहयोगी के रूप में काम करें।" (इंदौरवाला भाषण, पृ० ५२)।

साधारण वा सामान्य (कामन और जनरल) आलंबन वा विषय की दृष्टि से आचार्य शुक्ल ने काव्य का स्वरूप उपर्युक्त प्रकार का माना है। भारतीय आचार्य काव्य का परम लक्ष्य रसानुभूति वा 'सद्यः परनिर्वृति' मानते हैं। आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्त दशा को रसदशा मानते हैं, जिसमें हृदय अपने-पराये के भेद-भाव को भूलकर अपने शुद्ध रूप में विद्यमान रहता है। इस मुक्तावस्था वा रसदशा को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल कविता का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित करते हैं—"हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"—(चिंतामणि, पृ० १९२)। जब तक रसदशा और शब्द-विधान की विवेचना न हो तब वस्तुतः काव्य की यह परिभाषा बहुत ही स्थूल प्रतीत होगी।

ऊपर आलंबन वा विषय की दृष्टि से काव्य पर विचार हुआ है। इस विस्तृत जगत् और जीवन से किस प्रकार का 'व्यापार' काव्य में ग्राह्य हो सकता है, इस पर भी यहाँ विचार कर लें।

**काव्य तथा व्यापार-शोधन**

काव्य के अनेक लक्ष्य हैं और हो सकते हैं, पर उनमें 'प्रभाव' को श्रेष्ठ समझना चाहिए। वस्तुतः काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह पाठक वा श्रोता को प्रभावित करे। ये प्रभाव अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इसे ही दृष्टि में रखकर काव्य में कवि अनेक व्यापारों में से ऐसा व्यापार चुनता है जो प्रभावोत्पादिनी शक्ति से संपन्न होता है। काव्य में मर्मस्पर्शिता तथा प्रभावोत्पादकता के लिए इस प्रकार का 'व्यापार-शोधन' आचार्य शुक्ल आवश्यक मानते हैं—"कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार-शोधन भी करते हैं। बहुत-से व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है। कहीं तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात्

उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक संबंध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कहीं (२) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है; जैसे अन्योक्ति में।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२१–१२३)। प्रभावोत्पादन के लिए दूसरी प्रक्रिया का निर्देश भी आचार्य शुक्ल ने किया है—"गंभीर चिंतन से उपलब्ध जीवन के तथ्य सामने रखकर जब कल्पना मूर्त-विधान में और हृदय भाव-संचार में प्रवृत्त होते हैं तभी मार्मिक प्रभाव उत्पन्न होता है।"—(प्रवेशिका, शेष स्मृतियाँ, पृ० १४)। तात्पर्य यह कि व्यापार-शोधन तथा विशिष्ट काव्य-विधान द्वारा भी प्रभाव उत्पन्न हो सकता है।

**काव्य तथा प्रभाव**

यहीं प्रभाव से संबद्ध एक और बात पर विचार कर लें। कुछ कविताएँ या कविता की पंक्तियाँ ऐसी प्रभावोत्पादिनी या चुभती-सी होती हैं कि लोग उन्हें बार-बार गुनगुनाया करते हैं। गुनगुनाने की प्रेरणा का कारण स्वयं उन कविताओं में निहित अनुभूति की तीव्रता, संगीत की मधुरता या अन्य कोई वस्तु होती है, जो हृदय में गूँज उत्पन्न करती है जिससे उसका प्रभाव कुछ काल तक बना रहता है। काव्य में इस विशिष्टता की ओर आचार्य शुक्ल की दृष्टि है। बिहारी की कविता पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे।"—(इतिहास, पृ० २०३)। अर्थात् वे श्रेष्ठ काव्य के लिए इस गूँज को आवश्यक मानते हैं।

**काव्य तथा वाणी-विधान**

यह तो हुआ आलंबन या विषय, व्यापार-शोधन तथा प्रभाव की दृष्टि से निर्धारित काव्य के स्वरूप पर विचार। अब वाणी-विधान की दृष्टि से भी उसपर किया गया विचार देखिए। साहित्य, जिसके अंतर्गत काव्य भी आता है, प्रधानतः वाणी का ही व्यापार है। अनुभूति, कल्पना, अभिव्यंजना आदि सभी शक्तियों को लिये-दिये कवि छटपटाता ही रहेगा, यदि उसमें वाणी न रहेगी, यदि वह अभिव्यक्ति न कर सकेगा। हमारे यहाँ सारी विद्याओं का प्रतीक 'सरस्वती'

भी 'वाणी' वा 'भारती' ही हैं। तात्पर्य यह कि काव्य में शब्द वा वाणी-विधान प्रधान है। प्रश्न होता है कि काव्य में शब्द-विधान का स्वरूप क्या हो? शब्द-विधान की दृष्टि से यह तो निश्चित है कि काव्य मे नित्यप्रति के व्यवहार के शब्द-विधान का रूप नहीं आता, यदि कहीं आता भी है तो विरल। काव्य का शब्द-विधान कुछ विशिष्ट होता है अवश्य। इसी विशिष्ट शब्द विधान को साहित्य में वक्रता, वैलक्षण्य, वैचित्र्य, चमत्कार, अनूठापन आदि नामों से अभिहित करते हैं। इसी वक्रता को लेकर हमारे यहाँ कुंतक का वक्रोक्तिवाद चला। जिसके अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है—'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्'—इस पक्ष का प्रतिपादन किया गया था।

आचार्य शुक्ल काव्य में वक्रता वा चमत्कार को भी—को ही नहीं—स्थान देते हैं, पर कुछ शर्तों के साथ। पहले यह देख लिया जाय कि चमत्कार का स्वरूप उन्होंने क्या माना है—"चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अंतर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे, श्लेष, यमक आदि में), वाक्य की वक्रता या वचनभंगी (जैसे, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं"—(चिंतामणि पृ० २२९–२३०)। चमत्कार वा वैचित्र्य द्वारा काव्य में मार्मिकता तथा प्रभावशालिता की सृष्टि होती है, आचार्य शुक्ल की दृष्टि इसके इस पक्ष पर भी है। वे कहते हैं—"मेरा अभिप्राय कथन के उस ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक और प्रभावशाली बना देता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षण-व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १८१)। तात्पर्य यह कि चमत्कार वा उक्ति-वैचित्र्य को आचार्य शुक्ल काव्य में केवल उसी रूप में लेना चाहते हैं जिस रूप में इसके द्वारा उसमें प्रभावोत्पादिता आवे। वे चमत्कार के उस रूप

वक्रता वा चमत्कार

के प्रतिपादक नहीं, जो खिलवाड़ या तमाशा प्रस्तुत किया करता है। वे कहते हैं—"उक्ति-वैचित्र्य से यहाँ हमारा अभिप्राय उस ब्रेपर की उड़ान से नहीं है जिसके प्रभाव से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता, वहाँ से अपनी उत्प्रेक्षा, उपमा आदि के लिए सामग्री लिया करते हैं।"—( वही )। उन्होंने इस प्रकार का चमत्कारवाद कहीं भी नहीं ग्रहण किया। हम पहले कह आये हैं कि वे चमत्कारवादी नहीं थे।

काव्य में वैचित्र्य का भी स्थान स्वीकार करने के लिए उनकी शर्त यह है कि वक्रता या वचनभंगिमा भाव या अनुभूति से प्रेरित हो। कोरी या शुद्ध वक्रता काव्य नहीं। वे कहते हैं—"वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है।"—( भ्रमरगीतसार, पृ० ७० )। "चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए! जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ सामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है।"—( चिंतामणि, पृ० २३० )।

काव्य में वक्रता की अवस्थिति कैसे होती है, इसका कारण अंतिम उदाहरण से कुछ-कुछ विदित होता है। वस्तुतः बात यह है कि भाव-संपन्न कवि अपनी कविता द्वारा श्रोता या पाठक पर कुछ प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है, इस कार्य की पूर्ति के लिए वह प्रायः जान-बूझकर अपनी उक्ति को कुछ वक्र पथ पर ले जाता है, क्योंकि ऐसा न करने से उक्ति में प्रभावोत्पादिनी शक्ति का सन्निवेश न हो पायेगा। कभी-कभी यह वक्रता भावावेग के कारण स्वतः भी आ जाती है, जैसा कि आचार्य शुक्ल का मत है—"उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अकसर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है।"—( चिंतामणि, पृ० २३६ )। आधुनिक अँगरेज समालोचक एबरक्रांबी भी काव्य का कारण यही भावावेग बतलाते हैं*। पर काव्यगत वक्रता का कारण सर्वत्र यह भावावेग ही नहीं होता,

*"......the greater the inspiration, the greater the art required to give it literary expresson."—Lascelles bercrombie M A.'s *Principles of Literary Criticism*, p. 17.

अधिकतर तो कवि मे स्थित काव्य-कौशल होता है।

आचार्य शुक्ल इस वक्रता या अनूठेपन की स्थिति काव्य के भाव तथा विभाव दोनों पक्षों में मानते हैं—"अनूठापन कहीं तो किसी भाव या मनोवृत्ति की व्यंजना मे—अर्थात् जिन वाक्यों में उस भाव की व्यंजना होती है उनमें—और कहीं उस वस्तु या तथ्य में ही होता है जिसकी ओर कवि अपने चित्रण-कौशल से भाव को प्रवृत करता है। सुभीते के लिए एक को हम भाव-पक्ष का अनूठापन कह सकते हैं; दूसरे को विभाव-पक्ष का।"—( काव्य में रहस्य-वाद, पृ० ७१ )।

आचार्य शुक्ल वक्रता या वैचित्र्य को काव्य के लिए अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु मानते हुए भी, उसे काव्य का चिर सहयोगी नही मानते। उसे वे काव्य का एक अतिरिक्त गुण मानते हैं, जिसके द्वारा मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। उनके मत्यनुसार सीधी-सादी वाणी द्वारा भी प्रभावोत्पादिनी कविता प्रस्तुत हो सकती है। हम वक्रता की आवश्यकता तथा इसकी गौणता दोनों पक्षवाले उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—"भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वच्छन्द गति के लिए, काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ७६ )। इसकी गौणता वाला उद्धरण देखिए—"अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अंतर्गत नहीं है; एक अतिरिक्त गुण है जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। इसके बिना भी तन्मय करनेवाली कविता बराबर हुई है और होती है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७१ )। पर ऐसी कविता कम ही मिलती है। कवि अपनी वाणी को विशिष्ट रखता ही है, उसमें वक्रता की संस्थिति करता ही है। अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ काव्य में ऐसी ही सीधी-सादी तथा नित्य की व्यावहारिक भाषा के समर्थक थे, पर वे अपने इस मत का अनुगमन स्वयं न कर सके। उनकी भाषा में भी वक्रता मिलती ही है। साथ ही यह भी कह देना आवश्यक है कि काव्य में केवल चमत्कार ही चमत्कार का संनिवेश कोई गंभीर आलोचक न मानेगा।

चमत्कार-पद्धति और रस-पद्धति को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल काव्य को तीन श्रेणियों में रखना चाहते हैं—"( १ ) जिसमें केवल चमत्कार या

वैलक्षण्य हो, ( २ ) जिसमें केवल रस या भावुकता हो, ( ३ ) जिसमें रस और चमत्कार दोनों हों।"—( जायसी-ग्रंथावली पृ० २२० )। प्रथम प्रकार के काव्य को वे 'काव्याभास' वा 'सूक्ति' कहते हैं और दूसरे प्रकार को 'प्रकृति-काव्य'; दूसरे प्रकार के काव्य को ही वे श्रेष्ठ काव्य मानते हैं।

सूक्ति से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य ऐसी रचनाओं से है, जिनमें केवल अनूठापन ही अनूठापन रहता है, उनके द्वारा केवल मनोरंजन ही होता है, मन रमता नहीं, भावों में तीव्रता नहीं आती, वे भावों को उद्बुद्ध करने में समर्थ नहीं होते। सूक्ति के विषय में विचार करते हुए वे कहते हैं "ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना ( जैसे, प्रस्तुत वस्तु का सौंदर्य आदि ) में लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है।"—( चिंतामणि, पृ० २३३ )। काव्य और सूक्ति में भेद बतलाते हुए वे कहते हैं—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"—( चिंतामणि, पृ० २३४ )। इस प्रकार चमत्कार को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल काव्य के दो प्रधान रूप निर्धारित करते हैं—एक सूक्ति-काव्य और दूसरा भाव-काव्य।

आचार्य शुक्ल कोरे चमत्कार को कवि-कर्मगत वा काव्यगत खिलवाड़ मानते हैं। संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने चमत्कार का ग्रहण भले अर्थ में किया है। उनके मत्यनुसार चमत्कार मन के विस्फार वा विकोचन का कारण होता है, वही लोकोत्तर आनन्द की जिसे रस कहते हैं, अनुभूति कराता है; अर्थात् काव्य में लोकोत्तर आनंद की सृष्टि चमत्कार के समानाधिकरण्य के कारण होती है। तात्पर्य यह कि संस्कृत के आचार्यों ने चमत्कार को रसानुभूति में सहायक माना है, और आचार्य शुक्ल इसे काव्य की निम्न श्रेणी का धर्म बताते हैं। इसे यों कहना चाहिए कि संस्कृत में 'चमत्कार' और 'रमणीयता'

पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहृत हैं और इन्होंने 'चमत्कार' और 'रमणीयता' को एक दूसरे के विपरीत माना है। पहला है बाह्य-सौंदर्य-विधायक गुण और दूसरा है आभ्यन्तर-सौंदर्य-विधायक गुण।

काव्य के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् अब उसके विषय (क्षेत्र या भूमि) पर आइए। यह हम जानते हैं कि आचार्य शुक्ल का काव्य-सिद्धान्त जगत् और जीवन के आधार पर स्थिर है, इसलिए उनके

काव्य के विषय

मत्यनुसार काव्य का क्षेत्र या विषय भी जगत् और जीवन के ही समान विस्तृत होना स्वाभाविक है। वे कहते हैं—"जितना विस्तार जगत् और जीवन का है उतना ही विस्तार उसका (काव्यभूमि का) है।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७)। काव्य की इस विस्तृत भूमि का विभाजन वे तीन रूपों में करते हैं—"काव्य-दृष्टि कहीं तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कहीं २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और कहीं ३. समस्त चराचर के।"—(चिंतामणि, पृ० १९१)। इसी विभाजन की दृष्टि से उन्होंने तीन ढंग के कवियों का भी उल्लेख किया है—"विषय-क्षेत्र के विचार से देखते हैं तो प्रायः तीन ढंग के कवि पाए जाते हैं। कुछ तो नर-प्रकृति के वर्णन में ही अधिकतर लीन रहते हैं, कुछ बाह्य प्रकृति के वर्णन में और कुछ दोनों में समान रुचि रखते हैं।"—(वही, पृ० २६४)। इस उद्धरण से भी काव्य-विषय का स्पष्टीकरण होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल की मति में काव्य का विषय-क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उनके अनुसार जिस काव्य का विषय जितना ही व्यापक होगा उस काव्य की दृष्टि उतनी ही व्यापक और गंभीर होगी, अर्थात् प्रथम या द्वितीय प्रकार के काव्य की अपेक्षा तृतीय प्रकार का काव्य श्रेष्ठ है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"पहले कहा जा चुका है कि नरक्षेत्र के भीतर बद्ध रहनेवाली काव्यदृष्टि की अपेक्षा संपूर्ण जीवनक्षेत्र और समस्त चराचर के क्षेत्र से मार्मिक तथ्यों का चयन करनेवाली दृष्टि उत्तरोत्तर अधिक व्यापक और गंभीर कही जायगी।"—(वही, पृ० २१२–२१३)।

काव्य-विषय की एक बात और। यह कहा जा चुका है कि बुद्धिवादी होने के कारण वे विकासवाद के सिद्धांत के अनुयायी थे। पर इनका बुद्धिवाद

कोरा नहीं है; उसमें हृदय के लिए पूरा स्थान है। ये मानते हैं कि सभ्यता ज्यों ज्यों विकसित होती गई त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता भी बुद्धि-व्यवसाया-त्मक होती गई: अर्थात् सभ्यता के विकास के साथ ही मनुष्य बुद्धि से ही अधिक काम लेने लगा। हृदय को उतना अवकाश नहीं दिया गया। अब मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र वा बुद्धि-क्षेत्र विस्तृत हो गया है। इसलिए ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ ही भाव क्षेत्र का भी विस्तार करना चाहिए। ज्ञान, विज्ञान आदि के अनुसंधान के कारण बहुत-से नवीन विषय उपस्थित हो गये हैं, अतः कवि का कर्तव्य है कि वह इन्हें भी अपने काव्य का विषय बनाये और इस रूप में प्रस्तुत करे कि ये हमारे भावों के आलंबन हो सकें। ऐसा करने के लिए सभ्यता के विकास के कारण अनेक आवरणों में छिपे आलंबनों को मूर्त्त वा गोचर रूप देना होगा, जो हमारे हृदय के भावों को उत्तेजित कर सकें। तात्पर्य यह कि ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ ही भाव-क्षेत्र का विस्तार भी आवश्यक है, इस कार्य की पूर्ति के लिए कवि को अग्रसर होना पड़ेगा। और उसे इस स्थिति में ज्ञान के कारण विस्तृत हुए विषयों को इस रूप में रखना चाहिए कि वे हमारे भावों को उत्तेजित करें।—( देखिए चिंतामणि, पृ० १९६—१९७ तथा काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७७—७८)।

काव्य के जिस विस्तृत विषय-क्षेत्र का उल्लेख ऊपर किया गया है वह साहित्य के केवल एक ही पद 'विभाग' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। "विभाव के अंतर्गत दो पक्ष होते हैं—( १ ) आलंबन ( भाव का विषय ), (२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)। इनमें से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किंतु दूसरा हृदय-संपन्न मनुष्य ही होता है।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )। तात्पर्य यह है कि आलंबन की परिमिति में सृष्टि के जड़-चेतन, अस्थिर-स्थिर वा प्रकृति-मनुष्य सभी आते हैं और आश्रय की परिमिति में केवल चेतन एवं भावनायुक्त मनुष्य। जगत् वा प्रकृति और मनुष्य को लेकर जीवन की भी स्थिति है, इस प्रकार जीवन भी इसी विभाग के अंतर्गत आता है। यह जीवन विभाग की सीमा में आनेवाले आलंबन की कोटि में आयेगा। जैसे जगत् और जीवन वा प्रकृति और नर में घनिष्ट संबंध है, वैसे ही इस आलं-

बन और आश्रय में भी। दोनों एक दूसरे से विलग नहीं किये जा सकते। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य में ये दोनों आन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप में रहता है। जैसे, नायिका के रूप या नख-शिख का कोरा वर्णन लें तो उसमें भी आश्रय का रतिभाव अव्यक्त रूप में वर्तमान रहता है।"—(भ्रमरगीतसार, पृ० ४)।

**काव्य में आलंबन के रूप तथा प्रकार**

काव्य के विषय, वस्तु वा आलंबन तथा उसकी व्यापकता की दृष्टि से हमने आचार्य शुक्ल के विचार देखे। अब देखना यह चाहिए कि ये काव्य में किस प्रकार के आलंबन के चित्रण के पक्षपाती हैं। यह हम ने कई स्थलों पर देखा है कि आचार्य शुक्ल कोरे चमत्कार को अवांछनीय समझते हैं, इनकी दृष्टि में काव्य-क्षेत्र को इससे कोई लाभ नहीं। आलंबन के क्षेत्र में भी इनके विचार ऐसे ही हैं ये असाधारण आलंबन के पक्षपाती नहीं हैं, क्योंकि इनका मत है कि साधारण वस्तु भी भाव का आलंबन हो सकती है। ये कहते हैं—"भावों के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर से गंभीर भावों का आलंबन हो सकती है।"—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। इसी निबंध में ये अन्य स्थलों पर भी इसके विषय में ऐसी ही बात कहते हैं। देखिए—"प्रसंग-प्राप्त साधारण, असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है" 'साधारण के बीच में ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व वा व्यंजनाप्रणाली के असाधारणत्व में ही काव्य समझ ढूंढना अच्छी समझदारी नहीं।" अतः इनका मत है कि "काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध, लोक-स्वीकृत और ठीक ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है।'—(काव्य में रहस्यवाद, पृ० २९–३०)।

एक बात और। आचार्य शुक्ल काव्य-क्षेत्र को दर्शन के अनेक वादों से भी दूर रखना चाहते हैं। इनके मतानुसार भारतीय काव्य-परंपरा ऐसी ही है।

**काव्य में दार्शनिक वाद का त्याग**

उसमें दर्शन के नाना वादों का ग्रहण नहीं हुआ है। कबीर आदि निर्गुणिए संत कवियों मे दार्शनिक तथ्यों को लेकर जो मूर्त्त रूप खड़े किये गये हैं, वे सूफी कवियों के अनुकरणवश। इन मूर्त्त रूपकों मे भाव में लीन करने की उतनी शक्ति नहीं हैं, जितनी सर्वस्वीकृत अनुभूति वा तथ्य को लेकर की गई रूप-योजना में। इनका कथन है—"इन मूर्त्त रूपकों में ध्यान देने की बात यह है कि जो रूप-योजना केवल अद्वैतवाद, मायावाद आदि वादों के स्पष्टीकरण के लिए की गई है, उसकी अपेक्षा वह रूप-योजना जो किसी सर्वस्वीकृत, सर्वानुभूत तथ्य को भावक्षेत्र मे लाने के लिए की गई है, कहीं अधिक मर्मस्पर्शिणी है।"—( काव्य मे रहस्यवाद, पृ० ३० )। इस उद्धरण से विदित होता है कि आचार्य शुक्ल दार्शनिक वादों की काव्यात्मक रूप-योजना के ही कुछ-कुछ पक्षपाती हैं, पूर्णरूपेण उसके भी नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह उतनी मर्मस्पर्शिणी नहीं होती।

इसी प्रकार वे काव्य का संबंध किसी ज्ञानातीत ( ट्रांसेंडेंटल ) दशा से भी नहीं जोड़ना चाहते, जिसका वर्णन सांप्रदायिक रहस्यवादी किया करते हैं। इस संबंध में उनका मत यों है—"यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि उक्त ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई संबंध नहीं है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ३६ )। इसी बात को उन्होंने और स्पष्ट करके दूसरे रूप में यों कहा है—"मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है। इसके भीतर की वस्तुओं की कोई मनमानी योजना खड़ी करके उसे इससे बाहर के किसी तथ्य का—जिसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं—सूचक बताना हम सच्चे कवि का क्या सच्चे आदमी का काम नहीं समझते।"—( वही, पृ० ३७–३८ )।

इस प्रकार हमें विदित होता है कि आचार्य शुक्ल काव्य के क्षेत्र मे दार्शनिक वादों तथा रहस्यवाद के किन्हीं सिद्धांतों वा अवस्थाओं का प्रवेश उचित नहीं समझते। पर इनकी ऐसी रूप-योजना, जिसमें काव्य की प्रधानता और इनकी गौणता हो, जिसका स्पष्टीकरण सहृदय पाठक वा श्रोता कर लें, काव्य

की परिमिति के अंतर्गत मानना अनुचित न होगा। आचार्य शुक्ल भी किन्हीं अंशों में दार्शनिक तथ्यों की रूप-योजना के पक्षपाती हैं ही।

ऊपर काव्य के जिस व्यापक वा विस्तृत क्षेत्र पर विचार हुआ है, उसकी वस्तुएँ कवि हमारे संमुख किन रूपों वा सीमाओं का अवलंबन लेकर लाता है, अब इसे भी देखना चाहिए, क्योंकि इतने व्यापक विषय-क्षेत्र को प्रस्तुत करने के लिए स्थल परिमित ही मिलता है। उसी में विषय-क्षेत्र से चुनी हुई मार्मिक वस्तुएँ संगृहीत होती हैं। व्यापक विषय-क्षेत्र की वस्तुओं को कवि जिन परिमित स्थलों वा रूपों में रखता है, उनके नाम हैं—प्रबंध और मुक्तक-काव्य। प्रबंध-काव्य को कथा-काव्य भी कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने उसे कथा-काव्य कहा भी है।—( देखिए इतिहास पृ० १७१ )।

**प्रबंध-काव्य**

संस्कृत और हिंदी के आचार्यों ने भी प्रबंध-काव्य तथा मुक्तक के अनेक लक्षण कहे हैं, विशेषतः प्रबंध-काव्य के। प्रबंध-काव्य के अंतर्गत महाकाव्य तथा खंडकाव्य दोनों आते हैं, क्योंकि कथा का बंधान महाकाव्य तथा खंड-काव्य दोनों में अपेक्षित है। यहाँ लक्षण-ग्रंथों में कथित इनके लक्षणों का उल्लेख अभीष्ट नहीं है। अतः हम केवल आचार्य शुक्ल द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों पर ही विचार करेंगे।

प्रबंध-काव्य वा कथा-काव्य पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"कथा-काव्य या प्रबंध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन भाव-व्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं।"—(इतिहास, पृ० १७१)। इन्हीं को लेकर यदि विचार किया जाय तो आचार्य शुक्ल की प्रबंध-काव्य संबंधी सभी बातें स्पष्ट हो जायँगी। पहले इतिवृत्त को लीजिए। आचार्य शुक्ल ने प्रबंध-काव्य के इतिवृत्त या कथा के विषय में प्राचीन आचार्यों की भाँति उसे इतिहास, पुराण, संभ्रांत वंश वा कुल आदि से लेने का उल्लेख नहीं किया है। बात यह है कि इस पर या ऐसी ही अन्य बातों पर उन्होंने प्रबंध-काव्यों की आलोचना करते हुए विचार किया है। स्वतंत्र रूप से तो उन्हें इन पर विचार करने का ऐसा अवसर अन्यत्र

**इतिवृत्त**

मिला नहीं कि वे इसकी एक-एक बात पर विचार करते। पर जिन प्रबंधों की आलोचना करते हुए उन्होंने इन अवयवों का उल्लेख किया है, वे इतिहास, पुराण वा संभ्रांत परिवार के इतिवृत्त के आधार पर ही निर्मित हैं। हाँ, उन्होंने इस बात का उल्लेख अवश्य किया है कि संस्कृत के काव्यों वा नाटकों में पुराण-इतिहास के वृत्त ग्रहण करने का क्या रहस्य था। वे कहते हैं—"कल्पना के इस स्वरूप की सत्यमूलक सजीवता और मार्मिकता अनुभव करके ही संस्कृत के पुराने कवि और अपने महाकाव्य नाटक इतिहास-पुराण के किसी वृत्त का आधार लेकर रचा करते थे।"—( चिंतामणि, पृष्ठ ३५५ )। 'कल्पना के इस स्वरूप' से तात्पर्य कल्पना के उस रूप से है जो सत्य से अनुप्राणित होकर स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप धारण करता है।—( देखिए चिंतामणि, पृ० ३५५ )। अभिप्राय यह कि आचार्य शुक्ल ने प्रबंध-काव्य का इतिवृत्त कहाँ से और कैसा लिया जाय इस पर कुछ नहीं कहा है। केवल इतना ही कहा है कि "प्रबंध-काव्य में मानव-जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है।"—( जायसी-ग्रंथावली पृ० ९० )। यह मानव-जीवन किस वर्ग का और किस काल का हो इसका विचार उनकी आलोचना नहीं करती।

चाहे किसी भी वर्ग वा काल की कथा या इतिवृत्त हो, उसका रूप कैसा हो, उसमें किस प्रकार की घटनाओं का समावेश हो, इस पर उन्होंने विचार किया है। उनका मत है कि "किसी प्रबंध-कल्पना पर और कुछ विचार करने के पहले यह देखना चाहिए कि कवि घटनाओं को किसी आदर्श परिणाम पर ले जाकर तोड़ना चाहता है अथवा यों ही स्वाभाविक गति पर ले जाकर छोड़ना चाहता है। यदि कवि का उद्देश्य सत् और असत् के परिणाम दिखाकर शिक्षा देना होगा तो वह प्रत्येक पात्र का परिणाम वैसा ही दिखाएगा जैसा न्याय-नीति की दृष्टि से उसे उचित प्रतीत होगा। ऐसे नपे-तुले परिणाम काव्य-कला की दृष्टि से कुछ कृत्रिम जान पड़ते हैं।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ८९ )। इससे विदित होता है कि इस विषय में आचार्य शुक्ल का मत यथार्थवादी से—हमारा तात्पर्य शिष्ट यथार्थवादी से है—कथाकारों से मिलता है, जो अपनी रचनाओं में सत् तथा असत् दोनों का मेल करते हैं, क्योंकि जीवन वा समाज में इनका संमिश्रण प्राप्त है। वे किसी धर्मात्मा को दारुण

दुःख भोगते चित्रित करते हैं। और किसी पापी को अपार सुखों की वर्त्ती में बैठा हुआ, क्योंकि समाज में ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं। श्री प्रेमचंद का भी इस विषय में ऐसा ही मत है।—( देखिए प्रेमचंद कृत 'विचार' का 'उपन्यास' शीर्षक लेख )।

किसी प्रबंध-काव्य के इतिवृत्त का थोड़ा-बहुत लंबा होना आवश्यक है। अतः उसमें अनेक घटनाओं की स्थिति भी अपेक्षणीय है। इन अनेक घटनाओं का कवि द्वारा संबंध-निर्वाह अत्यंतावश्यक है। आचार्य शुक्ल का मत है कि "प्रबंध-काव्य में बड़ी भारी बात है संबंध-निर्वाह।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९४ )।

प्रबंध-काव्य की जो अनेक घटनाएँ वा कथाएँ होती हैं, संस्कृत के आचार्यों द्वारा उनका दो रूपों में विभाजन हुआ है। इसकी कुछ कथाओं को आधिकारिक, प्रधान वा नायक की कथा, कहते हैं और कुछ को प्रासंगिक वा गौण कथा। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि प्रासंगिक कथा वा वस्तु वह है "जिसमे प्रधान नायक के अतिरिक्त किसी अन्य का वृत्त रहता है।"—(जायसी-ग्रंथावली पृ० ९६ )। ऊपर हमने कहा है कि प्रासंगिक कथा गौण कथा है, वह आधिकारिक कथा की सहायिका होती है। वह प्रधान कथा के प्रसंग से ही आती है, उसकी योजना प्रधान कथा के लिए ही होती है। प्रासंगिक कथा के स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं कि "प्रासंगिक वस्तु ऐसी ही होनी चाहिए जो आधिकारिक वस्तु की गति आगे बढ़ाती या किसी ओर मोड़ती हो।" —( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९५ )। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रबंध-काव्य की कथाएँ इन्हीं दो रूपों में दिखाई पड़ती हैं। किसी प्रबंध-काव्य को वस्तु के संबंध-निर्वाह पर विचार करते हुए, इन्हीं के समुचित मेल पर विचार करना चाहिए। आचार्य शुक्ल के मत से "संबंध-निर्वाह पर विचार करते समय सबसे पहले तो यह देखना चाहिए कि प्रासंगिक कथाओं का जोड़ आधिकारिक वस्तु के साथ अच्छी तरह मिला हुआ है या नहीं, अर्थात् उनका आधिकारिक वस्तु के साथ ऐसा संबंध है या नहीं जिससे उसकी गति में कुछ सहायता पहुँचती हो। जो वृत्तांत इस प्रकार संबद्ध न होंगे वे ऊपर से व्यर्थ ठूँसे हुए मालूम होंगे चाहे उनमें कितनी ही अधिक रसात्मकता हो।"

—( वही )। तात्पर्य यह कि आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथा में ऐसा मेल हो कि प्रासंगिक ऊपर से आई हुई कोई अतिरिक्त वस्तु न प्रतीत हो। प्रासंगिक कथा का द्वितीय धर्म यह है कि यह प्रधान कथा की गति में योग देनेवाली हो, उसे आगे बढ़ानेवाली हो।

आधिकारिक कथा प्रधान नायक की कथा होती है, जिसका लक्ष्य होता है 'कार्य' तक पहुँचना। इस कथा की सहायिका प्रासंगिक कथा होती है जो 'कार्य' स्थापना में भी सहायता करती है। 'कार्य' पर दृष्टि रखकर आचार्य शुक्ल ने काव्यगत वृत्तांतों की योजना पर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—"अतः घटनाप्रधान * प्रबंध-काव्य में उन्हीं वृत्तांतों का संनिवेश अपेक्षित होता है जो उस साध्य 'कार्य' के साधन-मार्ग में पड़ते हैं अर्थात् जिनका उस कार्य से संबंध होता है।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९६–९७ )।

ऊपर हमने काव्य की कथा-वस्तु, उसके इतिवृत्त पर विचार किया है। पर काव्य का लक्ष्य केवल इतिवृत्त प्रस्तुत करना ही नहीं होता, यद्यपि उसका ढाँचा यही है, जिसके आधार पर उसकी स्थिति होती है। केवल इतिवृत्त प्रस्तुत करना तो इतिहास का लक्ष्य होता है। काव्य का लक्ष्य कुछ और होता है। उसका लक्ष्य है रसात्मक अनुभव वा बोध कराना। रसात्मक अनुभव कराने के लिए कवि कथा की गति में विराम लाता है, जहाँ रुककर वह रसात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"उसमें घटनाओं की संबद्ध शृङ्खला और स्वाभाविक क्रम के ठीक ठीक निर्वाह के साथ साथ हृदय को स्पर्श करानेवाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव करानेवाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिंबवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९० ) इन्हीं बातों को

* संस्कृत के प्रबंध-काव्यों को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल दो प्रकार के काव्य निर्धारित करते हैं, एक व्यक्ति-प्रधान प्रबन्ध-काव्य और दूसरा घटना-प्रधान।—( देखिए जायसी ग्रन्थावली, पृ० ९६ )।

दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल ने प्रबंध-काव्य के दो अवयवों—वस्तु-व्यापार-वर्णन और भाव-व्यंजना—का निर्देश किया है। और इन्हीं के चुनाव से कवि द्वारा 'कथा के गम्भीर और मार्मिक स्थलों की पहचान' का पता चलना माना है।

उपर्युक्त उद्धरण से विदित होता है कि प्रबंध-काव्य में इतिवृत्त तथा रसात्मक स्थल दोनों अपेक्षित होते हैं। इतिवृत्त के संबंध-निर्वाह पर तो विचार हो चुका, अब उसके स्वरूप तथा रसात्मक स्थल पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। आचार्य शुक्ल का कथन है कि इतिवृत्त तथा रसात्मक स्थल के कारण ही "कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९० )। आगे वे कहते हैं—"घटना का संकुचित उल्लेख तो केवल इतिवृत्त मात्र होता है। उसमें एक एक ब्योरे पर ध्यान नहीं दिया जाता और न पात्रों के हृदय की झलक दिखाई जाती है।" ( —वही, पृ० ९१ )। तो, काव्यगत इतिवृत्त का कार्य है क्या? इतिवृत्त रसात्मक स्थलों के लिए भूमिका प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा यह विदित होता है कि पात्र किसी परिस्थिति में है, और जिस परिस्थिति में वह है, उसके अनुकूल कवि रसात्मक स्थल वा भाव का उद्बोध उपस्थित करता है वा नहीं। इसी इतिवृत्त के कारण कवि द्वारा प्रस्तुत किए 'दृश्यों की स्थान-गत विशेषता' की परख होती है। एक बात और। इतिवृत्त ही पात्र की परिस्थिति का अनुमान कराके श्रोता वा पाठक के हृदय में पात्रों की भावाभिव्यंजना के लिए अनुकूल भूमि उपस्थित करता है, जो रसानुभूति में सहायक होती है। इसी कारण संस्कृत के आचार्यों ने रसात्मक स्थल तक पहुँचानेवाले वा उसका अनुभव कराने में सहायक होनेवाले इतिवृत्त मात्र के वर्णन से युक्त पद्यों में भी रसवत्ता बतलाई है। आचार्य शुक्ल इसका समर्थन करते हैं।—( देखिए जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९२ )।

ऊपर रसात्मक स्थलों का उल्लेख हुआ है। वे क्या हैं? आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं।

यह समझिए कि काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिए होती है। इन रसात्मक स्थलों को लाने के लिए कवि-कर्म अपेक्षित होता है। कवि को चाहिए कि इतिवृत्त इस ढंग से ले चले जिसमें उसमें मानव-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल, जिनके द्वारा हृदय में भावों का उन्मेष होता है, स्वयं आते जायँ।--( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९१-९२ )।

यह कहा गया है कि रसात्मक स्थल ही प्रबंध-काव्य की गति में विराम उपस्थित करते हैं। यह विराम किस प्रकार का होता है, यह भी देखा जा चुका। कुछ काव्य ऐसे प्राप्त हैं जिनमें कवि ने केवल अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए विराम लिए हैं, जिनके द्वारा कवि की जानकारी के अतिरिक्त किसी प्रकार का रसात्मक अनुभव नहीं होता। आचार्य शुक्ल ऐसे विरामों की स्थिति का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि 'केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए, केवल जानकारी प्रकट करने के लिए, केवल अपनी रुचि के अनुसार असंबद्ध प्रसंग छेड़ने के लिए या इसी प्रकार की और बातों के लिए जो विराम होता है वह अनावश्यक होता है।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९९-१०० ) विरामों वा रसात्मक स्थलों की योजना वस्तु-व्यापार-वर्णन तथा भाव-व्यंजना के लिए होती है, इसका निर्देश ऊपर हुआ है। यह वस्तु-व्यापार-वर्णन प्रायः कवि द्वारा होता है और भाव-व्यंजना पात्र द्वारा होती है।—( देखिए जायसी-ग्रंथावली, पृ० १०३ )।

काव्य में वस्तु-व्यापार-वर्णन दो रूपों में प्राप्त होता है, एक तो केवल वस्तुओं की गिनती गिनाने के रूप में और दूसरे बिंब-ग्रहण कराने वा उनका चित्र खड़ा करने के रूप में। आचार्य शुक्ल काव्य में वस्तु व्यापार-वर्णन सदैव बिंब-ग्रहण कराने के पक्षपाती हैं, अतएव वस्तु-व्यापार-वर्णन के लिए वे बिंब-ग्रहण करानेवाली पद्धति के ही समर्थक हैं, जिसमें कवि वर्ण्य वस्तु के एक-एक ब्योरे पर दृष्टि रखकर उसका संश्लिष्ट चित्रण करके रूप खड़ा करता है। वे वस्तु-परिगणना-पद्धति के समर्थक कदापि नहीं थे।

कहा जा सकता है कि बहुधा वस्तु-व्यापार-वर्णन के वर्णनीय स्थल अनेक काव्यों में एक ही होते हैं। इस स्थित में वर्णन में नवीनता कहाँ से आ सकती

है ! आचार्य शुक्ल का मत है कि "नवीनता की संभावना तो कवि के निज के निरीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं और व्यापारों की संश्लिष्ट योजना में ही हो सकती है। सामग्री नई नहीं होती, उसकी योजना नए रूप में होती है।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृ० १०४)। इसी को संस्कृत के आचार्यों ने इस प्रकार से कहा है—

"त एव पदविन्यासास्ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात् ॥"

वस्तु-व्यापार-वर्णन पर विचार करने के पश्चात् अब भाव-व्यंजना पर आइए। यह कहा जा चुका है कि भाव-व्यंजना पात्रों द्वारा होती है। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि "भाव-व्यंजना का विचार करते समय दो बातें देखनी चाहिएँ—( १ ) कितने भावों और गूढ़ मानसिक विकारों तक कवि की दृष्टि पहुँची है। ( २ ) कोई भाव कितने उत्कर्ष तक पहुँचा है।" ( जायसी-ग्रंथावली, पृ० १२३ )।

**भाव-व्यंजना**

अब केवल प्रबंध-काव्य के एक अवयव संवाद पर और विचार करना है। प्रबंध-काव्य में संवादों की संस्थिति नवीन नहीं है, यह प्राचीन ही है, 'रामचरितमानस' 'पदमावत' रामचंद्रिका' आदि काव्यों में यह बराबर मिलती है। प्राचीन काव्यों के संवादों की शैली सीधी-सादी और स्वाभाविक है। हाँ, 'रामचंद्रिका' के संवादों की पद्धति में कुछ बाँकपन अवश्य है। आधुनिक प्रबंध-काव्यों की संवाद-पद्धति में कुछ विशेष तड़क-भड़क वा चटपटापन रहता है। इसका करण आधुनिक युग की विशिष्ट रचना उपन्यास-कहानी से प्रबंध-काव्यों का प्रभावित होना है। आचार्य शुक्ल प्रबंध-काव्यों में इस प्रकार के संवादों की अधिकता के पक्षपाती नहीं हैं। वे कहते हैं—"आधुनिक प्रबंध-काव्यों के प्रणेता प्रायः संवादों को ही, आकर्षण की वस्तु समझ, प्रधानता दिया करते हैं। कथा-प्रवाह को मार्मिक बनाने का प्रयत्न वे नहीं करते।" —( इंदौरवाला भाषण, पृ० ७८ )। डाक्टर केर ( W. P. Ker ) ने भी इस विषय में ऐसी ही बातें कही हैं।—( देखिए वही )। यहाँ ध्यान देने की

**संवाद**

बात यह है कि संवाद से उनका तात्पर्य आधुनिक कथोपकथन से है, जो कथा-साहित्य की प्रधान विशेषता मानी जाती है।

व्यापक काव्य-विषय की अभिव्यक्ति के लिए कवि प्रबंध और मुक्तक काव्य का अवलंबन लेता है। प्रबंध-काव्य का विचार तो हो चुका, अब मुक्तक पर विचार करना है। विषय की परिमिति की दृष्टि से मुक्तक

मुक्तक काव्य

का स्वरूप यह है कि वह स्वच्छंद होता है, उसका विषय पूर्वापर-संबंध-विच्छिन्न होता है, वह अपने में ही पूर्ण होता है। आचार्य शुक्ल के प्रबंध और मुक्तक पर किये गये इस तुलनात्मक विचार से सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं—"मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध-काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभासमाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ कुछ क्षणों के लिए मंत्र मुग्ध सा हो जाता है, इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।"—(इतिहास, पृ० २९८–२९९)। इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबंध की अपेक्षा मुक्तक की सीमा छोटी तथा उसका प्रभाव क्षणिक है। उसमें प्रबंध की भाँति वर्णन वा दृश्य की स्थानगत विशेषता पर दृष्टि नहीं रहती, क्योंकि उसमें प्रायः एक छोटा वा बड़ा दृश्य मात्र होता है। मुक्तक के विषय में आचार्य शुक्ल ने सर्वत्र ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६२ और जायसी-ग्रंथावली, पृ० ९१)।

कुछ लोग मुक्तक तथा प्रगीत मुक्तक (लीरिक्स) को एक ही मानते हैं। पर बात ऐसी नहीं है, दोनों का भेद स्पष्ट है। प्रगीत मुक्तक की सब से प्रधान

**मुक्तक तथा प्रगीत मुक्तक**

विशेषता है, उसमें वैयक्तिक तत्त्व (सब्जेक्टिव एलिमेंट) की पूर्ण अवस्थिति, जो मुक्तकों में—जैसे, सूर-तुलसी आदि कवियों के—नहीं दिखाई देती और यदि कहीं दिखाई देती भी है तो अत्यन्त विरल रूप में। हिंदी में भी प्रगीत मुक्तकों की चाल हो जाने से मुक्तकों से उसका पार्थक्य स्पष्ट हो गया है। यह तो निश्चित है कि प्रगीत मुक्तकों का प्रचलन पाश्चात्य देशों के अनुकरण पर हुआ है। उन लोगों ने शुद्ध प्रगीत मुक्तकों (टिपिकल लीरिक्स) के अनेक लक्षण निर्धारित किये हैं। जिनमें से कुछ ये हैं—मध्यकालीन वैभवपूर्ण जीवन का चित्रण, वैयक्तिक तत्त्व की स्थिति, निराशावाद का संनिवेश, संगीत की प्रधानता, अभिव्यंजना शैली की कलात्मकता आदि। हिंदी में जब प्रगीत मुक्तकों की चाल चली तब उनमें भी इन विशेषताओं की संस्थिति के दर्शन विशेष रूप से होते थे और कुछ में अब भी होते हैं। प्रगीत मुक्तक के नाम पर हिंदी में कुछ कविताएँ ऐसी भी प्रस्तुत की जाती हैं, जो केवल मुक्तकों की ही श्रेणी में रखी जायँगी, क्योंकि उनमें अभिव्यंजनाशैली की कलात्मकता के अतिरिक्त प्रगीत मुक्तक की अन्य विशेषताएँ बहुत कम दिखाई देती हैं या दिखाई ही नहीं देतीं।

**स्वानुभूति निरूपक तथा बाह्यार्थनिरूपक काव्य**

यूरोपवाले विषय की दृष्टि से काव्य को स्वानुभूतिनिरूपक (सब्जेक्टिव) और बाह्यार्थनिरूपक (ऑब्जेक्टिव) दो श्रेणियों में रखते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी कहीं-कहीं इस भेद को सामने करके अपने आलोच्य कवियों पर विचार किया है; जैसे, सुभीते के विचार से तुलसी की कविता का उन्होंने इसको सामने रखकर वर्गीकरण किया है, और वहीं यह भी कहा है कि "प्रबंध-काव्य सदा बाह्यार्थ-निरूपक होता है।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८४-८५)। प्रगीत मुक्तकों (लीरिक्स) को वे अंतर्वृत्ति-निरूपक मानते ही हैं। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने सुभीते के लिए कहीं-कहीं काव्य को इन दो श्रेणियों में रख दिया है, तथापि वे इन श्रेणियों को स्थूल दृष्टि से निर्धारित ही बतलाते हैं। पेटर (Pater) ने भी इन्हें स्थूल वर्गीकरण ही माना है।—देखिए (गोस्वामी तुलसीदास पृ० ८६)। आचार्य शुक्ल के अनुसार "यहाँ पर यह सूचित कर देना आवश्यक है कि 'स्वानुभूति-निरूपक' और 'बाह्यार्थ-निरूपक' यह भेद स्थूल दृष्टि से ही

किया हुआ है। कवि अपने से बाहर की जिन वस्तुओं का वर्णन करता है, उन्हें भी वह जिस रूप में आप अनुभव करता है उसी रूप में रखता है। अतः वे भी उसकी स्वानुभूति ही हुई।" इसके अतिरिक्त "जिस अनुभूति की व्यंजना को श्रोता या पाठक का हृदय भी अपनाकर अनुरंजित होगा वह केवल कवि की ही नहीं रह जायगी, श्रोता या पाठक की भी हो जायगी।"—( गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८६)। आधुनिक विशिष्ट समालोचक एबरक्राबी का भी यही मत है कि कवि जिस वस्तु का वर्णन करता है उसे वह पहले देखता है और देखने से उसे जो अनुभूति होती है, उसे व्यक्त करता है, इस प्रकार वह वर्णन स्वानुभूति से ही संबद्ध है*। अंतर्वृत्तिनिरूपक कविता में तो उसकी अनुभूति होगी ही।

काव्य में वर्णित विषय को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल ने उसका एक और विभाजन किया है, जो सर्वथा उपज्ञात ( ओरिजिनल ) है। वे काव्य को
इन दो श्रेणियों में रखते हैं—"( १ ) आनंद की साधना-
आनंदकी सिद्धा- वस्था वा प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले, ( २ ) आनंद
वस्था और साधना- की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले।"—
वस्था वाले काव्य ( चिंतामणि, पृ० २९२ )। "आनंद की साधनावस्था वा
प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—
हिंदी में रामचरित-मानस, पदमावत ( उत्तरार्द्ध ), हम्मीररासो, पृथ्वीराज-रासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबंध काव्य, भूषण आदि कवियों के वीररसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीरगाथात्मक गीत···।" (वही, पृ० २९३)।

---

*I do not give you my experience of looking at a landscape if my words merely represent what I have seen, nor if they merely express my feeling, if this experience is to be matter of literature, it must be the experience whole and entire both what I saw and what I felt in perfect combination.

—Loscelles Abercrombie M. A.' s *Principles of Literary Criticism*, p. 34

"आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों के उदाहरण हैं—हिंदी में सूरसागर, कृष्णभक्त कवियों की पदावली, बिहारीसतसई, रीतिकाल के कवियों के फुटकल शृंगारी पद्य, रासपंचाध्यायी ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएँ।"—(वही, पृ० २९४) आचार्य शुक्ल आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों को आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं, जिनमें (प्रथम प्रकार के काव्यों में) शृंगार वा करुण भाव बीज रूप से वर्णित रहता है।

काव्य-लक्ष्य

अब काव्य के लक्ष्य पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। जिस प्रकार काव्य के स्वरूप वा परिभाषा के विषय में काव्य-मर्मज्ञ शताब्दियों से विचार करते आ रहे हैं, पर अभी तक उसकी कोई एक परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकी, उसी प्रकार 'काव्य का लक्ष्य क्या है' इसके विषय में भी शताब्दियों से विचार होता आ रहा है, परंतु अभी तक कोई एक लक्ष्य निर्धारित नहीं हो सका। विभिन्न देश और काल के साहित्य-मर्मज्ञ अपनी परंपरा और संस्कृति के अनुसार उसका लक्ष्य भी विभिन्न ही बतलाते हैं। इस प्रकार इस विषय में 'इदमित्थम्' का कथन नहीं हो सकता, पर यह निश्चित है कि काव्य का लक्ष्य कुछ न कुछ है अवश्य। जो लोग काव्य का लक्ष्य कुछ न मानकर उसका लक्ष्य उसी को मानते हैं, उनकी बातों तक में भी इसका कुछ न कुछ लक्ष्य है ही।

आनंद

हमारे विचार से जिस प्रकार यह जगत् और जीवन अनेकरूपात्मक है—जिस प्रकार इसके अनेक पक्ष हैं—उसी प्रकार काव्य का लक्ष्य भी अनेकरूपात्मक है—यदि सच्चे काव्य का प्रवेश जगत् और जीवन के सभी क्षेत्रों में सात्त्विकतापूर्वक माना जाय तो इसका लक्ष्य जगत् और जीवन के अंतर्बाह्य सभी रूपों में अपना स्वरूप प्रकट करता हुआ दिखाई दे सकता है। जगत् और जीवन की अनेकरूपता के समान ही काव्य के लक्ष्य की भी अनेकरूपता के साथ यदि जगत् और जीवन का कोई परम लक्ष्य निर्धारित हो तो काव्य का भी परम

लक्ष्य निश्चित हो सकता है। ऐसा निश्चय हुआ भी है। कुछ भारतीय दार्शनिक जीवन का परम लक्ष्य ब्रह्मानंद की अनुभूति मानते हैं। भारतीय साहित्या-चार्यों ने भी काव्य का परम लक्ष्य रसानुभूति माना है, जो ब्रह्मानंद की अनु-भूति के समान ही है, जो ब्रह्मानंद-सहोदर है। अन्य देश के साहित्य-मर्मज्ञों ने भी काव्य का परम लक्ष्य किसी न किसी रूप में आनन्द ही माना है।

यहाँ हमें आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित काव्य के लक्ष्य पर विचार करना है। काव्य के लक्ष्य पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है, एक तो काव्य-विधान की दृष्टि से और दूसरे जीवन के साथ उसके सम्बन्ध की दृष्टि से। पहले काव्य-विधान की दृष्टि से उस पर विचार करना सुविधाजनक होगा, क्योंकि इससे होकर ही उसका सम्बन्ध जीवन से स्थापित होता है।

काव्य-लक्ष्य और काव्य-विधान

कवि की काव्य-रचना की प्रवृत्ति के मूल में आत्मतोष ही नहीं निहित रहता, पर-तोष भी निहित रहता है। देखा तो यह जाता है कि द्वितीय भावना की उसमें अधिकता होती है। 'स्वांतः-सुखाय' रचना करने-वाले कवियों की दृष्टि, यदि प्रत्यक्षतः नहीं तो परोक्षतः ही सही, 'परांतः-सुखाय' पर भी अवश्य रहती है। ऐसे कवियों को भी यह इच्छा रहती है कि कोई हमारी रचना देखे-सुने और इसके विषय में कुछ कहे—प्रायः अनुकूलवेदनीय बातें। तात्पर्य यह कि कवि का मन भी 'एकोऽहं बहुस्याम्' का अभिलाषी होता है। उसका मन भी उसके काव्य को देखने-सुनने के लिए, सहृदय श्रोता वा पाठक की अपेक्षा रखता है। सारांश यह कि कवि का लक्ष्य अपने काव्य को दूसरों तक पहुँचाना होता है, उसकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। वस्तुतः इसी प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर काव्य-विधान के सभी रूप काव्य-क्षेत्र में स्थापित किये गये हैं। काव्य के सभी संप्र-दायवालों का यह लक्ष्य रहा है कि कवि की रचना सहृदय, पाठक वा श्रोता तक पहुँचे। इस प्रकार काव्य में प्रेषणीयता (काम्यूनिकेबिलिटी) का सिद्धांत सर्वप्रथम आता है। बिना प्रेषण के काव्य का कोई प्रभाव पाठक वा श्रोता पर नहीं पड़ सकता। प्रेषण के पश्चात् ही वह उससे प्रभावित होकर उसके

प्रेषणीयता

विषय में कुछ कह-सुन सकता है। आचार्य शुक्ल ने भी प्रेषण को काव्य (वा काव्य-विधान) का लक्ष्य माना है—"एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है। ( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १०४ )। कवि की हृद्गत् अनुभूति, भाव वा विचार की प्रेषणीयता पर गोस्वामी तुलसीदास ने भी ध्यान दिया है। वे भी इसके पक्षपाती हैं। वे कहते हैं—

मनि-मानिक-मुकुता-छबि जैसी। अहि, गिरि, गज-सिर सोह न तैसी।
नृप-किरीट तरुनी-तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसइ सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

कवि की कविता कवि तक ही रहकर शोभा को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत वह दूसरे तक—पाठक वा श्रोता तक—पहुँचकर शोभित होती है। आधुनिक अँगरेज समीक्षक एबरक्रांबी, जिनके बहुत से काव्य-सम्बन्धी विचार भारतीय काव्य-सिद्धांतों से मेल खाते हैं, बिना प्रेषण के साहित्य की स्थिति ही नहीं मानते। उनका कथन है कि जिस साहित्य में प्रेषण-शक्ति नहीं, वह साहित्य ही नहीं है। उनके विचार से कवि की अनुभूति पाठक वा श्रोता तक पहुँचनी ही चाहिए*।

काव्य वा कला के लक्ष्य प्रेषण पर विचार करने के पश्चात् उसकी पद्धति वा प्रक्रिया पर भी विचार करना चाहिए। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"इसके

* For evidently, whatever else literature may be, communication it must be: no communication, no literature...... The art consists in the communication established between author and reader (or, of course, hearer)··········literature communicates experience: that is to say, the experience which lived in the author's mind must live again in the reader's mind......The experience itself must be given, transplanted from one mind to another.

—Lascelles Abercrombie M. A.'s *Principles of Literary Criticism*.

प्रेषण की प्रक्रिया

लिए (प्रेषण के लिए) दो बातें अपेक्षित होती हैं। भाव-पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत संबंधों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर, लोक-सामान्य भावभूमि पर प्राप्त होना ( Impersonality and detachment) । कला या विधान-पक्ष में उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा-कौशल।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १०४ )। अर्थात् प्रेषण के लिए कवि में अनुभूति और उसको पाठक या श्रोता तक पहुँचाने के लिए समुचित भाषा, इन दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है। अनुभूति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं वह जैसी भी होगी उसे तो भाषा में आकर पाठक और श्रोता तक जाना ही है।

कवि-हृदयगत मूल अनुभूति तथा भाषा में आई अनुभूति में बड़ा भेद हो जाता है। हृदय की अनुभूति ज्यों की त्यों भाषा में नहीं आ सकती। उसकी अभिव्यक्ति भाषा द्वारा पूर्णरूप से नहीं हो सकती। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"पर यह भी निश्चय समझना चाहिए कि जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में व्यंजना कभी हो नहीं सकती। उसे प्रेषणीय बनाने के लिए—दूसरों के हृदय तक पहुँचाने के लिए—भाषा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और की और हो जाती है। इसी से बहुत सी दिव्य और सुंदर अनुभूतियों को कवि यों ही छोड़ देते हैं, उनकी व्यंजना का प्रयास ही नहीं करते।"—( काव्य में रहस्यवाद पृ० ७९-८० )। अँगरेज समालोचक एबरक्राबी का भी विचार इस विषय में ऐसा ही है*। ऐसी स्थिति में कवि में 'प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा-कौशल' की आवश्यकता होती है। उसकी भाषा इतनी सशक्त होनी चाहिए कि वह अत्यधिक अंश में अपने हृदय की अनुभूति को श्रोता या पाठक तक पहुँचा

---

*Literature communicates experience : but experience does not happen in language.

—Lascelles Abercrombie M. A's *Principles of Literary Criticism*

सके। ऐसा करके ही वह सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। एबरक्रांबी का कथन है कि ऐसी भाषा का प्रयोग, जिसके द्वारा कवि की अनुभूति श्रोता वा पाठक तक नहीं पहुँची, चाहे वह उसे उस प्रकार की भाषा द्वारा अपने लिए कितना ही स्पष्ट समझे, साहित्य नहीं कहला सकता। तात्पर्य यह कि अनुभूति की अभिव्यक्ति श्रोता वा पाठक पर अवश्य होनी चाहिए*।

प्रेषण की सिद्धि के लिए प्रयोग हो तो किस प्रकार की भाषा का? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह तो कवि की अभिव्यंजन-पद्धति पर निर्भर है। वह सीधे-साधे शब्दों द्वारा भी अनुभूति के अत्यधिक अंश को श्रोता वा पाठक पर व्यक्त कर सकता है और वक्रोक्ति द्वारा भी, जिसके अंतर्गत सारी शब्द-शक्तियाँ और सभी अलंकार आ सकते हैं। इसकी सिद्धि के लिए एबरक्रांबी ने प्रतीकात्मक भाषा ( सिंबालिक लैंग्वेज ) के प्रयोग की अनुमति दी है†! सच बात तो यह है कि इस कार्य में वही कवि सफल हो सकता है, जिसकी आज्ञा मात्र से उसके संमुख वाच्य वाचकमय वाणी की सेना खड़ी हो सकती हैं, और वह उसका उपयोग अपने इच्छानुसार करता है‡।

कवि की अनुभूति वाणी के साधन ( मीडियम ) से जब श्रोता वा पाठक तक पहुँचती है तब उसका कोई न कोई प्रभाव जीवन पर अवश्य पड़ता है।

---

*If the language he uses does not represent his experience to his readers, not matter how clearly it expresses this to himself, it does not succeed in being literature: it does not succeed as communication.

—Lascelles Abercrombie M. A.'s *Principles of Literary Criticism P. 63*

† देखिए वहीं, पृ० ३६–३७

‡ अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती
यस्याज्ञयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते द्राग् वाच्यवाचकमयः प्रतनानिवेशः।

काव्य-लक्ष्य और जीवन जगत्

अतः जीवन के साथ काव्य के संबंध की दृष्टि से उसका (काव्य का) क्या लक्ष्य है, इसे भी देख लेना चाहिए। यह सर्वविदित है कि आचार्य शुक्ल काव्य को जगत् और जीवन से परे की वस्तु नहीं मानते, उनके मत्यनुसार काव्य का जगत् और जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः उनकी धारणा है कि काव्य का लक्ष्य भी इनसे संबद्ध है। वे कलावादियों की भाँति यह नहीं मानते कि काव्य वा कला का लक्ष्य वह स्वयंही है, जगत् और जीवन से उसका कोई संबंध नहीं। इसी प्रकार वे इसके भी पक्षपाती नहीं हैं कि काव्य और सदाचार का कोई संबंध नहीं है, जैसा कि कलावादी मानते हैं। उनका कथन है कि यदि काव्य और सदाचार का संबंध न होता तो भारतीय आचार्य रसानुभूति को 'सत्त्वोद्रेकात्' (सत्त्वोद्रेक के कारण) न मानते; रसानुभूति सत्त्व गुण से संबद्ध है, जिसका लगाव सदाचार से है, दुराचार से नहीं। दुराचार का संबंध तो रजोगुण तथा तमोगुण से है।—(देखिए इंदौरवाला भाषण, पृ० ३७-४०)।

रीतिकाल के काव्य की छीछालेदर होने के कारण—उसका लक्ष्य गिर जाने के कारण—उस काल के अंतिम भाग से लेकर आधुनिक काल के आरंभिक भाग तक लोगों के हृदय में यह भावना बद्धमूल होने लगी थी कि काव्य का कोई ऊँचा लक्ष्य नहीं है, वह ठाले बैठे लोगों की वस्तु है। उसका उद्देश्य मनोरंजन वा विलास की ओर प्रेरित करना है। व्यावहारिक जीवन में—जीवन की यथार्थता में—उसका कोई स्थान नहीं। उपर्युक्त दोनों कालों के मध्य में परिस्थिति भी ऐसी थी की इस प्रकार की भावना का उदय होना स्वाभाविक ही था। आज की अपेक्षा उस काल में धन-धान्य की अधिक संपन्नता के कारण लोगों में विलास की तथा मनोरंजन की प्रवृत्ति भी विशेष थी। आचार्य शुक्ल काव्य का लक्ष्य केवल मनोरंजन ही नहीं मानते, वे यह नहीं मानते कि काव्य का अंतिम लक्ष्य विलास की सामग्री उपस्थित करना है। वे कहते हैं—"मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनंद पहुँचाना, ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।"—(चिंतामणि, पृ० २२३)। उनका कथन है कि काव्य का लक्ष्य

इससे ऊँचा है, वह इससे आगे की वस्तु है—"अतः यह धारण कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव-प्रसाद द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।"—( वही, पृ० २१६ )। काव्य के इस प्रकार के उद्देश्य-कथन से यह विदित हो जायगा कि यह ठाले बैठे निष्क्रिय लोगों की वस्तु नहीं है।

आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित काव्य का लक्ष्य यहीं आकर स्थिर नहीं हो जाता। वे काव्य का लक्ष्य इससे भी ऊँचा बतलाते हैं। उनका मत है कि काव्य लोकबद्ध प्राणी मनुष्य के कुंठित भावों का उद्बोधन, काव्य-लक्ष्य और उनका परिष्कार और प्रसार करता है। जो व्यक्ति किसी के हृदयकी मुक्तावस्था दुःख से दुखी नहीं होता, जो अपने व्यापार की कठोरता में भी जकड़ा हुआ दीन-दुखियों की पुकार पर कान नहीं देता, जिसका हृदय बेकार हो गया है, ऐसे मानसिक रोगियों की दवा कविता है। कविताद्वारा ऐसे व्यक्ति पुनः अपने हृदय की प्रकृतावस्था को प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार कविता हृदय को प्रकृतावस्था में लाकर मानव के साथ मानव का समुचित संबंध स्थापित करती है। वह उसे एक दूसरे के सुख-दुःख में योग देने के योग्य बनाती है। इस प्रकार इसके द्वारा हृदय का विस्तार हो जाता है, जो मानवता की उच्चभूमि का परिचायक है।—( देखिए वही पृ० २१७--२१९ )।

भारतीय आचार्यों ने काव्य का परम लक्ष्य उसके द्वारा रसानुभूति माना है, जो ब्रह्मानंद-सहोदर है। आचार्य शुक्ल भी काव्य का परम वा अंतिम लक्ष्य उसके द्वारा हृदय का मुक्तावस्था में स्थित होना मानते हैं, जिसमें वह 'मेरा-तेरा' के व्यक्तिगत संकुचित संबंध से छूटकर अपनी शुद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है और तब उसे सब कुछ अपना ही—सर्वभूत आत्मभूत प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल रसानुभूति को इसी रूप में मानते हैं। काव्य का लक्ष्य बतलाते हुए वे कहते हैं—"काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकाल-वर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे

उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय, से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म के साथ, और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य घटित हो जाता है।—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ५०–५१ ]। काव्य के परम लक्ष्य के विषय में आचार्य शुक्ल ने सर्वत्र यही बात कही है।

हम ने कई स्थलों पर देखा है कि आचार्य शुक्ल सामंजस्यवादी हैं। वे बाह्य वा आभ्यंतर जगत् के सभी रूपों तथा भावों का चित्रण काव्य में अपेक्षित समझते हैं। प्रकृति के सुंदर, भयावह आदि दोनों प्रकार के रूपों वा व्यापारों के तथा हृदय के कोमल, परुष आदि दोनों प्रकार के भावों के चित्रण के वे पक्ष-पाती हैं, क्योंकि जीवन और जगत् में इन दोनों प्रकार के रूपों वा व्यापारों और भावों की स्थिति है। यह नहीं कि वाह्य या आभ्यंतर प्रकृति में इनमें से केवल एक ही प्रकार के रूपों का वा भावों का अस्तित्व हो। इस प्रकार बाह्य वा आभ्यंतर दोनों प्रकृतियों में इन दो विषय वा जटिल वस्तुओं का समावेश है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि इन जटिल भावों वा रूप-व्यापारों में सामंजस्य स्थापित करना काव्य का परम मूल्य है—'न तो अंतःप्रकृति में एक ही प्रकार के भावों या वृत्तियों का विधान है और न वाह्य प्रकृति में एक ही प्रकार के रूपों या व्यापारों का। भीतरी और बाहरी दोनों विधानों में घोर जटिलता है। इन्हीं जटिलताओं का, इन्हीं परस्पर संबद्ध विविध वृत्तियों का, सामंजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सब से बड़ा मूल्य है। सामंजस्य काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मंत्र है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १३–१४ तथा वही, पृ० २ )।

आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित काव्य के लक्ष्य को देखने से विदित होगा कि वे काव्य को उपयोगितावादी दृष्टि से देखते हैं और जिस उपयोगितावाद की दृष्टि से देखते हैं उसकी परिमिति संकुचित नहीं है, विस्तृत है। वे काव्य की उपयोगिता केवल मनोरंजन वा विलास की सामग्री प्रस्तुत करने तक ही नहीं मानते, प्रत्युत वे उसको उस रूप में देखते हैं, जिसके द्वारा मानव-जीवन

काव्य-लक्ष्य तथा उपयोगितावाद

में सक्रियता आती है, जिससे वह मनुष्यता की उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित होता है, जिससे उसके हृदय का विस्तार हो जाता है और वह सब को अपना समझता है—सर्वभूत को आत्मभूत कर लेता है। प्राचीन आचार्य काव्य की जिस 'रसानुभूति' को उसका चरम लक्ष्य कहते हैं उसे ही आचार्य शुक्ल भी काव्य का परम लक्ष्य मानते हैं, पर उनकी रसानुभूति वा काव्यानंद की व्याख्या से भिन्न है। प्राचीन आचार्य तो उसे ब्रह्मानंद-सहोदर या लोकोत्तर आनंद कहते हैं, पर आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था वा उसके प्रकृतावस्था में स्थित होने को ही रसानुभव वा काव्यानद की स्थिति मानते हैं।

**काव्य और प्रकृति-चित्रण**

'उपक्रम' में हम ने आचार्य शुक्ल के अनन्य प्रकृति-प्रेम तथा उनके द्वारा उसके गूढ़ निरीक्षण पर विचार किया है। वहीं हमने यह संकेत भी किया था कि इस प्रकृति-प्रेम तथा इसके निरीक्षण की प्रवृत्ति के कारण वे काव्य में इसके विशेष महत्त्व के प्रतिष्ठापक हैं। यहाँ हम आचार्य शुक्ल के विचारों को दृष्टि में रखकर काव्यगत प्रकृति (वा काव्य और प्रकृति) पर विचार करेंगे।

जिसे हम जगत् कहते हैं, उसमें मनुष्यकृत कृत्रिम वस्तु-व्यापारों के अतिरिक्त जो कुछ स्वाभाविक है, वह सब प्रकृति ही है। इसे यों कहें तो और स्पष्ट हो जाय कि जगत् के वस्तु-व्यापार, क्रिया-कलाप आदि प्रकृति के क्षेत्र में ही चलते हैं; उस प्रकृति में, जिसे मानव ने अपनी सुविधा के लिए कुछ परिवर्तित कर लिया है। पर प्रकृति बहुत विस्तृत है और मानव की पहुँच अभी तक उतनी अधिक नहीं कि वह उसे सर्वत्र अपनी सुविधा के अनुकूल मोड़ ले, इसलिए अब भी शुद्ध प्रकृति का क्षेत्र बहुत ही व्यापक और विस्तृत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार का कार्य प्रकृति के रंगमंच पर ही चलता है, संसार प्रकृति में ही स्थित है, पर जिस प्रकृति में स्थित है, उसका रूप कुछ परिवर्तित हो गया है, पर समूची प्रकृति परिवर्तित नहीं है, वह अपने शुद्ध रूप में भी बड़े ही विस्तृत और विशाल आधार में वर्तमान है। काव्य के साथ जब प्रकृति का नाम आता है तो उसमें प्रायः इसी शुद्ध प्रकृति का तात्पर्य होता है।

वैसे तो मनुष्य प्रकृति का ही प्राणी है, पर वह अपनी विशेषताओं तथा इनके द्वारा निर्मित छोटे-बड़े क्रिया-कलापों के कारण प्रकृति के अन्य प्राणियों से अपना कुछ विशिष्ट या पृथक् स्थान रखता है। "प्रकृति के प्राणी" कह देने पर अब उसका स्वतः बोध नहीं होगा, [illegible] [illegible] और [illegible] ही स्थगित हो गया है। इसीलिए [illegible] का [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विषय माना जाता है। आचार्य शुक्ल ने भी केवल मनुष्य-रूप के [illegible] का उल्लेख किया है, [illegible] [illegible] पर विचार करते हुए [illegible] [illegible] [illegible] चुके है। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य [illegible] [illegible] एक विशिष्ट प्राणी हो गया है और उसकी गणना इतर प्राणियों से पृथक् होने लगी है।

मनुष्य की ही भाँति चेतन, पर निम्न कोटि के जन्तुओं को प्रकृति में रखते हैं, जिनके अंतर्गत विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि आते हैं। शुद्ध प्रकृति की सीमा में इन मनुष्येतर चेतन प्राणियों की भी गणना होती है, और इन पर भी कविता की जाती है, ये भी काव्य के विषय बनते हैं।

इन चेतन प्राणियों के अतिरिक्त प्रकृति में अचेतन या जड़ वस्तुएँ भी हैं, जो नदी, निर्झर, पहाड़, टीले, पत्थर, समुद्र, मेघ, उषा, सूर्य, चन्द्र आदि विभिन्न रूपों में दृष्टिगत होती हैं। प्रकृति का यही विभाग या इसके ये ही रूप मनुष्य को अपनी ओर प्रधान रूप से आकर्षित करते हैं। अतः ऐसा माना जाता है कि काव्य में इन्हीं का वर्णन विशेष प्राप्त होता है। वस्तुतः काव्यगत प्रकृति-चित्रण के अंतर्गत उसके (प्रकृति के) प्रायः ये ही रूप अब तक समझे गए हैं। इन रूपों के संबंध से ही मनुष्येतर चेतन प्राणियों का भी चित्रण काव्य में मिलता है। बिना प्रकृति के इस जड़ रूप के चित्रण के उपर्युक्त चेतन प्राणियों का चित्रण सुन्दर नहीं प्रतीत होता, जड़ प्रकृति ही चेतन प्रकृति के चित्र की पीठिका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति से प्रायः मनुष्येतर चेतन प्राणी तथा जड़ वस्तुओं का बोध होता है, जिनका स्वरूप ऊपर देखा गया है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की सीमा के अंतर्गत आचार्य शुक्ल भी प्रायः इन्हीं दो रूपों का ग्रहण मानते हैं। इस विषय में एक बात और कहनी है। प्रकृति के इन रूपों का चित्रण करनेवाला मनुष्य होता है, इसलिए कभी-कभी प्रकृति-चित्रण के

साथ मनुष्य के संबंध की चर्चा भी आ जाती है। वस्तुतः बात तो यह है कि मनुष्य और प्रकृति का संबंध अन्योन्याश्रित है, दोनों का पारस्परिक बिलगाव संभव नहीं। अतः ऐसा होना स्वाभाविक है।

'प्रकृति की ओर लौट चलो'

पाश्चात्य विकासवादी वा भारतीय दोनों दृष्टियों से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज के नगरों की सभ्यता जंगल, वन, पहाड़, नदी तट आदि प्राकृतिक स्थलों से होकर इस रूप में दिखाई पड़ रही है। विकासवादी मानते हैं कि मानव अपने बुद्धि-बल का विकास करते-करते वनों-जंगलों की असभ्यावस्था से सभ्यावस्था में आकर नगरों में बसा; और भारतीय इस पर आस्था रखते हैं कि हमारी सभ्यता का निर्माण और विकास वनों-जंगलों, नदी-तटों पर हुआ, और आज की नागरिक (नगर की) सभ्यता उसी वन्य सभ्यता के आधार पर स्थित है, जो वन में ही अपनी पूर्णावस्था पर थी। अस्तु, हमारा लक्ष्य यहाँ सभ्यता के विकास का विवेचन करना नहीं है; प्रत्युत हम यह दिखाना चाहते हैं कि आज का मानव प्रकृति के क्षेत्र से ही होकर यहाँ तक आया है। प्रकृति के जड़चेतन वस्तु वा प्राणी उसके कभी अपने रह चुके हैं, वह इनके साथ निवास कर चुका है। वह प्रकृति का सहचर रह चुका है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि मनुष्य अपनी सभ्यता से बाध्य होकर प्रकृति से दूर चला आया, इससे उसका असली रूप ढँक गया, पर कभी-कभी उसकी ओर जाना अपने असली रूप का उद्घाटन करना है, क्योंकि वे मानते हैं कि मानव प्रकृति का प्राचीन सहचर है। उनका मत है कि ऐसा करने से उसे ज्ञात होगा कि वह प्रकृति से छूटकर कितना क्रूर और निष्ठुर हो गया है। वे कहते हैं कि "ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी सभ्यता की झोंक में इन प्राचीन सहचरों से दूर हटता हुआ अपने क्रिया-कलाप को कृत्रिम आवरणों से आच्छन्न करता जा रहा है त्यों-त्यों उसका असली रूप छिपता चला जा रहा है। इस असली रूप का उद्घाटन तभी हुआ करेगा जब वह अपने बुने हुए बने जाल- के घेरे से निकल कभी-कभी प्रकृति के अपार क्षेत्र की ओर दृष्टि फैलाएगा और अपने इन पुराने सहचरों के संबंध का अनुभव करेगा। अपने घेरे से बाहर की क्रूरता और निष्ठुरता के अभ्यास का परिणाम

अंत में अपने घेरे के भीतर प्रगट होता है।" —( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १९ )। इस उद्धरण से विदित होता है कि प्रकृति से दूर पड़े मानव की सभ्यता क्रूर और निष्ठुर हो गई। इसका अनुभव उसे तब हो सकता है जब वह कभी-कभी प्रकृति की ओर जाय; वहाँ की जड़-चेतन वस्तुओं का पारस्परिक सौहार्द्र देखे।

कुछ ऐसे ही विचार फ्रांस की राज्यक्रांति में सक्रिय योग देनेवाले प्रसिद्ध लेखक जीन जैक्स रूसो के भी थे। बात यह हुई कि उक्त क्रांति में ये प्रजातंत्र का सुन्दर सिद्धांत लेकर संमिलित हुए थे। पर उसमें घोर रक्तपात हुआ, जिसके कारण इनका उसकी ओर से अंत में विराग हो गया; और इन्होंने 'प्रकृति की ओर लौट चलो' (रिटर्न टु नेचर) की पुकार लगाई। इस सिद्धांत को लेकर इन्होंने कुछ रचनाएँ भी कीं। स्वच्छंदतावादी ( रोमांटिक ) अँगरेज कवियों में जो प्रकृति-चित्रण की ओर विशेष प्रवृत्ति पाई जाती है वह रूसो के इस सिद्धांत से प्रभावित होने के ही कारण। वर्ड्सवर्थ रूसो से विशेष प्रभावित हुए थे।

ऊपर हम ने देखा है कि आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार मनुष्य के असली वा यथार्थ रूप का उद्घाटन कभी-कभी प्रकृति की ओर जाने से होता है। काव्य में वे मानव के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य चेतन तथा जड़ रूपों के चित्रण के पूर्ण पक्षपाती हैं। उनका कथन है कि काव्य में इन दोनों को विशेष स्थान मिलना चाहिए। वे कहते हैं—"...यहाँ इतना ही कहना है कि भाव-साहित्य में मनुष्येतर चर-अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिए वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० २१ )। इसका कारण काव्य वा जीवन-संबंधी अन्य बहुत-सी बातें हो सकती हैं; पर आचार्य शुक्ल की रुचि इस क्षेत्र में विशेष रूप से काम करती है। वे काव्य में प्रकृति-चित्रण के पक्षपाती क्यों हैं ? इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं—"न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना और चर-अचर प्राणियों के बीच में अच्छा लगता है उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मंदाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं उतने अयोध्या की राजसभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है।"—

( वही पृ० २०–२१ )। आचार्य शुक्ल की इस प्रकार की रुचि का कारण उनका अनन्य प्रकृति-प्रेम तो स्पष्ट ही है, पर इसके अतिरिक्त मानव की व्याप्ति का विस्तार भी कारण है।

**काव्य में प्रकृति के सभी रूपों का वर्णन**

आचार्य शुक्ल जिस प्रकार अंतःप्रकृति के अधारभूत कोमल-परुष सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति काव्य मे अपेक्षित समझते हैं ( जिनका विचार ऊपर हो चुका है ), उसी प्रकार बाह्य प्रकृति के भी कोमल-सुन्दर, साधारण, रूखे, विशाल, असाधारण सभी प्रकार के रूपों का चित्रण उसमे आवश्यक मानते हैं। तात्पर्य यह कि वे काव्य में प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में भी सामंजस्यवाद पर विशेष दृष्टि रखते हैं। वे प्रकृति के साधारण तथा असाधारण सभी दृश्यों का वर्णन काव्य में देखना चाहते हैं। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि मानव तथा प्रकृति का संबंध अत्यंत प्राचीन है, वह उसका पुराना सहचर है, इसलिए मानव के हृदय में प्रकृति के इन दोनों प्रकार के रूपों के प्रति प्रेम वासना के रूप में परंपरा से ही होना चाहिए। जिनमें प्रकृति-प्रेम की इस प्रकार की वासना जमी हुई है, वे ही सच्चे सहृदय वा भावुक हैं। जिनमें इन दोनों प्रकार के प्रति प्रेम न होकर इनमे से केवल एक ही प्रकार के रूप के प्रति प्रेम है, उनमें से कुछ तो राजसी वृत्ति के हैं, और कुछ तमाशबीन। देखिए वे क्या कहते हैं—"अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुंदर रूप में; कहीं रूखे बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उससे अनुराग का कारण अपना खाससुख-भोग नहीं, बल्कि चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरंद-लोलुप मधुपगुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल-सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोग-लिप्सु हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिम-बिंदु-मंडित मरकताभ-शाद्वल जाल, अत्यंत विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध-वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने

हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"—( चिंतामणि, पृ० २०३–२०४ )। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबंध में तथा अन्य स्थलों पर भी आचार्य शुक्ल ने काव्य में इन दोनों रूपों के चित्रण का पक्ष ग्रहण किया है।

**प्रकृति द्वारा भावों, तथ्यों तथा अंतर्दशाओं की व्यंजना**

ऊपर कहा गया है कि प्रकृति का चित्रण करनेवाला कवि मनुष्य ही होता है, अतः वह कभी-कभी अपने जगत् और जीवन से गृहीत तथ्यों वा उनमें अनुभूत भावों, विचारों आदि के दर्शन वा आरोप भावुकतावश प्रकृति पर करता है। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात कवि की भावुकता है, क्योंकि जड़ प्रकृति को मानव के समान ही सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि की व्यंजना करते हुए सभी लोग नहीं देख सकते, यह उन्हीं लोगों का काम है जो सच्चे सहृदय वा भावुक हैं। प्रकृति-चित्रण के इस रूप पर आचार्य शुक्ल का भी यही मत है—"प्रकृति के नाना वस्तु-व्यापार कुछ भावों, तथ्यों और अंतर्दशाओं की व्यंजना भी करते ही हैं। यह व्यंजना ऐसी अगूढ़ तो नहीं होती कि सब पर समान रूप में भासित हो जाय, किंतु ऐसी अवश्य होती है कि निदर्शन करने पर सहृदय या भावुक मात्र उसका अनुमोदन करें। यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहें, मंजरियों से लदे आम को माता और फूले अंगों न समाता समझें, वर्षा का पहला जल पाकर साफ-सुथरे और हरे पेड़-पौधों को तृप्त और प्रसन्न बताएँ, कड़कड़ाती धूप से तपते किसी बड़े मैदान के अकेले ऊँचे पेड़ को धूप में चलते प्राणियों को विश्राम के लिए बुलाता हुआ कहें, पृथ्वी को पालती-पोसती हुई स्नेहमयी माता पुकारें, नदी की बहती धारा को जीवन का संचार सूचित करें, गिरि-शिखर से स्पृष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंगभरा, शीतल, सरस और छायावृत आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृ० २१–२२)। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति को इस रूप में देखनेवाला भावुक उसे चेतन ही समझेगा, दार्शनिक चाहे जो समझते रहें। यहीं यह भी समझ रखना चाहिए कि प्रकृति के मनुष्येतर चेतन प्राणियों द्वारा जो उनके रूप-चेष्टा आदि से

भावों की व्यंजना होती है, वह स्पष्ट है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"पशु-पक्षियों के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, राग-द्वेष, तोष-क्षोभ, कृपा-क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना जो उनकी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से होती है, वह तो प्रायः बहुत प्रत्यक्ष होती है। कवियों को उन पर अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता प्रायः नहीं होती।"—( चिंतामणि, पृ० २०७ )। पर पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार आदि को देखकर कोई भावुक उनके आधार पर जगत् और जीवन से संबद्ध कुछ भावों का उन पर आरोप या उनके द्वारा कोई तथ्य ग्रहण कर सकता है—जिस प्रकार जड़ प्रकृति के आधार पर किया जाता है। आचार्य शुक्ल ने स्वयं ऐसा किया है।—( देखिए वही, पृ० २०७–८ )। इस विषय में वे कहते हैं—"पर जिन तथ्यों का आभास हमें पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार या परिस्थिति में ही मिलता है वे हमारे भावों के विषय वास्तव में हो सकते हैं।"—( वही, पृ० २०७ )। इस प्रकार हमें विदित होता है कि मनुष्येतर जड़ तथा चेतन दोनों प्रकार की प्रकृतियों को भावुक कवि मनुष्य के समान ही भावों, अंतर्दशाओं और तथ्यों की व्यंजना करते हुए देखते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा किया है और वे इसका समर्थन भी करते हैं। स्वच्छंदतावादी ( रोमांटिक ) अँगरेजी तथा हिंदी के कवियों की प्रवृत्ति प्रकृति के चित्रण की ओर विशेष देखी जाती है। वे प्रकृति के यथार्थ संश्लिष्ट चित्रण ( जिस पर आगे विचार होगा ) तथा उस पर मानव-भावनाओं का आरोप करके उसका चित्रण दोनों पर दृष्टि रखते हैं। देखा यह जाता है कि दूसरे प्रकार के चित्रण में वे मानव तथा प्रकृति में कोई भेद नहीं मानते। उन्हें प्रकृति भी मानव के समान सभी प्रकार के भावों का आधार, और सभी प्रकार के क्रिया-कलापों की कर्त्री के रूप में दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति के प्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानंदन पंत प्रकृति को नारी के रूप में देखते हैं। उनका कथन है—"प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखनेवाली, नारी के रूप में देखा है।

'उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय वाली में'—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है।"—( आधुनिक कवि, श्री सुमित्रानंदन पंत, पृ० २ )।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रकृति-चित्रण के जिस रूप पर विचार किया गया है वह अपने सच्चे रूप में काव्य की परमिति के अंतर्गत ही आएगा। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"इसी प्रकार अभिव्यक्ति की प्रकृत

**प्रकृति और अन्योक्ति**

प्रतीति के भीतर, प्रकृति की सच्ची व्यंजना के आधार पर, जो भाव, तथ्य या उपदेश निकाले जायँगे वे भी सच्चे काव्य होंगे।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० २२ )। आगे वे कहते हैं—"प्रकृति की ऐसी ही सच्ची व्यंजनाओं को लेकर अन्योक्तियों का विधान होता है, जो इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं।...अन्योक्तियों में ध्यान देने की बात यह है कि व्यंग्य तथ्य पूर्णतया ज्ञात होता है और हृदय को स्पर्श कर चुका रहता है, इससे प्रकृति के दृश्यों को लेकर जो व्यंजना की जाती है वह बहुत ही स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण होती है।"—( वही, पृ० २३ )। इस विषय में आचार्य शुक्ल ने अन्य स्थलों पर भी ऐसी ही बात कही है। ( देखिए, चिंतामणि, पृ० २११ )।

कभी-कभी प्रकृति पर तथ्यों का आरोप जब सहृदय कवि द्वारा नहीं होता तब वह काव्य नहीं रह जाता, सूक्ति वा सुभाषित का रूप धारण कर लेता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "इस प्रकार का आरोप

**प्रकृति और सुभाषित**

कभी-कभी कथन को काव्य के क्षेत्र से घसीटकर 'सूक्ति' या 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे, 'कौवे सवेरा होते ही क्यों चिल्लाने लगते हैं? वे समझते हैं कि सूर्य अंधकार का नाश करता बढ़ा आ रहा है, कहीं धोखे में हमारा भी नाश न कर दे।' यह सूक्ति मात्र है, काव्य नहीं* ।"—( वही, पृ० २०७ )।

---

* वयं काका वयं काका जल्पन्तीति प्रगे द्विकाः।
तिमिरारिस्तमो हन्यादिति शंकितमानसाः॥

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की यह है कि जिन काव्यों में प्रकृति की व्यंजना द्वारा तथ्य, भाव आदि ग्रहण किए जायँगे अथवा उस पर इनका आरोप होगा, वे पृथक् श्रेणी में रखे जायँगे और जिन प्रकृति द्वारा भावों, काव्यों में मानव-भावनाओं का आरोप मात्र प्रकृति पर होगा, तथ्यों, अंतर्दशाओं उनसे किसी भाव आदि का ग्रहण न होगा—जैसा कि की व्यंजना तथा उन आधुनिक स्वच्छंदतावादी कवि करते हैं—वे पृथक् श्रेणी में। पर इनका आरोप भावों का आरोप दोनों श्रेणी की कविताओं में प्राप्त होता है, पर प्रथम श्रेणी की कविताओं में हम ऐसा करके उससे (प्रकृति से) कुछ ग्रहण करते हैं—तथ्य, उपदेश आदि; और द्वितीय श्रेणी की कविताओं में हम ऐसा करके उसे (प्रकृति को) उसी रूप में छोड़ देते हैं, उसे चेतन का रूप मात्र दे देते हैं, मानव के समान समझ लेते हैं, वह मानव के समान भावनाओं का आधार तथा क्रिया-कलापों की कर्त्री मात्र बन जाती है, हम उससे उपदेश आदि नहीं निकालते। तात्पर्य यह कि अंतर्दशाओं, तथ्यों, मानुषिक भावनाओं आदि को लेकर कवियों द्वारा प्रकृति-चित्रण दो रूपों में दृष्टिगत होता है; एक तो उस रूप में जिसमें स्वयं प्रकृति द्वारा व्यंजित भावनाओं, अंतर्दशाओं, तथ्यों आदि का चित्रण होता है और दूसरा वह जिसमें कवि अपने भावों का आरोप प्रकृति पर करता है, वह अपने हृद्गत सुख-दुःख की भावनाओं के आलोक में उसे देखता है। कहना न होगा कि इन दोनों रूपों के चित्रण की भावुक वा सहृदय कवि को आवश्यकता पड़ती है। देखना यह चाहिए कि आचार्य शुक्ल प्रकृति-चित्रण के इन रूपों में से किसकी उत्तमता के प्रतिपादक हैं। वे कहते हैं—"उक्त प्रवृत्ति के अनुसार कुछ पाश्चात्य कवियों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होनेवाली भावधारा का बहुत सुन्दर उद्घाटन किया, पर बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप करके उन रूपों को अपनी अंतर्वृत्तियों से छोपने लगे।...मेरे विचार में प्रथम प्रणाली का अनुसरण ही समीचीन है। अनंत रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओं का अनंत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावों की व्यंजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की समुचित व्यंजना कर रहे हैं, उन्हें छोड़ अपने परिमित अंतः-

कोटर की वासनाओं से उन्हें छोपना एक झूठे खेलवाड़ के ही अंतर्गत होगा। यह बात मैं स्वतंत्र दृश्यविधान के संबंध में कह रहा हूँ जिसमें दृश्य ही प्रस्तुत विषय होता है। जहाँ किसी पूर्वप्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यंजित करने के लिए ही प्रकृति के क्षेत्र से वस्तु-व्यापार लिए जायँगे, वहाँ तो वे उस भाव में रँगे दिखाई ही देंगे।......पर बराबर इसी रूप में प्रकृति को देखना दृष्टि को संकुचित करना है। अपने ही सुख-दुःख के रंग में रँगकर प्रकृति को देखा तो क्या देखा? मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना रूप भी है।"—( इतिहास, पृ० ७१७–७१८ ) इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वस्तुतः आचार्य शुक्ल उपरिलिखित द्वितीय प्रकार के प्रकृति-चित्रण के पक्षपाती नहीं हैं।

अभी तक प्रकृति-चित्रण के उस रूप पर विचार नहीं हुआ, जो संस्कृत के प्राचीन कवि वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति में, अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ, शेली आदि में तथा हिंदी के दो-एक प्राचीन और इधर के नवीन कवियों में विशेष रूप से पाया जाता है। प्रकृति के उस रूप के चित्रण को आचार्य शुक्ल 'यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण' का नाम देते हैं और उनकी दृष्टि में प्रकृति के उस ढंग के चित्रण, जिस पर ऊपर विचार हुआ है, तथा इस यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण दोनों का समान महत्त्व है। उनका कहना है कि "दोनों का महत्त्व बराबर है। इनमें से किसी एक को उच्च और दूसरे को मध्यम कहना एक आँख बन्द करना है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० २५ )।

**यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण—प्रकृति स्वतंत्र आलंबन भी**

प्रकृति के यथार्थ वा यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण के मूल में कवि का प्रकृति के प्रति अपना सीधा अनुराग प्रकट करने की भावना ही निहित रहती है। वह प्रकृति से अपना सीधा रागात्मक संबंध स्थापित करना चाहता है। प्रकृति उसके रति भाव का आलंबन बन जाती है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने इसी प्रकृति-प्रेम के कारण उसका वर्णन आलंबन के रूप में भी किया है, केवल उद्दीपन के रूप में ही नहीं। संस्कृत के इधर के आचार्य मानते थे कि प्रकृति काव्य में केवल उद्दीपन के रूप में ही आ सकती है। आचार्य शुक्ल संस्कृत के इन आचार्यों द्वारा निर्धा-

रित काव्य में प्रकृति-चित्रण के स्वरूप का समर्थन नहीं करते, वे यह नहीं मानते कि काव्य में प्रकृति का चित्रण केवल उद्दीपन के ही रूप में होता है। उनका मत यह है कि यदि कवियों के लिए प्रकृति उद्दीपन मात्र ही होती, आलंबन के रूप में संमुख न आती, तो वाल्मीकि के 'रामायण' में कालिदास के 'कुमारसंभव' के प्रारंभ में, और 'मेघदूत' के पूर्वार्ध में प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण न मिलता। इन कवियों द्वारा अपने-अपने काव्य में प्रकृति का इस रूप में चित्रण इस बात का साक्षी है कि उनका इसके प्रति अनुराग था, वह उनके अनुराग वा रति के सीधे आलंबन के रूप में उपस्थित होती थी। यदि कोई पूछे कि प्रकृति के यथार्थ संश्लिष्ट चित्रण में कवि की कौन-सी भावना स्थिर रहती है, तो इस विषय में आचार्य शुक्ल का उत्तर यह है—"प्रकृति के केवल यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्रकृति के सौंदर्य के प्रति सीधे अपना अनुराग प्रकट करता है। प्रकृति के किसी खंड के ब्योरों में वृत्ति रमाना इसी अनुराग की बात है।"—( वही, पृ० २४–२५ )। प्रकृति शुद्ध आलंबन के रूप में भी वर्णित होती है, काव्यों में ऐसा हुआ है। इस विषय में वे कहते हैं—"वन, पर्वत, नदी, निर्झर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि जगत् की नाना वस्तुओं का वर्णन आलंबन और उद्दीपन दोनों की दृष्टि से होता रहा है। प्रबंध-काव्यों में बहुत से प्राकृतिक वर्णन आलंबन रूप में ही हैं। कुमार-संभव के आरंभ का हिमालय-वर्णन और मेघदूत के पूर्वमेघ का नाना प्रदेश-वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से नहीं कहा जा सकता। इन वर्णनों में कवि ही आश्रय है जो प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अपने अनुराग के कारण उनका रूप चित्रित करके अपने सामने भी रखता है और पाठकों के भी।"—( वही, पृ० ७४ )। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति का वर्णन स्वतंत्र आलंबन के रूप में भी होता है, और केवल आलंबन के चित्रण को भी आचार्य शुक्ल रसात्मक मानते हैं, अतः उनके मत्यनुसार प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में भी रसानुभूति होती है। रसानुभूति के संबंध में यह उनकी उपज्ञात (आरिजिनल) धारणा या सिद्धांत है।—( देखिए वही, पृ० ७४ और चिंतामणि, पृ० ३४४ )।

काव्यगत—विशेषतः प्रबंध-काव्यगत—इस प्रकार के यथार्थ संश्लिष्ट प्रकृति-

चित्रण कवि के प्रकृति के प्रति अनुराग के द्योतक तो हैं ही, इसके अतिरिक्त वे काव्य में आए पात्रों की परिस्थितियों को अंकित करने वा स्पष्ट करने में भी सहायक होते हैं, जिससे पात्रों से श्रोता वा पाठक का साधारणीकरण भलीभाँति हो जाता है। 'कुमारसंभव' के आरंभ में हिमालय के विशद वर्णन के विषय में आचार्य शुक्ल का कथन है—"ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त हैं, अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )। इसी के आगे वे कहते हैं—"इस पर यों गौर कीजिए। राम और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने हैं। एक में केवल दो मूर्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और दूसरे में पयस्विनी के द्रुम-लताच्छादित तट पर, पर्ण-कुटी के सामने, दोनों भाई बैठे हैं। इनमें से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमें हमारे भावों के लिए अधिक विस्तृत आलंबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलंबन है। उसी परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच, जिनमें हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-संबंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा-पूरा होता है।"—( वही )।

**यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा परिस्थिति-अंकन**

अब इस संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के विधान वा कला-पक्ष पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। मनुष्येतर प्रकृति की जड़ तथा चेतन वस्तुओं वा प्राणिओं के जो रूप-व्यापार हमें दृष्टिगत होते हैं, वे 'दृश्य' कहे जाते हैं, यह तो एक सामान्य बात है। पर होता यह है कि चक्षु-इंद्रिय के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेंद्रियों द्वारा हम प्रकृति के जिन शब्दों, गंधों आदि को ग्रहण करते हैं, उन्हें भी 'दृश्य' ही कह सकते हैं। बात यह है कि प्रकृति वा अन्य क्षेत्र में भी हमारे नेत्रों का ही व्यापार सर्वप्रथम होता है, वे ही विषयों का ग्रहण अन्य ज्ञानेन्द्रियों में सबसे पहले करते हैं। अतः दृश्य के अंतर्गत नेत्र के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय भी आ जाते हैं। दृश्य पर विचार

**संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण का कला-पक्ष**

करते हुए आचार्य शुक्ल यही बात कहते हैं—"दृश्य" शब्द के अंतर्गत, केवल नेत्रों के विषय का ही नहीं, अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का भी (जैसे, शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए। 'महकती हुई मंजरियों से लदी और वायु के झकोरों से हिलती हुई आम की डाली पर कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है' इस वाक्य में यद्यपि रूप, शब्द और गंध, तीनों का विवरण है, पर इसे एक दृश्य ही कहेंगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का ही सब से अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण रूप से आते हैं। बाह्यकरणों के सब विषय अंतःकरण में 'चित्र' रूप से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिंब को हम दृश्य कहते हैं।"—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। काव्यगत प्रकृति-चित्रण में इसी प्रतिबिंब या दृश्य का श्रोता, पाठक के संमुख मूर्त विधान करने का प्रयत्न ही वास्तविक कविकर्म है।

आचार्य शुक्ल तथा अन्य साहित्य-मीमांसक भी कला-पक्ष में कवि का परम कर्तव्य मूर्ति, चित्र या दृश्य उपस्थित करना मानते हैं। आचार्य शुक्ल इसी को काव्यगत मूर्तिविधान की अभिधा देते है। जिस प्रकार काव्य में उसी प्रकार प्रकृति-चित्रण में भी वे मूर्ति या दृश्य प्रस्तुत करने के पक्षपाती हैं। जब हम प्रकृति को निकट से—निरीक्षणपूर्वक—देखते हैं, तब विदित होता है कि उसकी एक-एक वस्तु या प्राणी दूसरी वस्तु या प्राणी से जुड़े होते हैं, उनमें पारस्परिक संबंध होता है, वे संश्लिष्ट रूप में स्थित होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु या प्राणी के भी अपने-अपने अंग होते हैं। आचार्य शुक्ल का मत है कि जिस प्रकार उपर्युक्त वस्तु या प्राणी अपने यथार्थ रूप में परस्पर संश्लिष्ट होते हैं, और उनका प्रत्येक अंग प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार कवि भी जब उन्हें काव्य में स्थान दे तब वहाँ भी ये संश्लिष्ट रूप में ही वर्णित हों और उनका प्रत्येक अंग प्रत्यक्ष हो। इसलिए वे काव्य में प्रकृति के 'यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण' के समर्थक हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि संश्लिष्ट चित्रण मूर्ति-विधान द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः मूर्तविधान या चित्रण तथा संश्लिष्ट चित्रण एक ही वस्तु हैं। देखना यह चाहिए कि संश्लिष्ट चित्रण में किस विधि का अवलंबन लेना पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा इस बात का आभास मिलता है कि प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण में उसकी वस्तुएँ एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं। उनमें पारस्परिक सम्बन्ध होता है। प्रकृति की जिस वस्तु का संश्लिष्ट चित्रण करना होगा उसे उसके आसपास की वस्तुओं के साथ देखना होगा, उस वस्तु के एक-एक अंग पर भी दृष्टि रखनी होगी। इस विषय में आचार्य शुक्ल कहते हैं—"आसपास की और वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा।" ( गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १५० )। इस प्रकार के चित्रण में कवि को अर्थ-ग्रहण नहीं कराना पड़ता, प्रत्युत बिम्ब-ग्रहण कराना पड़ता है। इस स्थिति में उसका काम प्रकृति की वस्तुओं का केवल नाम ही गिनाना नहीं रहता, बल्कि वह उनका ( वस्तुओं का ) रूप या चित्र खींचता है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"उसमें ( दृश्य-चित्रण में ) कवि का लक्ष्य 'बिंब-ग्रहण' कराने का रहता है, केवल अर्थ-ग्रहण कराने का नहीं। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्योरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिंब-*ग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।*"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )।

**बिंब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण**

यह बिंब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण क्या है ? आचार्य शुक्ल कहते हैं—"यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिंब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। पर अभिधा द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नहीं होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेत-ग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा, ये चार विषय तो बताए, पर स्वयं संकेत-ग्रह के दो रूपों का विचार नहीं किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिंब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल'-पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पँखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अंतःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो केवल पद का अर्थ मात्र समझकर काम चलाया जाय।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )। प्रथम प्रकार के ग्रहण को बिंब-ग्रहण

तथा द्वितीय प्रकार के ग्रहण को अर्थ-ग्रहण कहते हैं। प्रकृति-चित्रण में प्रथम प्रकार का ग्रहण आचार्य शुक्ल अपेक्षित समझते हैं, इसे हम ऊपर देख चुके हैं।

**प्रकृति-चित्रण और अलंकार**

प्रकृति-चित्रण के विषय में केवल एक बात और कहनी है; वह यह कि प्राकृतिक दृश्य-चित्रण में अलंकारों के प्रयोग का क्या स्थान है। प्रकृति-चित्रण के विषय में आचार्य शुक्ल ने जितने सिद्धांत निर्धारित किए हैं, वे सब वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों के प्रकृति-चित्रण को लक्ष्य में रखकर। इन कवियों के प्रकृति-चित्रण को—विशेषतः यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण को—देखने से विदित होता है कि इसमें अलंकारों का प्रयोग अति ही विरल है, उपर्युक्त कवियों ने इस क्षेत्र में अलंकारों की सहायता प्रायः नहीं ली। वस्तुतः बात यह है कि प्रकृति के चित्र प्रस्तुत करने में अलंकारों की आवश्यकता भी नहीं होती, क्योंकि ऐसा करते हुए उसकी वस्तुओं को ज्यों का त्यों रूप देना होता है; वस्तुएँ जैसी हैं वैसी ही रख देनी होती हैं, और अलंकार तो ऊपरी वा कहीं-कहीं फालतू वस्तु होते है, कवि की अपनी सूझ होती है, प्रकृति-चित्रण में तो प्रस्तुत वस्तु की उपस्थिति ही प्रधान लक्ष्य होती है। अतः प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में अलंकारों का संनिवेश उपर्युक्त कवियों ने नहीं किया। आचार्य शुक्ल भी इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में अलंकारों का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते। पर प्राकृतिक दृश्य के चित्र को हृदयंगम करने में सहायक होने के लिए वे अलंकारों के विरल प्रयोग का समर्थन करते हैं—'तात्पर्य यह कि भावों की अनुभूति में सहायता देने के लिए केवल कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है, जितने से बिंब-ग्रहण करने में, प्रकृति का चित्र हृदयंगम करने में, श्रोता या पाठक को बाधा न पड़े।'—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। उद्धरण में आए 'कहीं-कहीं' पद पर अवश्य दृष्टि जानी चाहिए। वे इस क्षेत्र में पद-पद पर अलंकारों के प्रयोग को 'खिलवाड़' समझते हैं, और ऐसा करके 'काव्य के गांभीर्य और गौरव को नष्ट करना' और उसकी 'मर्यादा बिगाड़ना' मानते हैं।

यद्यपि दृश्य-वर्णन में वे अलंकारों का संनिवेश करने की राय देते हैं, पर इनकी गौणता पर भी उनकी दृष्टि है। इनकी गौणता पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए वे कहते हैं—"दृश्य-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक पर्वत-स्थली का दृश्य-वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने दो महीने पीछे उसे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेंगे कि उस संपूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारों में से वह बहुतों को कह जायगा पर आप की दी हुई उपमाओं में से शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा, उसका संस्कार बना रहा. और इसलिए संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हो गई, शेष अंश छूट गया।—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )।

अभी तक आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांतों पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि प्रायः उसके ( काव्य के ) अंतःपक्ष पर ही विशेष रही है, हमने वस्तु ( मैटर ) को ही दृष्टि में रखकर उनके विचारों को देखा है। काव्य के बाह्य या कला-पक्ष पर हमने उनके विचार अभी नहीं देखे हैं, यदि देखे भी हैं तो प्रसंगात् ही।

**काव्य का अंतःपक्ष**

आगे हम आचार्य शुक्ल की दृष्टि से काव्य के कला-पक्ष पर विचार करेंगे, जिसके अंतर्गत कल्पना, अलंकार, भाषा, छंद आदि आते हैं, जो कवि-कर्म से संबंध रखते हैं। यहाँ यह निर्देश कर देना अतिप्रसंग न होगा कि काव्य के ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। इनमें से किसी को भी कम महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः काव्य के ये विभाग उसके विवेचन की सुविधा के लिए ही हैं।

**कल्पना**

यदि काव्य का परम लक्ष्य जगत्-जीवन के रूप-व्यापार, भाव-विचार को श्रोता या पाठक के बाह्य तथा अंतश्चक्षु ( मेंटल आइ ) के संमुख मूर्त्त रूप में लाकर उनका अनुभव कराना है, तो काव्य में कल्पना का स्थान कवि-कर्म की दृष्टि से सर्वप्रथम आता है, क्योंकि मूर्ति-विधान की सिद्धि कल्पना की प्रक्रिया द्वारा ही संभव

है। इसी कारण आचार्य शुक्ल कल्पना को काव्य का अत्यावश्यक साधन मानते हैं। पर, वे इसे उसका साधन ही मानते हैं, साध्य नहीं, जैसा कि यूरोप के कुछ कल्पनावादी समीक्षकों की धारणा है। उनका कहना है—"यूरोपीय साहित्य-मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन; पर है साधन ही, साध्य नहीं, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। किसी प्रसंग के अंतर्गत कैसा ही विचित्र मूर्ति-विधान हो पर यदि उसमें उपयुक्त भावसंचार की क्षमता नहीं है तो वह काव्य के अंतर्गत न होगा।"—( चिंतामणि, पृ० २२०–२१ )। उद्धरण के अंतिम वाक्य द्वारा यह विदित होता है कि कल्पना वही सार्थक है, जो काव्य के प्रधान लक्ष्य भावसंचार की सहायिका हो। इसी से आचार्य शुक्ल इसे काव्य का साधन मानते हैं, साध्य नहीं, साध्य तो भावसंचार है। एक दूसरे उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी—"अतएव काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अंग-भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ३३ )। कल्पना के संबंध में अन्य स्थलों पर भी आचार्य शुक्ल ने यही बात कही है।

आचार्य शुक्ल प्रतिभा तथा भावना को कल्पना का पर्याय बताते हैं और धर्म के क्षेत्र में जो स्वरूप 'उपासना' का स्थिर किया जाता है, वही स्वरूप साहित्य-क्षेत्र में वे 'भावना' वा कल्पना का स्थिर करते हैं। कल्पना वा भावना उनके द्वारा इस प्रकार धर्म तथा साहित्य-क्षेत्र की भावनाओं की तुलना का कुछ कारण है। वे काव्य को 'भावयोग' मानते हैं और ( भावयोग को ) 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' के समकक्ष रखते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार जिस प्रकार कर्म तथा ज्ञान का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना है, उसी प्रकार काव्य का भी अंतिम उद्देश्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव कराना ही है। इसी कारण वे उपासना तथा कल्पना की एकता स्थापित करते हैं और उपासना को भी भावयोग का एक अंग बताकर उसका तथा कल्पना वा भावना का स्वरूप समान रूप से निर्धारित

करते हैं—"यहाँ पर अब यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि 'उपासना' भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ 'ध्यान' ही लिया करते हैं। जो वस्तु हम से अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसीको 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार और भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"—(चिंतामणि, पृ० २१९-२०)। उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कल्पना मन की एक क्रिया है, जो देखी वा सुनी वस्तु के आकार-प्रकार को अंतश्चक्षु (मेंटल आइ) के संमुख उपस्थित करती है, और वही कल्पना सार्थक मानी जाती है, जो वस्तु के रूप को सांगोपांग रूप में उपस्थित करती है। ऊपर आचार्य शुक्ल ने उपासना तथा कल्पना की एकता स्थापित की है, जो श्रोता वा पाठक को लेकर ही पूर्णतः घटित होती है, कवि को लेकर नहीं, क्योंकि उपासक मनश्चक्षु द्वारा प्रतीयमान (परसेप्टेड) रूप का दर्शन केवल अनुभूति के लिए ही करता है वह उसे अपने मन तक ही रखता है। पर कवि कल्पना द्वारा रूप को मन में लाकर उसकी अभिव्यंजना भी करता है, क्योंकि उसका उद्देश्य वस्तु को श्रोता वा पाठक तक पहुँचाना होता है।

अब देखना यह चाहिए कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना की प्रक्रिया किस प्रकार पूर्ण होती है। भारतीय रसवादी तथा आचार्य शुक्ल भी कल्पना को भाव-क्षेत्र की वस्तु मानते हैं, ज्ञान-क्षेत्र की वस्तु नहीं, जैसा कि अभिव्यंजनावादी क्रोचे का मत है। एक स्थान पर आचार्य शुक्ल कहते हैं—"कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही काव्य के अंतर्भूत माना है।" (इंदौरवाला भाषण, पृ० २०)।

**कल्पना और मनोविज्ञान**

तो कल्पना भाव से ही संबद्ध ठहरती है। आचार्य शुक्ल 'भाव' को अकेली वृत्ति नहीं मानते, उसे एक वृत्तिचक्र मानते हैं। आइ० ए० रिचर्ड्स भी 'व्यावहारिक समीक्षा' (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म) नामक अपनी पुस्तक में इसके सम्बन्ध में यही बात कहते हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है—"मनो-

...न के अनुसार 'भाव' कोई एक अकेली वृत्ति नहीं, एक वृत्तिचक्र ( सिस्टेम ) है जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान ( काग्निशन ), इच्छा या संकल्प (कानेशन), प्रवृत्ति (टेंडेंसी) और लक्षण ( सिम्टम )—ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं। अतः भाव का एक अवयव प्रतीति या बोध भी होता है। रस-निरूपण में जो 'विभाव' कहा गया है वही कल्पनात्मक या ज्ञानात्मक अवयव है जो भाव का संचार करता है। कवि और पाठक दोनों के मन में कल्पना कुछ मूर्त रूप या आलंबन खड़ा करती है जिसके प्रति किसी भाव का अनुभव होता है। उस भाव की अनुभूति के साथ-साथ आलंबन का बोध या ज्ञान भी बना रहता है। आलंबन चाहे व्यक्ति हो, चाहे वस्तु, चाहे व्यापार या घटना, चाहे प्रकृति का कोई खंड।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ३२–३३ ) तात्पर्य यह कि कल्पना भाव से संबद्ध है और भाव के अंतर्गत बोध वा ज्ञान भी आता है, अतः इसका ( कल्पना का ) लगाव कुछ-कुछ बोध वा ज्ञान से भी है। इस प्रकार कल्पना की प्रक्रिया में वृत्ति का भी स्थान आता है। एक स्थान पर आचार्य शुक्ल ने स्पष्टतः कहा है कि कल्पना की उत्पत्ति बुद्धि और भाव दोनों द्वारा होती है—"इंद्रियज ज्ञान के जो संस्कार ( छाप ) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से, कभी यों ही, भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त भावना वा कल्पना है।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ३५ )।

कल्पना काव्य का अपरिहार्य साधन है, इसे हमने ऊपर देखा है। इस साधन की उपयोगिता काव्य के प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पक्षों में अपेक्षित है। काव्य के अप्रस्तुत पक्ष में, जिसके अंतर्गत अलंकार काव्यगत प्रस्तुत, आते हैं, इसकी आवश्यकता तो सभी पर प्रकट है, क्योंकि अप्रस्तुत पक्ष तथा अलंकारों का विधान कल्पना-सापेक्ष्य है, बिना कल्पना के

कल्पना

अलंकारों की सृष्टि संभव नहीं। काव्य के प्रस्तुत पक्ष में भी कल्पना की उपयोगिता स्पष्ट है। काव्यगत रूप-विधान कल्पना द्वारा ही सिद्ध होता है, क्योंकि कवि ऐसे स्थलों पर बैठकर रचना नहीं किया करता जहाँ उसके अभीष्ट रूप-व्यापार आदि उसके संमुख पड़े रहते हों और वह उनकी ज्यों की त्यों योजना कर दिया करता हो, प्रत्युत उसे अपने

अभीष्ट रूप-व्यापारों को कल्पना द्वारा मन में लाकर उनकी अभिव्यंजना करनी पड़ती है। अभिप्राय यह कि काव्य के प्रस्तुत पक्ष में भी कल्पना की आवश्यकता है, केवल अप्रस्तुत पक्ष में ही नहीं। इस विषय में आचार्य शुक्ल का कथन यों है—"प्रस्तुत पक्ष का रूप-विधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है। भाव की प्रेरणा से नाना रूप-संस्कार जग पड़ते हैं जिनका अपनी प्रतिभा या कल्पना द्वारा समन्वय करके कवि प्रस्तुत वस्तुओं या तथ्यों का एक मार्मिक दृश्य खड़ा करता है। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का मैं यह पहला काम समझता हूँ।"—(इंदौरवाला भाषण, पृ० ७४)।

**विधायक और ग्राहक कल्पना**

कल्पना की आवश्यकता केवल कवि को ही नहीं प्रत्युत सहृदय श्रोता वा पाठक को भी पड़ती है, जिसमें वह कवि की कल्पना द्वारा प्रस्तुत तथा उसकी अभिव्यंजना द्वारा प्रेषित रूप-व्यापारों को यथार्थ रूप में ग्रहण कर सके। किसी रचना को संपूर्णतः समझने के लिए यह आवश्यक होता है कि कवि जिस मनोदशा (मूड) में पड़कर उसे प्रस्तुत करता है, श्रोता वा पाठक भी उसी मनोदशा में अपने को स्थित करके उसे समझे। इसके अतिरिक्त कभी-कभी कवि बहुत-सी अभीष्ट बातों में से केवल कुछ ही कहकर शेष की कल्पना श्रोता या पाठक पर छोड़ देता है, जिसे वह कल्पना द्वारा ही पूर्णतः ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि श्रोता वा पाठक को भी कल्पना की आवश्यकता होती है, और कवि को तो इसकी आवश्यकता है ही। इसी कारण आचार्यों ने कल्पना के दो रूप माने हैं, एक विधायक कल्पना, जो कवि की होती है और दूसरी ग्राहक, जो पाठक की। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"कल्पना दो प्रकार की होती है—विधायक और ग्राहक। कवि में विधायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक। अधिकतर कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ कवि पूर्ण चित्रण नहीं करता वहाँ पाठक या श्रोता को भी अपनी ओर से कुछ मूर्ति-विधान करना पड़ता है।"—(चिंतामणि, पृ० २२०)।

कल्पना को आचार्य शुक्ल ने काव्य का अपरिहार्य वा अनिवार्य साधन माना है, अलंकार को भी वे इसका साधन मानते हैं, पर अनिवार्य साधन नहीं,

क्योंकि बिना अलंकार के भी उक्ति में वैचित्र्य लाया जा सकता है। जैसे वे कल्पना को काव्य का साध्य नहीं स्वीकार करते,

**अलंकार**

वैसे ही अलंकार को भी। उनका कथन है—"पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये (अलंकार) साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को भुलाकर इन्हीं को साध्य मान देने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता ही नहीं रह जाती।"—(चिंतामणि, पृ० २४७)। काव्य पर विचार करते हुए यह हम देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल की रुचि चमत्कारवाद की ओर नहीं थी, इसलिए अलंकार को काव्य का साध्य माननेवालों के विपक्ष में वे सदैव रहे। यद्यपि उन्होंने अलंकार को काव्य का साधन कहा है तथापि उसे अपने क्षेत्र में भी कुछ वैशिष्ट्य प्राप्त है। इस पर भी उनकी दृष्टि अवश्य है, क्योंकि अलंकारों पर विचार करते हुए उन्होंने एक स्थल पर कहा है—"कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता।"—(चिंतामणि, पृ० २४७)। आचार्य शुक्ल का यह कथन भी उपयुक्त ही है, क्योंकि काव्य में कुछ स्थल ऐसे आते हैं जहाँ कवि को अलंकार-योजना करनी ही पड़ती है, बिना ऐसा किए काम ही नहीं सरता। अभिप्राय यह कि काव्य में अलंकार का भी विशेष महत्त्व है अवश्य, पर उसके साधन रूप में ही।

काव्य का प्रधान लक्ष्य श्रोता या पाठक के हृदय पर प्रभाव (इंप्रेशन) डालना है। इस प्रकार का संबंध काव्य के वर्ण्य या प्रस्तुत विषय से तो है ही प्रस्तुत का वर्णन करने की पद्धति से भी है। वर्णन

**अलंकार का स्वरूप**

करने की विधि या प्रणाली भी इस कार्य में सहायक होती है। आचार्य शुक्ल वर्णन की इसी प्रणाली को अलंकार कहते हैं—"मैं अलंकार को वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूँ, जिसके अंतर्गत करके किसी-किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं।"—(काव्य में प्राकृतिक दृश्य)। हृदय पर प्रभाव भावों के उत्कर्ष तथा किसी वस्तु के रूप, व्यापार, गुण आदि के तीव्र अनुभव द्वारा होता है। आचार्य शुक्ल इस कार्य को सिद्ध करने में अलंकार को ही सहायक मानते हैं, वे अलंकार का स्वरूप इस दृष्टि से भी निर्धारित करते हैं, जो इस

प्रकार है—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली उक्ति ही अलंकार है।"—( गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १६१ और देखिये चिंतामणि, पृ० २४६–४७ )। इस कार्य की सिद्धि के लिए कभी-कभी बात कुछ बाँकपन के साथ, कुछ घुमा-फिरा कर कहनी पड़ती है, कथन की यह विधि भी अलंकार है। उपर्युक्त उद्धरण से विदित होता है कि आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार अलकार प्रस्तुत की शोभा वा विशेषता को और बढ़ानेवाला है, अर्थात् प्रस्तुत को लेकर ही उसकी स्थिति है। प्रस्तुत प्रधान है और अप्रस्तुत वा अलंकार गौण। इसी कारण वे अलंकारवादी वा चमत्कारवादी आचार्यों तथा कवियों की, जिनमें केशव भी हैं, बराबर तीखी आलोचना करते रहे हैं। विशेषतः उन चमत्कारवादियों की, जिनका मत था कि काव्य में अलंकार ही सब कुछ है, बिना अलंकार के कविता हो ही नहीं सकती, बिना अलंकार के कविता मानने का तात्पर्य है अग्नि को उष्णता से रहित मानना[1]। आचार्य शुक्ल चमत्कारवादियों की मति से अपनी भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अलंकारों में 'रमणीयता' की स्थिति का प्रतिपादन करते हैं, 'चमत्कार' का नहीं। वे ऐसा क्यों करते हैं, इसका कारण बताते हुए कहते हैं—"अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिए कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है।...भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।"—( गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १६२ )।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से ऊपर हमने प्रस्तुत की प्रधानता तथा अप्रस्तुत की गौणता पर विचार किया है। हमने देखा है कि प्रस्तुत के पश्चात् अप्रस्तुत का स्थान आता है, बिना प्रस्तुत के अप्रस्तुत की स्थिति संभव नहीं। हमने यह भी देखा है कि अलंकार प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया के उत्कर्ष तथा

---

[1] अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।—चंद्रालोककार जयदेव।

भाव की अनुभूति को और तीव्र करता है। अलंकार को दृष्टि में रखकर उन्होंने प्रस्तुत के संबंध में कहा है कि अलंकार उसी प्रस्तुत की शोभा बढ़ा सकता है जिसकी वस्तु या भाव स्वयं रमणीय हो। उनके कहने का आशय यह है कि सुन्दर प्रस्तुत ही अलंकार द्वारा और सुंदर हो सकता है, असुंदर प्रस्तुत नहीं, उनका कहना है—"जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लादकर सुंदर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता।...पहले से सुंदर अर्थ को ही अलंकार शोभित कर सकता है। सुंदर अर्थ की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतारकर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।"—(चिंतामणि, पृ० २५१)।

अब तक अलंकारों के जितने स्वरूप निर्धारित किए गए हैं, उनसे विदित होता है कि ये अधिकतर साम्य के आधार पर ही बने हैं, अर्थात् अलंकारों में साम्यमूलक अलंकार ही अधिक हैं, असाम्य-मूलक अलं... आचार्य शुक्ल ने भी कहा है कि "अधिकतर अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर होता है।"—(जायसी

अलंकारगत साम्ययोजना

है, अखिल सत्ता के एकत्व की आनंदमयी भावना जगाकर हमारे हृदय-का बंधन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलियाँ सामने पाते हैं तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौंदर्य-धारा से मनुष्य भी और पेड़-पौधे भी रूपरंग प्राप्त करते हैं।"—(इतिहास पृ० ८४४)। अलंकारगत साम्य के विषय में आचार्य शुक्ल के इस प्रकार के विचार के मूल में उनका अनन्य प्रकृति-प्रेम तथा उससे संबद्ध सार्थक भावुकता ही निहित समझनी चाहिए। अलंकारों के स्वरूप पर विचार करते हुए हमने देखा है कि आचार्य शुक्ल इनकी योजना भावों को और तीव्र करके अनुभव कराने तथा रूप, गुण वा क्रिया को और स्पष्ट रूप में दिखाने के लिए मानते हैं। साम्य-योजना के विषय में भी वे ऐसी ही बात कहते हैं—"सादृश्य की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—स्वरूप-बोध के लिए और भाव तीव्र करने के लिए। कवि लोग सदृश वस्तुएँ भाव तीव्र करने के लिए ही अधिकतर लाया करते हैं। पर बाह्य कारणों से अगोचर तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए जहाँ सादृश्य का आश्रय लिया जाता है वहाँ कवि का लक्ष्य स्वरूप-बोध भी रहता है। भगवद्भक्तों की ज्ञान-गाथा में सादृश्य की योजना दोनों दृष्टियों से रहती है।" - (जायसी-ग्रंथावली, पृ० १३५)। प्रायः संत कवियों द्वारा माया को ठगिनी, काम, क्रोध आदि को बटमार, संसार को माया तथा ईश्वर को पति आदि कहना आचार्य शुक्ल साम्य-योजना के उपर्युक्त दोनों रूपों के कारण ही मानते हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों के विषय में इस प्रकार की विवेचना द्वारा विदित होता है कि अध्यवसान वा अन्यापदेश (अलेगरी) तथा प्रतीक (सिंबल) भी साम्यमूलक अलंकारों की ही श्रेणी में आते हैं। आचार्य शुक्ल ने कहा है कि प्रतीक भी अलंकार ही हैं पर अलंकार तथा प्रतीक में कुछ भिन्नता है। उनका कथन है—"...प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि के उपमान और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत् करने की निहित शक्ति है। पर अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नहीं होते। पर जो प्रतीक भी होते

हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।"—(काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८८)

आचार्य शुक्ल द्वारा कथित अलंकारगत सादृश्य-योजना के विषय में हमने ऊपर कुछ बातें देखीं। इनके अतिरिक्त इस विषय में उन्होंने और बातें भी कही हैं। सादृश्य-योजना में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया, रस वा प्रसंग की दृष्टि से समानता और उपयुक्तता, रूप, गुण, क्रिया के स्वरूप की अनुभूति के लिए व्यर्थ की नाप-जोख की हीनता तथा साम्य के लिए अनर्गल शब्द-क्रीड़ा के निषेध की सलाह उन्होंने दी है। रस की दृष्टि से अलंकार-योजना के विषय में आचार्य शुक्ल ने एक विशेष बात कही है, जो ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है कि रस-विरोधी अप्रस्तुतों द्वारा साम्य की योजना न होनी चाहिए, इससे भावानुभूति में बाधा पड़ती है, वाग्वैदग्ध्य द्वारा कुछ मनोरंजन चाहे हो जाय। अलंकार के प्राचीन आचार्य ऐसी साम्ययोजना को दोषयुक्त नहीं मानते, पर आचार्य शुक्ल ने इसे अनुपयुक्त कहा है, जो ठीक ही है। जायसी ने युद्ध के समय तोप का वर्णन करते हुए शृंगार से संबद्ध अप्रस्तुतों की योजना की है, जो वस्तुतः वीररस की अनुभूति में व्याघात पहुँचाती है।—(देखिए जायसी-ग्रंथावली का 'अलंकार' शीर्षक अंश)।

**परिचित अप्रस्तुत की आवश्यकता**

अप्रस्तुत के विषय में ऊपर के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट है कि काव्य में उसकी (अप्रस्तुत वा अलंकार की) निहिति वा योजना अर्थ की स्पष्टता अथवा स्फुटता के लिए ही होती है। ऐसी स्थिति में उपमान वा अप्रस्तुत से श्रोता वा पाठक का परिचित होना आवश्यक है। तात्पर्य यह की अप्रस्तुत ऐसे होने चाहिए, जिनके पढ़ने वा सुनने से उनका रूप, गुण, व्यापार आदि पाठक वा श्रोता पर शीघ्र ही प्रकट हो जाय, उलझे हुए वा संकेतगर्भ (अल्यूसिव) अप्रस्तुत न हों। इस विषय में आचार्य शुक्ल का भी यही मत है—"काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुँचाते हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता वा रमणीयता आदि का संस्कार जनसाधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है।"—(भ्रमरगीतसार, पृ० ३७)। इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि परंपरा से बँधी चली आती हुई उपमाएँ ही लाई जायँ, यह भी आवश्यक

हीं है, नए-नए अप्रस्तुतों का प्रयोग भी कवि कर सकता है, पर इसका ध्यान रहे कि वे उलझी हुई न हों—'उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसे प्रसंगों में पुरानी बँधी हुई उपमाएँ ही लाई जायँ, नई न लाई जायँ। अप्रसिद्धि' मात्र उपमा का कोई दोष नहीं, पर नई उपमाओं की सारी जिम्मेदारी कवि पर होती है।"—( जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ १३७-३८ )।

अब तक के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकार प्रायः साम्य की दृष्टि से प्रस्तुत हुए हैं ; असाम्यमूलक अलंकार भी हैं, पर बहुत ही कम, यथा विभावना, विरोधाभास, असंगति आदि। उपर्युक्त अलंकारों के भेद विवेचन द्वारा यह भी विदित होता है कि साम्यमूलक अलंकार रूप, गुण और क्रिया के आधार पर ही निर्मित होते हैं। रूप, गुण और क्रिया की दृष्टि से साम्यमूलक अलंकारों के मुख्यतः दो भेद हैं—( १ ) सादृश्यमूलक ( रूपगत साम्य ); ( २ ) साधर्म्यमूलक ( धर्म अर्थात् गुण, क्रिया आदि में साम्य )। पर साम्य के अंतर्गत शब्द साम्य भी आता है, जो कोरे चमत्कार वा वाग्वैदग्ध्य से संबंध रखता है। साम्य के इस तीसरे रूप पर दृष्टि रखकर रचना करनेवाले कवियों को आचार्य शुक्ल ने अच्छा नहीं कहा है। इस ढंग की रचना करनेवालों में केशवदास प्रधान थे, जिन्हें उन्होंने निम्न कोटि का कवि माना है—अपने काव्य-सिद्धांतों के अनुसार। तात्पर्य यह कि साम्यमूलक अलंकारों के शास्त्रीय दृष्टि से तीन प्रमुख प्रकार हो सकते हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से अलंकारों पर विचार करते हुए हमने देखा कि वे अलंकार-योजना द्वारा भावोत्कर्ष के भी प्रतिपादक हैं, उनका कथन है कि अलंकारों द्वारा भावानुभूति में भी तीव्रता आनी चाहिए। इसी कारण वे गोस्वामी तुलसीदास के अलंकारों का विवेचन करते हुए रूप, गुण, क्रिया के साथ ही भाव पर भी दृष्टि रखकर विचार करते हैं। तुलसी के अलंकार-विवेचन का क्रम इस प्रकार है—"( १ ) भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक, ( २ ) वस्तुओं के रूप ( सौंदर्य, भीषणत्व आदि ) का अनुभव करने में सहायक, ( ३ ) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक, ( ४ ) क्रिया का अनुभव करने में सहायक।"—( गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १६२ )। इस उद्धरण से हमारा आशय यह है कि स्थूल रूप से आचार्य शुक्ल

के मतानुसार हम अलंकारों के उपर्युक्त चार भेद मान सकते हैं।

ऊपर हमने साम्य की दृष्टि से ही आचार्य शुक्ल द्वारा अलंकार-विवेचन देखा है। अलंकारों में अप्रस्तुत की साम्य-योजना की प्रक्रिया क्या है, कैसे

**अलंकारगत साम्य-योजना की प्रक्रिया**

प्रस्तुत के समान ही अप्रस्तुत की भावना मन में आ जाती है, इसे भी देखना चाहिए। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत की तुल्य-योजना में कवि द्वारा अनुभूत ( एक्सपीरीयंस्ड ) और अधीत ( स्टडीड ) वस्तुओं की उसके हृदय पर छाया वा संस्कार ( इंप्रेशन ) का कल्पना द्वारा ग्रहण होता है। रमणी के मुख की उपमा चंद्रमा से देने के पूर्व ही कवि के हृदय में अध्ययन वा अनुभूति द्वारा रमणी के मुख की सुन्दरता, दीप्ति आदि की तुलना में चंद्रमा की सुन्दरता, दीप्ति आदि का संस्कार निहित रहता है और अवसर पड़ने पर वह संस्कार कल्पना द्वारा स्वतः ही उदित होकर काव्य में प्रकट हो जाता है, क्योंकि कवि काव्य-रचना करते समय भावावेश में उपमान और उपमेय के रूप, धर्म, क्रिया आदिके साम्य का लेखा-जोखा नहीं लेता, साम्य का यह संस्कार पूर्व ही से उसके मन में पड़ा रहता है। जो कवि ऐसा करके काव्य रचेगा उसकी रचना में प्रभाव का अभाव दृष्टिगत होगा और वह (रचना) माथापच्ची से बनी (लेवर्ड) प्रतीत होगी। आचार्य शुक्ल भी अलंकारगत उपमान-विधान कल्पना द्वारा ही मानते हैं—"कहने की आवश्यकता नहीं कि अलंकार-विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।"—( भ्रमरगीतसार, पृ० ३० )।

सत्त्ववाचक ( कांक्रीट ) के स्थान पर असत्त्ववाचक ( अब्स्ट्रैक्ट ) का और असत्त्ववाचक के स्थान पर सत्त्ववाचक का प्रयोग सभी देशोंके प्राचीन

**सत्त्ववाचक के स्थान पर असत्त्ववाचक तथा असत्त्ववाचक के स्थान पर सत्त्व-वाचक का प्रयोग**

तथा नवीन दोनों प्रकार के काव्यों में प्राप्त होता है। अँगरेजी काव्य में—विशेषतः स्वच्छंदतावादी ( रोमांटिक) कवियों के काव्य में—ऐसे प्रयोग विशेष रूप से मिलते हैं। हिन्दी के प्राचीन कवियों यथा, घनानन्द और केशव आदि में भी कथन की यह प्रणाली कहीं-कहीं लक्षित होती है। हिन्दी के आधुनिक कवियों में इसका प्रचार विशेष है। ऐसा प्रतीत होता है कि अँगरेजी काव्य से प्रभावित होने

के कारण हमारे यहाँ के नवीन कवि ऐसे प्रयोग विशेष रूपसे करने लगे हैं। हिंदी के गद्य-लेखकों में भी ऐसे प्रयोगों के दर्शन होते हैं। सत्त्व या वस्तुवाचक का प्रयोग असत्त्व वा भाववाचक के स्थान पर तथा असत्त्व वा भाववाचक के स्थान पर सत्त्व या वस्तुवाचक का प्रयोग भी कथन वा वर्णन की विशिष्ट प्रणाली ही है, जो अलंकार के अंतर्गत आती है—आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार। अँगरेजी साहित्य के आलंकारिक कथन की उपर्युक्त दोनों प्रणालियों को सिनेक्डोकी अलंकार के एक भेद के अंतर्गत रखते हैं। ऐसे प्रयोगों के स्वरूप तथा उनकी विशिष्टता के विषय में देखिए आचार्य शुक्ल क्या कहते हैं—"मूर्त रूप खड़ा करने के लिए जिस प्रकार भाववाचक शब्दों के स्थान पर कुछ वस्तुवाचक शब्द रखे जाते हैं उसी प्रकार कभी-कभी लोकसामान्य व्यापक भावना उपस्थित करने के लिए व्यक्तिवाचक या वस्तुवाचक शब्दों के स्थान पर उपादान लक्षणा के बल पर भाववाचक शब्द भी रखे जाते हैं। इस युक्ति से जो तथ्य रखा जाता है वह बहुत भव्य, विशाल और गंभीर होकर सामने आता है*।"—(शेष स्मृतियाँ की 'प्रवेशिका', पृ० ३० और देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृ० २७–२९)।

**प्रकृति पर भाव, तथ्य का आरोप और अलंकार**

प्रकृति और काव्य पर विचार करते हुए हमने देखा था कि प्रकृति के रूप-व्यापारों पर कवि भावों, तथ्यों आदि का आरोप करता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि इस प्रकार का प्रकृति पर आरोप अलंकार ही है। उनका कहना है कि जिस प्रकार अप्रस्तुत प्रस्तुत के लिए फालतू वा अतिरिक्त वस्तु होता है उसी प्रकार वह आरोप भी प्रकृति के लिए अतिरिक्त वस्तु ही है। देखिए वे क्या कहते हैं—"प्रकृति की ठीक और सच्ची व्यंजना के बाहर जिस भाव, तथ्य आदि का आरोप हम प्रकृति के रूपों और व्यापारों पर करेंगे वह सर्वथा अप्रस्तुत अर्थात् अलंकार मात्र होगा, चाहे हम उसे किसी अलंकार के बँधे साँचे में ढालें या न ढालें। उसका मूल्य

---

* वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक ने इसे ही 'उपचारवक्रत्व' कहा है। देखिए वक्रोक्तिजीवित का प्रथम उन्मेष।

एक फालतू या ऊपरी चीज के मूल्य से अधिक न होगा। चाहे हम कोई उपदेश निकालें, चाहे सादृश्य या साधर्म्य के सहारे कोई नैतिक या 'आध्यात्मिक' तथ्य उपस्थित करें, चाहे अपनी कल्पना या भावना का मूर्त-विधान करें, वह उपदेश, तथ्य या विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म का उद्घाटन न होगा।" (काव्य में रहस्यवाद, पृ० २५–२६) प्रकृति पर भाव और तथ्य के आरोप को अलंकार मानने के दो कारण हैं। एक तो यह कि वे अप्रस्तुत की भाँति ही अतिरिक्त वस्तु होते हैं। दूसरे यह कि ऐसा करने से वर्णन में रमणीयता भी आ जाती है, जो अलंकार का प्रमुख धर्म है। यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अलंकार के दुष्प्रयोग द्वारा काव्य का मूल्य गिर जाता है, उसी प्रकार प्रकृति पर व्यर्थ के आरोपों द्वारा भी उसमें (प्रकृति या प्रस्तुत में) भद्दापन आ सकता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने प्रकृति पर मानव-भावनाओं आदि के आरोप को अलंकार नहीं कहा है, पर अँगरेजी आलंकारिक इस प्रकार के आरोप को अलंकार के अंतर्गत रखते हैं, जैसे जड़ प्रकृति में मानव के समान ही भावना, क्रिया आदि के आरोप को वे परसॉनिफिकेशन नामक अलंकार के अंतर्गत रखेंगे। वर्णन की इस प्रणाली को हम सत्त्ववाचक के स्थान पर असत्त्ववाचक का प्रयोग कह सकते हैं, जो भारतीय प्राचीन तथा नवीन दोनों काव्यों में प्राप्त है। इसे 'मानवीकरण' अलंकार कहना तो कोरी नकल हो जायगी। भारतीय शास्त्रों के अनुसार यह लक्षण विधान के भीतर ही है, जो कहीं उपचार द्वारा होगा और कहीं अनुपचार या उपचारेतर योजना द्वारा।

अर्थालंकारों के रसानुकूल प्रसंग-प्राप्त स्पष्ट प्रयोग के तो आचार्य शुक्ल पक्षपाती थे, यह उपर्युक्त विवेचन से विदित है। वे काव्य में अलंकार की

**शब्दालंकार**

उपयोगिता के समर्थक थे अवश्य, पर उसका समुचित और शिष्ट प्रयोग ही देखना चाहते थे, केवल चमत्कार के लिए उपमा पर उपमा और उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा का नंधान वे उचित नहीं समझते थे। वे काव्य में शिष्ट रुचिवाले कवियों की रचनाओं को ही अच्छा समझते थे। शब्दालंकार को वे काव्य में विशेष महत्त्व नहीं देते थे, जिसके द्वारा केवल चमत्कार की ही सृष्टि होती है। अलंकारगत

शब्द-साम्य के विषय में उन्होंने कहा है—"इनमें से तीसरे ( शब्द-साम्य ) को लेकर तमाशे खड़े करना तो केशव ऐसे चमत्कारवादी कवियों का काम है।" —( इन्दौरवाला भाषण, पृ० ८६ )। इससे स्पष्ट है कि वे शब्दालंकार को अर्थालंकार की अपेक्षा निम्न कोटि की वस्तु समझते थे।

आचार्य शुक्ल संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्धारित कुछ अलंकारों को अलंकार की श्रेणी में नहीं रखते। वे अलंकार हिंदी में भी प्रचलित हैं। उनके नाम हैं—स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति। स्वभावोक्ति पर उन्होंने विशेष रूप से विचार किया है। उनका कहना है कि स्वभावोक्ति में प्रस्तुत का ही वर्णन होता है, और केवल प्रस्तुत के वर्णन को रस-क्षेत्र से निकाल कर अलंकार की श्रेणी में नहीं रख सकते। स्वभावोक्ति में वर्णित वस्तु व्यापारों के आधार पर अप्रस्तुतों की योजना हो सकती है। ऐसी स्थिति में उसे अलंकार कैसे माना जा सकता है। देखिए वे क्या कहते हैं—"वात्सल्य में बालक के रूप आदि का वर्णन आलंबन विभाग के अंतर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अंतर्गत होगा। प्रस्तुत वस्तु की रूप, क्रिया आदि के वर्णन को रस-क्षेत्र से घसीटकर अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते।" ( चिंतामणि, पृ० २५० )। दूसरे स्थल पर वे कहते हैं—"पर मैं इन्हें ( लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गंडस्थल रगड़ना इत्यादि को ) प्रस्तुत विषय मानता हूँ; जिन पर अप्रस्तुत विषयों का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )। अभिप्राय यह कि स्वभावोक्ति को वे अलंकार नहीं मानते, प्रस्तुत विषय ही मानते हैं। भामह और कुंतक* ने भी इसे अलंकार नहीं माना है। अलंकार के समर्थक यह कह सकते हैं कि जब अलंकार वर्णन की एक प्रणाली ही है, तब प्रस्तुत का यथातथ्य चित्रवत् वर्णन ( ग्राफिक डिस्क्रिप्शन ) भी तो अलंकार ही हुआ। पर आचार्य शुक्ल तो काव्य में मूर्त-विधान आवश्यक मानते हैं, जिसके अंतर्गत

स्वभावोक्ति का अनलंकारत्व

---

* अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः। अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते।

—वक्रोक्तिजीवित, प्रथम उन्मेष, ११।

'चित्रवत् वर्णन' भी आ जाता है। वस्तुतः स्वभावोक्ति अलंकार प्रस्तुत विषय से ही संबद्ध है, अप्रस्तुत से नहीं। संस्कृत के कुछ आलंकारिक स्वभावोक्ति को 'जाति' भी कहते हैं।

काव्य-भाषा

काव्य-स्वरूप पर विचार करते हुए हमने देखा था कि काव्य में भाषा का कितना बड़ा महत्त्व है। बिना वाणी या भाषा के काव्य की लक्ष्य-पूर्ति हो ही नहीं सकती, कवि की भावना की पहुँच श्रोता या पाठक तक बिना वाणी के असंभव है, इस कार्य का प्रधान साधन या कारण भाषा ही है। तो, काव्य की सार्थकता भाषा पर ही अवलंबित है। यह काव्य की प्रधान साधन है। आगे हम आचार्य शुक्ल की दृष्टि से काव्य-भाषा पर विचार करेंगे, जो काव्य के कला-पक्ष में अपना विशेष महत्त्व रखती है।

लक्षणा-शक्ति

यह हम पर विदित है कि आचार्य शुक्ल काव्य का प्रधान लक्ष्य मूर्ति-विधान मानते हैं, उनका कथन है कि कविता हमारे संमुख जगत् और जीवन से संबद्ध रूप-व्यापारों को मूर्त या चित्र रूप में रखती है। वह गोचर वस्तु-व्यापारों का तो मूर्त रूप प्रस्तुत ही करती है अगोचर भावनाओं को भी गोचर या मूर्त रूप में अंकित करने का प्रयास करती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप में रखने का प्रयास करती है।"—( चिंतामणि, पृ० २३८ )। उनका मत यह है कि इस कार्य की पूर्ति के लिए भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेना पड़ता है—"इस मूर्त-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है।" ( वही )। क्योंकि "लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है।"—( वही, पृ० २३९ )। ऐसी स्थिति में यदि कवि को यह कहना रहता है कि 'समय बीता जाता है' तो वह इसको मूर्तरूप में प्रस्तुत करने के लिए लक्षणा का अवलंबन लेकर कहता है कि 'समय भागा जाता है'। इसी प्रकार गोचर रूप के प्रत्यक्षीकरण के लिए भी वह लक्षणा से सहायता लेता है।

काव्य में भावना को गोचर रूप में प्रस्तुत करने के लिए कवि को एक दूसरी पद्धति का भी अनुसरण करना पड़ता है, जिसमें जाति-संकेतवाले शब्द न लाकर विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द लाने पड़ते हैं।

**विशेष रूप व्यापार सूचक शब्द-प्रयोग**

आचार्य शुक्ल कहते हैं—"भावना को मूर्तरूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेतवाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं।"—( चिंतामणि, पृ० २३९-४० ) कहने का तात्पर्य यह कि इस कार्य की पूर्ति के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग विरल रूप से करना पड़ता है, जिसके द्वारा अनेक रूप-व्यापारों की भावना मिले जुले रूप में होती है, जैसे, 'अत्याचार' शब्द का प्रयोग मारना-पीटना, लूटना-पाटना, डाटना-डपटना इत्यादि अनेक रूप-व्यापारों का स्वरूप संमुख लाता है, पर मन में कोई रूप-व्यापार जमता नहीं। इनकी अस्पष्ट भावना मात्र हो जाती है। तो, काव्यगत रूप-विधान के लिए ऐसे अस्पष्ट रूप-व्यापार की झलक देनेवाले शब्दों का प्रयोग अच्छा नहीं होता, प्रत्युत ऐसे शब्दों का प्रयोग अभीष्ट होता है, जिनके द्वारा मन में टिकनेवाले केवल एक ही दो रूप-व्यापार व्यक्त होते हैं, जैसे, पत्नी पर अत्याचार करनेवाले पति को समझाने के लिए यह कहना है कि—'इसका तो विचार करो कि तुमने उससे विवाह किया है' की अपेक्षा 'यह कहना अत्यन्त उपयुक्त है कि 'तुमने उसका हाथ पकड़ा है'। इस प्रयोग द्वारा विवाह के समय का हाथ पकड़ने का वह दृश्य संमुख आ जाता है जो अवलंब देने का सूचक है। अभिप्राय यह है कि भावना को मूर्तरूप में प्रस्तुत करने के लिए अनेक रूप-व्यापारों में से एक वा दो ऐसे रूप-व्यापार काव्य में चित्रित करने पड़ते हैं जिनका प्रभाव हृदय में कुछ समय तक बना रहे। आचार्य शुक्ल का कथन है कि इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए काव्य में शास्त्रगत पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी वर्ज्य है। ऐसे शब्दों का प्रयोग 'अप्रतीतत्व' दोष माना जाता है।

काव्य-भाषा की तीसरी विशिष्टता पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त-विधान

**नाद-सौंदर्य**

के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग, वृत्तविधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद-सौंदर्य-साधन के लिए ही हैं।"—( चिंतामणि, पृ० २४४ )। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है।"—( वही, पृ० २४५ )। उनके मतानुसार नाद-सौंदर्य द्वारा काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा में सहायता मिलती है।

**प्रसंगानुकूल व्यक्ति-वाचक नामों का प्रयोग**

काव्य-भाषा की एक और विशेषता पर आचार्य शुक्ल ने विचार किया है और उसे वे संस्कृत से हिंदी में आई हुई बताते हैं। देखा यह जाता है कि काव्य में व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग भी होता है, इस स्थिति में चाहिए यह कि जिस व्यक्ति का नाम प्रयुक्त हो, उसके रूप-गुण वा कार्य को दृष्टि में रखकर रखे गए नामों का प्रयोग प्रसंगानुकूल हो, इसके विरुद्ध नहीं। जैसे, कृष्ण के 'मुरारी' नाम का प्रयोग विपन्नावस्था में होना चाहिए, इस अवस्था में इनके 'विपिनविहारी' वा 'गोपिकारमण' नामों का प्रयोग नहीं, क्योंकि ये ( नाम ) इस स्थिति में प्रसंगविरुद्ध होंगे।

**काव्य की रमणीयता**

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की दृष्टि से काव्य-भाषा की विशिष्टता पर विचार किया, उसकी सरलता वा सीधे-सादेपन पर भी विचार किया, जिसके द्वारा काव्य की मार्मिक व्यंजना होती है और भाषा से ही अभिधेयार्थ में ही संबद्ध अलंकार पर भी कुछ दृष्टि डाली, किंतु इसके अतिरिक्त काव्य में भाषा को ही लेकर शब्द-शक्तियों पर भी विचार होता है। अतः इस संबंध में भी हम आचार्य शुक्ल का मत एवं विवेचन देखें। उन्होंने शब्द-शक्तियों पर पूर्ण रूप से विचार नहीं किया है, स्थलाभाव के कारण उनके लिए यह संभव भी नहीं था, पर इस विषय में उनकी तथा प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में जहाँ-जहाँ अंतर आ पड़ा है। उन-उन स्थलों की विवेचना उन्होंने अपनी दृष्टि से की है। यह सभी विज्ञों पर प्रकट है कि स्थूलतः योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति या संनिधि से युक्त पदसमूह वाक्य होता है, जो स्वतंत्र अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

विशिष्टताधायक पदों में ही यह शक्ति होती है कि यदि प्रयोक्ता बुद्धिपूर्वक इनका प्रयोग करे तो उसका अभीष्ट अर्थ व्यक्त हो सकता है अन्यथा नहीं। अभिधेय या सीधे-सादे अर्थ की प्राप्ति के लिए तो यही प्रक्रिया काम करती है। पर कभी-कभी वचन-भंगिमा के लिए अयोग्य वा अनुपपन्न पदों की योजना भी की जाती है, जिनके अभिधेयार्थ द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती नहीं दिखती। ऐसी स्थिति में, आचार्यों के मत्यनुसार; शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्तियों द्वारा अभीष्ट अर्थ की पूर्ति होती है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि लक्षणा और व्यंजना शक्तियों द्वारा लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्राप्ति अभिधा के पथ पर चलकर ही होती है, बिना अभिधेयार्थ समझे लक्ष्यार्थ वा व्यंग्यार्थ समझ में नहीं आ सकता। इस विषय में आचार्य शुक्ल तथा भारतीय प्राचीन आचार्य एक मत हैं। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"इससे यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी 'योग्यता' या 'उपयुक्तता' को पहुँचा हुआ, समझ में आने योग्य रूप में आया हुआ, अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणित होकर हमारे सामने आता है।"—(इन्दौरवाला भाषण, पृ० ८)। 'जैमिनिसूत्र'* पर भाष्य करते हुए शबर स्वामी ने तथा 'अभिधावृत्तिमातृका'† में मुकुल भट्ट ने भी ऐसा ही कहा है। भट्टनायक का भी यही कथन है। ये लक्षणा की स्थिति अभिधा से पृथक् नहीं मानते।

शब्द की सभी शक्तियों के मूल में अभिधा-शक्ति को निहित देखकर ही आचार्य शुक्ल ने अपना यह मत स्थापित किया है कि काव्य में रमणीयता का दर्शन अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ में ही होता है। उनका कहना है—"अब प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो, अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। मेरा यह कथन विरोधाभास

---

* कथं परत्र परशब्दः प्रवर्तत इति। गुणवादस्तु। गुणादेष वादः। कथं अगुणवचनो गुणं ब्रूयात्। स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः।

† अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता।

का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं है, सोलह आने ठीक है।"—( इन्दौरवाला भाषण, पृ० १३ )। अपने पक्ष के समर्थन में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जैसे, यह लक्षणायुक्त वाक्य लीजिए—

जीकर, हाय ! पतंग मरे क्या ?

इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या इसके वाच्यार्थ में ही। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतंग क्यों कष्ट भोगे ?' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार न रहेगा।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० १३–१४ )। अभिप्राय यह कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में वाच्यार्थ ही काव्य है, उसके और दो अर्थ काव्य नहीं, वे तो वाच्यार्थ के साधक मात्र हैं।

इसे हम देख चुके हैं कि काव्य में वक्रोक्ति वा वचन के बाँकपन की आवश्यकता होती है, यद्यपि वही उसका सब कुछ नहीं है। अभी-अभी हमने यह भी देखा कि काव्य-शास्त्र में उन लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ उक्तमत की मीमांसा की भी स्थिति है, जो वाच्यार्थ से चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं। हम पर यह भी विदित है कि कविकला की दृष्टि से अपने काव्य को सँवारने के लिए मुहावरों आदि का भी प्रयोग करता है, जो प्रायः अलंकारों के आधार पर बनते हैं और उन्हीं के समान कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में वाच्यार्थ को ही काव्य वा उसकी (काव्य की) रमणीयता मानना ठीक नहीं प्रतीत होता। 'जीकर, हाय ! पतंग मरे क्या ?' के वाच्यार्थ में ही यदि काव्य की स्थिति मानी जाय तो उसका कोई अर्थ ही न लगेगा। इसमें प्रयुक्त 'मरना' को यदि वस्तुतः 'शरीर त्याग करना' मानकर अर्थ लगाया जाय, 'मरना' को मुहावरे के रूप में लेकर 'कष्ट भोगना' न माना जाय, तो इसका कोई अर्थ ही न निकलेगा। हां, वाच्यार्थ के आधार पर, इसमें प्रयुक्त मुहावरे का अर्थ समझकर, इसके लक्ष्यार्थ पर जब दृष्टि जाती है, तभी मन अनुरंजित होता है, और कवि-कौशल भी ज्ञात होता है। बिना इस वाक्य की ध्वनि को समझे; केवल इसके वाच्यार्थ के आधार पर ही इसमें रमणीयता लक्षित नहीं होती। जब हम इसका अर्थ समझते हैं, तभी इसकी रसात्मकता का अनुभव होता है। वाच्यार्थ को भेदकर जब हम लक्ष्यार्थ वा व्यंग्यार्थ तक पहुँचते हैं तभी

व्य की स्थिति वस्तुतः माननी चाहिए। और वाच्यार्थ के आधार पर लक्ष्यार्थ
; व्यंग्यार्थ की स्थिति तो आचार्य शुक्ल भी मानते हैं। यह सत्य है कि ध्वनित
। व्यंजित वस्तु बड़ी ही सीधी-सादी और थोड़ी-सी होती है, पर काव्यमयी
,भिव्यंजना के मध्य से ध्वनित या व्यंजित होती हुई वह रमणीय प्रतीत होती
। हमारा पक्ष यही है कि केवल वाच्यार्थ काव्य नहीं है, इसके द्वारा लक्षित,
यंजित या ध्वनित अर्थ ही काव्य है। ध्वनि-काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन
भारतीय साहित्य के आचार्यों ने इसी दृष्टि से किया है। अँगरेज साहित्य मीमांसक
एबरक्रांबी भी इसी पक्ष के समर्थक हैं*।

व्यंजना के विषय में भी आचार्य शुक्ल ने कुछ अपनी दृष्टि से विचार किया
है। व्यंजना दो प्रकार की होती है; एक वस्तु व्यंजना और दूसरी भावव्यंजना।
इन दोनों व्यंजनाओं के स्वरूप के विषय में प्राचीन आचार्यों
व्यंजना और उसके तथा आचार्य शुक्ल में मत-वैषम्य है। प्राचीन आचार्यों ने
प्रकार इनका भेद किस रूप में स्थापित किया है, इसे आचार्य
शुक्ल के शब्दों में ही देखिए—"पर साहित्य के ग्रन्थों
में दोनों में केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एक में वाच्यार्थ से
व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है, दूसरी

---

* "Nevertheless, language in literature must be made to mean very much more than the logical or grammatical meaning which is given by its syntax—the orderly arrangement of its parts... Thus, as we have already noticed, something infinitely variable (experience) must be committed to a notation (language), the capactiy of which is, by its nature, limited Literary art therefore, will always be in some degree suggestion ; and the height of literary art is to make the power of suggestion in language as commanding, as far-reaching, as vivid, as suitable as possible."—Loscelles Abercrombie M. A.'s *Principles of Literary Criticism*, pp. 38-39.

में यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ९ )। प्राचीन आचार्यों के इस मत की आलोचना करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—"पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नहीं है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि 'अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है'। पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि 'अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है' स्वयं क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नहीं है।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ९–१० )। इस विषय में कहा यह जा सकता है कि कवि का लक्ष्य वस्तुतः बीज-रूप में यही व्यक्त करना रहता है कि 'अमुक क्रोध वा प्रेम कर रहा है'। पर वह इतनी ही बात की व्यंजना के लिए काव्य के उन सभी प्रसाधनों का उपयोग करता है जिनके द्वारा श्रोता वा पाठक के हृदय में इस बात की अनुभूति हो जाय कि 'अमुक क्रोध वा प्रेम कर रहा है'। यह तो निश्चित है कि कवि केवल यही तथ्य नहीं उपस्थित करता कि अमुक ऐसा करता है। वह तो इसी बात को काव्य के उपकरणों द्वारा ध्वनित करता है, जिसका अनुभव श्रोता वा पाठक करता है। इस तथ्य का कथन मात्र तो काव्य हो ही नहीं सकता।

वस्तुतः प्राचीन आचार्यों तथा आचार्य शुक्ल में इस विषय पर मत-वैभिन्न का कारण यह है कि आचार्य शुक्ल के मतानुसार तथ्य वा वृत्त बोधवृत्ति से संबद्ध है और भाव अनुभूति से। पहले का संबंध बुद्धि से है और दूसरे का हृदय से। वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना में भिन्नता का निर्देश करते हुए वे यही बात कहते हैं—"यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों ( वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना ) भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तु-व्यंजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भाव-व्यंजना जिस रूप में मानी गई है उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ९ )। इस उद्धरण के पूर्व के उद्धरण पर विचार करते हुए हमने कहा है कि

वस्तुतः कवि का लक्ष्य 'अमुक क्रोध वा प्रेम कर रहा है' तथ्य का काव्यमयी वाणी द्वारा श्रोता वा पाठक को बोध कराना होता है। काव्य का प्रधान संबंध हृदय से है, अतः काव्य में भाव का भी संबंध हृदय से स्थापित होता है और तथ्य वा वृत्त का भी। यहाँ यह अवश्य ध्यान में रखना होगा कि काव्य अपने शुद्ध रूप में हो। अभिप्राय यह कि काव्य के राज्य में आकर वस्तु तथा भाव एक श्रेणी की वस्तु हो जाते हैं, दोनों का संबंध न्यूनाधिक रूप में हृदय से होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल जिस भाव का संबंध केवल हृदय से मानते हैं, उसकी अनुभूति में बुद्धि की प्रक्रिया भी तो अपना कार्य करती ही है। ऐसी स्थिति में प्राचीन आचार्यों द्वारा वस्तु तथा भाव-व्यंजना को लगभग एक ही वस्तु मानना अनुपयुक्त नहीं जँचता।

काव्य-भाषा के विषय में आचार्य शुक्ल के विचारों के निर्देश में हमने देखा है कि वे उसके लिए नाद-सौंदर्य की आवश्यकता भी समझते हैं, जो संगीत-शास्त्र से संबद्ध है। नाद काव्य के एक अन्य प्रसाधन रीति से संबंध रखता है, जिसको दृष्टि में रखकर कविगण रसानुकूल वर्णों का प्रयोग करते हैं, अर्थात् कोमल रसों के वर्णन में कोमल वर्णों का प्रयोग करते हैं और परुष वा कठोर रसों के वर्णन में कर्कश वर्णों का। रीति के प्रयोजन के विषय में उन्होंने कहा है—"रीति का विधान शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए हुआ है।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ९२ )। पर, वे कोमल-परुष वर्णों के प्रयोग में ही काव्य की सिद्धि नहीं मानते—"पर इसका यह मतलब नहीं कि 'मंजु, मंजुल, प्रांजल' तथा 'उद्दंड, प्रचंड, मार्तंड' लिखकर ही काव्य की सिद्धि समझ ली जाय।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ९२ )। अभिप्राय यह कि वे कल्पना, अलंकार आदि की भाँति रीति को भी काव्य का एक साधन मानते हैं, उसका साध्य नहीं। प्राचीन आचार्यों में वामन रीति के बड़े भारी समर्थक थे। रीति पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने यूरोप में आधुनिक काल में प्रचलित फरासीसी 'रीतिवाद' (फ्रेंच इंप्रेसनिज्म) का भी निर्देश किया है, जिसके अनुसार शब्दों के अर्थों पर विशेष ध्यान न देकर उनकी नाद-शक्ति पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है।—( देखिए इंदौरवाला भाषण, पृ० ९२-९३, ९८-९९ )।

रीति

काव्य के कला-पक्ष के संबंध में अब केवल छंद और लय पर ही अं विचार करना है। काव्य को पद्य का रूप देने के लिए छंद तथा लय व

**छंद और लय**

अवलंब सभी देशों के काव्यों में बहुत प्राचीन काल चला आ रहा है। स्थूलतः कुछ लोगों का तो यह विचा है कि बिना छंद के काव्य होता ही नहीं, पर बात ऐसी नह है, बिना छंद के गद्य में भी काव्य हो सकता है और होता है, यथा, 'कादंबरी और 'प्रसाद' की भावात्मक कहानियाँ, जिनकी भाषा काव्य की भाषा से वैशिष्ट्य में किसी प्रकार कम नहीं है। ईसा की उन्नीसवीं और बीसवीं शती में छंद के बंधन का विरोध वा इस क्षेत्र में कुछ स्वातंत्र्य-प्राप्ति का आंदोलन यूरोप, अमेरिका और भारत में, इन देशों में प्रचलित काव्य-रीतियों की कठोरता, कोरे प्रदर्शन (आर्टिफिशियलिटी) आदि की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। अँगरेजी के पोप, ड्राइडेन आदि कवियों की, जो हमारे यहाँ के रीतिकालीन दरबारी कवियों (कोर्ट पोयट्स) के कुछ-कुछ समान ही प्रतीत होते हैं, रीतिवादिता से ऊबकर स्वछंदतावादी आंदोलन (रोमांटिक मूवमेंट) के कवियों ने काव्य के सभी पक्षोंमें सुविधा और स्वतंत्रता का सूत्रपात किया और इसे दृष्टि में रखकर रचनाएँ प्रस्तुत कीं। हमारे यहाँ छंद आदि को लेकर स्वतंत्रता की चर्चा तो द्विवेदी-युग में हुई, पर इसका अधिक प्रचार न हो सका। इसका प्रचार तथा इसके अनुकूल रचना छायावाद युग में हुई। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार इस युग के कवि काव्य के सभी क्षेत्रों में अँगरेज स्वच्छंदतावादी कवियों से प्रभावित हुए उसी प्रकार छंदगत स्वतंत्रता के क्षेत्र में भी। आचार्य शुक्ल का कथन है कि छंद के बंधन के विरोध को आंदोलन का रूप देने में अमेरिका के कवि वाल्ट ह्विटमैन का प्रधान हाथ है।

काव्य में छंद की स्थिति की आवश्यकता के समर्थक भी प्राचीन काल से ही इसमें विशेष कड़ाई का प्रतिपादन नहीं करते, वे भी नवीन-नवीन छंद-योजना के समर्थक हैं, पर उनका कथन यह है कि इस योजना में व्यवस्था होनी चाहिए। 'भागवत' के पंचम स्कंध में विविध नवीन छंदों का प्रयोग है, जो गद्य-से प्रतीत होते हैं, पर उनमें व्यवस्था है और वे छंद ही हैं। आचार्य

शुक्ल ने भी नए-नए छंदों की योजना का समर्थन किया है; वे इसे काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं।—( देखिए इतिहास, पृ० ७७२ )। वस्तुतः छन्द में बन्धन वा व्यवस्था का ही महत्त्व है, यह व्यवस्था नवीन भी हो सकती है। छन्द में लय का समावेश स्वतः ही हो जाता है। छन्द और लय के विषय में आचार्य शुक्ल ने कहा है—"छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचों ( Patterns ) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १३५ )। छन्द से ही संबद्ध तुक भी है। इसके विषय में आचार्य शुक्ल कहते हैं—'तुक' भी कोई ऐसी अनिवार्य वस्तु नहीं।"—( इतिहास, पृष्ट ७७२ )। इस प्रकार हमें विदित होता है कि छन्द को लेकर उनके विचार बड़े उदार हैं। पर वे कविता में इसको आवश्यक समझते हैं। इसके प्रयोजन के विषय में उनका कहना है—"छन्द द्वारा होता यह है कि इन ढाँचों की मिति और इनके योग की मिति दोनों श्रोता को ज्ञात हो जाती है, जिससे वह भीतर ही भीतर पढ़नेवाले के साथ ही साथ उसकी नाद की गति में योग देता चलता है।........अतः छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता (Communicability of Sound impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है। हाँ, नए-नए छंदों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १३५ )।

स्वछंदतावादी कवि वा छायावादी कवि भाव वा विचार की छोटाई-बड़ाई की दृष्टि से चरणों को छोटा-बड़ा रखते हैं। हिंदी में श्री निराला ने सर्वप्रथम इस प्रकार की योजना प्रस्तुत की। इसके विपक्ष तथा पक्ष में आचार्य शुक्ल स्वयं इस प्रकार कहते हैं—"इस पर पहली बात तो यह पेश हो सकती है कि किसी भाव वा विचार की पूर्णता का संबंध वाक्य से होता है और वाक्य के लिए आज-कल की पद्य-पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि वह चरण के अन्त ही में पूरा हो। वह बीच में भी पूरा हो सकता है। यह अवश्य है कि चरण के बीच में एक वाक्य का अन्त और दूसरे का आरम्भ होने से कविता

चुपचाप बाँचने के ही अधिक उपयुक्त होती है, लय के साथ जोर से सुनाने के उपयुक्त नहीं होती। जिन्होंने अच्छी लय के साथ किसी सुकंठ के मुँह से कविता का पाठ सुना है वे जानते हैं कि किसी कविता का पूर्ण सौंदर्य उसके जोर से पढ़े जाने पर ही प्रकट होता है। छंदों की चलती लय में कुछ विशेष माधुर्य होता है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १३६ )। इससे विदित होता है कि पद्य के मध्य में एक विचार वा भाव-धारा की समाप्ति तथा दूसरे के आरंभ पर उनका मत अच्छा नहीं है। इसी कारण वे प्रस्ताव करते हैं— "छोटे-बड़े चरणों की यदि योजना करनी हो तो भिन्न-भिन्न छंदों के दो-दो चरण रखते हुए बराबर चले चलने में हम कोई हर्ज नहीं समझते। यह हमारा प्रस्ताव मात्र है।"—( वही, पृष्ठ १३७ )। भिन्न-भिन्न छंदों के दो-दो चरण रखने में भी कठिनाई उपस्थित हो सकती है। मान लीजिए कि एक छोटी भाव-धारा चौदह मात्रा-वाले छंद के एक चरण में आ गई, इस भाव-धारा के पश्चात् ही एक बड़ी भाव-धारा आती है, जो तीस मात्रा के छंद के एक चरण में व्यक्त होती है। इस स्थिति में भी तो चरण की पूर्वापर छोटाई-बड़ाई बनी रहेगी, समान मात्रा के छंद के दो चरणों की योजना कैसे हो सकती है।

वाद

आचार्य शुक्ल के काव्य-संबंधी सिद्धांतों वा विचारों को दृष्टि में रखकर उसके ( काव्य के ) अंतर्बाह्य दोनों पक्षों ( भाव-पक्ष तथा कलापक्ष ) का विवेचन हमने ऊपर देखा है। अब हम तत्संबंधी ( काव्यसंबंधी ) प्रचलित प्रमुख वादों वा सिद्धांतों पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं, जिनका समावेश आचार्य शुक्ल ने काव्य पर विचार करते हुए अपने विवेचन में किया है। जिन वादों पर आचार्य शुक्ल ने विचार किया है उन्हें वे भारतीय वस्तु नहीं मानते, पश्चिम से आया बतलाते हैं। कुछ वादों पर उन्होंने अपनी भारतीय दृष्टि से विचार किया है और अपने ढंग से उनका स्वरूप निर्धारित किया है, यथा, रहस्यवाद पर। वादों के विवेचन में आचार्य शुक्ल की दृष्टि प्रधानतः चार वादों पर है, जिनका संनिवेश आधुनिक हिंदी-कविता में मिलता है। ये वाद हैं—छायावाद, रहस्यवाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद। इन वादों के अतिरिक्त भी उन्होंने प्रसंगात् अन्य भारतीय तथा अभारतीय काव्य-सिद्धांतों वा वादोंपर कुछ कहा है।

काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल की दृष्टि सदैव भौतिकवादी रही है। भौतिकवादी इस अर्थ में कि वे काव्य का संबंध इस जगत् और जीवन के अतिरिक्त और किसी क्षेत्र से नहीं जोड़ना चाहते। इसी कारण वे छायावाद वा रहस्य-संबंधिनी कविताओं में 'असीम, अनंत, अव्यक्त' आदि का वर्णन उपयुक्त नहीं समझते। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस पर विचार करके उन्होंने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया है। 'असीम, अनंत, अव्यक्त' आदि की 'लालसा' वाली कविताओं को वे सांप्रदायिक रहस्यवादी कविता के अंतर्गत रखते हैं, जिसकी भावना वा प्रथा, उनके मत्यनुसार, ईसाई और सूफी संतों से होती हुई भारत में आई। इसका संनिवेश कबीर, जायसी आदि प्राचीन कवियों में तथा महादेवी, प्रसाद आदि नवीन कवियों में वे पाते हैं। काव्य में स्वाभाविक रहस्य-भावना के वर्णन के वे समर्थक हैं, जो इस जगत् के अंतर्गत आनेवाली प्रकृति के क्षेत्र से ही विशेष संबद्ध है, उनके विवेचन द्वारा यह बात स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि जगत् और जीवन से परे 'अव्यक्त' की 'लालसा' के काव्यगत वर्णन को वे सांप्रदायिक रहस्यवाद की कविता तथा 'अव्यक्त' वा 'अज्ञात' की 'जिज्ञासा' वाली कविता को स्वाभाविक रहस्यभावना की कविता मानते हैं। वे काव्य में रहस्यभावना की व्यंजना के ही पक्षपाती हैं। सांप्रदायिक रहस्यवाद की स्थिति भी वे मानते हैं, और भारत में ही मानते हैं, पर योग, तंत्र, रसायन आदि के क्षेत्र में, काव्य के क्षेत्र में नहीं। रहस्यवाद पर विचार करते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है; अभिलाष या लालसा नहीं।........जिज्ञासा और लालसा में बड़ा भेद है। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है। उसका ज्ञेय वस्तु के प्रति राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इत्यादि से कोई लगाव नहीं होता। उसका संबंध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत लालसा या अभिलाष रतिभाव का एक अंग है। अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा और व्यक्त, सगुण ईश्वर या भगवान् के सांनिध्य का अभिलाष, यही भारतीय पद्धति है। अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष, यह बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगंबरी

रहस्यवाद तथा रहस्य-भावना

मत मानने वाले देशों में की गई है।...''—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ४७-४८ )। हमने ऊपर कहा है कि आचार्य शुक्ल स्वाभाविक रहस्यभावना प्रकृति के क्षेत्र ( व्यक्त जगत् ) में मानते हैं। यह बात निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगी—''अच्छी तरह विचार करने पर यह प्रकट होगा कि 'अज्ञात का राग' ( अज्ञात को जानने की इच्छा ) ही अंतर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करता है। मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति में इस अज्ञात के राग का भी ठीक उसी प्रकार एक विशेष स्थान है जिस प्रकार ज्ञात के राग का। ज्ञात का राग बुद्धि को नाना तत्वों के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त करता है और उसकी सफलता पर तुष्ट होता है। अज्ञात का राग मनुष्य के ज्ञान-प्रसार के बीच-बीच में छूटे हुए अंधकार या धुँधलेपन की ओर आकर्षित करता है तथा बुद्धि की असफलता और शांति पर तुष्ट होता है। अज्ञान के राग की इस तुष्टि की दिशा में मानसिक श्रम से कुछ विराम-सा मिलता जान पड़ता है और उस अंधकार और धुँधलेपन के भीतर मन के चिरपोषित रूपों की अवस्थिति के लिए दृश्य-प्रसार के बीच अवकाश मिल जाता है। शिशिर के अंत में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके उस पार किसी अज्ञात दूर देश का बहुत सुंदर और मधुर आरोप स्वभावतः आप-से-आप होता है।...विश्व की विशाल विभूति के भीतर न जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी अंतर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करते हैं।''—(काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११३–१५)। प्रकृति के इस प्रकार के रूपों में भी रहस्यवादी अपने काम की वस्तु पाते हैं। वे ऐसे रूपों में 'किसी' के रूप-सौंदर्य की झलक का दर्शन करते हैं, और इस झलक के दर्शन के लिए बराबर उत्सुक रहते हैं। उनका कथन है कि दर्शन की इस अविरल उत्सुकता के कारण उस 'किसी' ( अज्ञात ) के रूप को निर्दिष्ट करने में हमारी कल्पना तत्पर रहती है। आचार्य शुक्ल का मत है कि ( सांप्रदायिक ) रहस्यवादियों की यह बात तो ठीक है। यहाँ तक तो वे काव्य या मनोविज्ञान की सीमा के भीतर ही रहते हैं। पर उनकी बात यहीं तक नहीं रहती। कल्पना के भीतर की गई 'दूरारूढ़ रूपयोजना या भावना में वे अगोचर और अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार करते हैं'। यही बात उन्हें ठीक नहीं

जँचती। ऐसी स्थिति में तो अज्ञात वा अगोचर किसी 'रूप' में उपस्थित होता है। उसका 'कल्पनात्मक रूप' ही 'आलंबन' ठहरता है और सारा औत्सुक्य इसी रूप के लिए उठता है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"कल्पनात्मक रूपों के इसी आलंबनत्व की प्रतिष्ठा करके सांप्रदायिक 'रहस्यवाद' काव्यक्षेत्र खड़ा हुआ।"—( देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृ० ९३-९४ )।

आचार्य शुक्ल काव्य में रहस्यवाद के विरोधी नहीं हैं, जैसा कि कुछ लोग समझा करते थे और अब भी समझते हैं। पर वे काव्य में उसी रहस्यवाद के समर्थक हैं जो 'रहस्य-भावना' के रूप में गृहीत होता है। इसके विषय में उनका कथन इस प्रकार का है—"स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें संदेह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में एक मनोवृत्ति या अंतर्दशा ( Mood ) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर, किया करते हैं। पर किसी 'वाद' के साथ संबद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धांतमार्ग ( Creed ) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ११५ )।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा स्वाभाविक रहस्य-भावना तथा सांप्रदायिक रहस्यवाद का स्वरूप तथा इनमें भेद स्पष्ट हो गया होगा। काव्यवस्तु ( मैटर ) की दृष्टि से ही इन पर विचार हुआ है, विधान-विधि ( फार्म ) की दृष्टि से नहीं। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वाभाविक रहस्य-भावना तथा सांप्रदायिक रहस्यवाद दोनों के कवियों की विषय-भूमि प्रकृति ही है। पर वे यहाँ से वस्तु-व्यापार लेकर उनका विधान भिन्न-भिन्न पद्धति से करते हैं। प्रथम प्रकार के कवि की दृष्टि उसकी ( प्रकृति की ) संश्लिष्ट योजना पर रहती है और द्वितीय प्रकार के कवि उसके कुछ अंगों का वर्णन अलग-अलग करके रह जाते हैं, जैसा कि रीतिकालीन शृंगारी कवि प्रकृति-वर्णन में करते थे। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"स्वाभाविक रहस्य-भावना-संपन्न कवि प्रकृति का कोई खंड लेकर वस्तु-व्यापार की संश्लिष्ट और शृंखला-बद्ध योजना द्वारा पूर्ण दृश्य का विधान करते चलते हैं। उनकी रूप-योजना विस्तीर्ण और

रहस्य-भावना तथा रहस्यवाद की विधान-विधि

जटिल होती है तथा कुछ दूर तक अखंड चलती है, पर सांप्रदायिक या सिद्धांती रहस्यवादी कुछ बँधी हुई और इनी-गिनी वस्तुओं की ठीक उसी प्रकार अलग-अलग झलक दिखाकर रह जाते हैं, जिस प्रकार हमारे पुराने शृंगारी कवि, ऋतुओं के वर्णन में, उद्दीपन-सामग्री दिखाया करते हैं।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० १२७ )। यह वस्तु जिस सीमा या रूप में वर्णित होती है, उसके विषय में भी वे कहते हैं—"इसीलिए स्वाभाविक रहस्य-भावनावाले कवि चरित-काव्य या प्रबंध-काव्य का भी बराबर आश्रय लेते हैं; पर सांप्रदायिक रहस्यवादी मुक्तकों या छोटे-छोटे रचना-खंडों पर ही संतोष करते हैं। प्रथम कोटि के कवियों में दृश्य के संश्लिष्ट प्रसार के साथ साथ विचार और भाव बड़ी दूर तक मिली हुई एक अखंड धारा के रूप में चलते हैं। पर दूसरी कोटि के कवियों में यह अन्विति ( Unity ) और मनोहर प्रसार अत्यन्त अल्प या नहीं के बराबर होता है।"—( वही )।

यहाँ तक तो रहस्यवाद की बात हुई, अब रहा छायावाद। 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में आचार्य शुक्ल ने 'या' शब्द के प्रयोग द्वारा रहस्यवाद और छायावाद का कहीं-कहीं अभेद स्थापित किया है। पुस्तक के अंतिम अंश में उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए प्रयुक्त दार्शनिक सिद्धांत का परिचायक शब्द है—"यह ( छायावाद ) काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धांत का द्योतक शब्द है।"—( काव्यगत में रहस्यवाद, पृ० १४३ )। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से इन दोनों वादों की एकता स्पष्ट है। आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार छायावाद वेदांत के प्रतिबिंबवाद का विदेशों से घूम-फिरकर आया हुआ दूसरा रूप है। वे कहते हैं—"अब तो कदाचित् इस बात के विशेष विवरण की आवश्यकता न होगी कि जो 'छायावाद' नाम प्रचलित है वह वेदांत के पुराने प्रतिबिंबवाद का है। यह प्रतिबिंबवाद सूफियों के यहाँ से होता हुआ, योरप में गया जहाँ कुछ दिनों पीछे 'प्रतीकवाद' से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे बंगसाहित्य के एक कोने में आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए 'छायावाद' कहा जाने लगा।"—( वही और देखिए इतिहास, पृ० ७८४ तथा ८०६ )। इस प्रकार हम देखते हैं कि रह-

छायावाद

स्यवाद और छायावाद मूलतः दर्शन-क्षेत्र की वस्तुएँ हैं, जो काव्य में उसके ( काव्य के ) प्रसाधनों द्वारा उपस्थित हुईं।

आचार्य शुक्ल ने अपने 'इतिहास' में हिंदी-कविता के छायावाद का जो स्वरूप निर्धारित किया है, वह उस काल की कविताओं की प्रवृत्तियों को दृष्टि
में रखकर । अर्थात् छायावाद की कविताएँ उनके संमुख
हिंदी में छायावाद लक्ष्य के रूप में थीं, उन्होंने उन्हीं के अनुशीलन द्वारा
और रहस्यवाद उसका ( छायावाद का ) लक्षण स्थापित किया।

छायावादी कवियों को काव्य-रचना की प्रधान प्रेरणा दो दिशाओं से मिली; एक तो बँगला से, जिसके प्रधान कवि रवींद्रनाथ टाकुर थे और दूसरे अँगरेजी के स्वच्छंदतावादी ( रोमांटिक ) कवियों से, जिनमें मुख्य थे वर्डस्वर्थ, शेली, कीट्स आदि। छायावादी रचनाकार विषय तथा विधान-पद्धति वा कला-पक्ष दोनों क्षेत्रों में इनसे प्रभावित हुए। द्विवेदी-युग की कविताओं के विषय को देखने से विदित होता है कि उस समय प्रायः पुराण, इतिहास, नीति, विशिष्ट स्थान आदि कविता के विषय हुआ करते थे। इन विषयों में भी एक प्रकार की रूढ़िवादिता आ गई थी। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त किसी अन्य विषय पर लिखी कविताएँ उस समय बहुत ही कम निकलती थीं। छायावादी कवियों ने बँगला की तथा स्वच्छंदतावादी अँगरेजी कवियों की देखादेखी नए-नए विषयों पर कविताएँ प्रस्तुत कीं, जैसे—लहर, किरण, पल्लव, छाया, मौननिमंत्रण, तुम और मैं आदि। इन विषयों को देखने से विदित होता है कि इन कवियों की दृष्टि ऐसे विषयों पर कविता प्रस्तुत करने की थी, जो प्रकृति, सूक्ष्म वस्तु ( अब्स्ट्रैक्ट टापिक ) तथा अध्यात्मसे संबंध रखते थे। इस प्रकार समग्ररूपेण वे कविता के इस नवीन युग में नवीन विषयों को स्थान देने के पक्षपाती थे। इस काल के विषयों में एक विशिष्ट बात लक्षित होती है, वह यह कि कवि चाहे किसी भी विषय पर रचना करता था, उसमें ( कविता में ) कहीं-न-कहीं दो-चार पंक्तियाँ ऐसी अवश्य रख देता था, जिसके द्वारा अज्ञात, अलक्ष्य या अगोचर की ओर संकेत मिलता था, वह किसी भी विषय पर लिखते हुए दर्शन, अध्यात्म वा रहस्य की ओर अवश्य उन्मुख हो जाता था। छायावाद-युग की रचनाओं को—विशेषतः इसके आरंभिक काल की

रचनाओं को—देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। छोटे से लेकर बड़े तक सभी कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। श्री सुमित्रानंदन पंत ने कविता तो लिखी 'छाया' पर परंतु अंत में उन्होंने रहस्य वा अध्यात्म की बात भी लिख दी—

'हाँ सखि! आओ, बाँह खोल, हम लगकर गले, जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में, हो जावें द्रुत अंतर्धान!'

—(पल्लव, पृ० ७३)।

ऐसे विषय पर लिखी गई रचनाओं में किसी 'प्रिय', 'उस' आदि के प्रति विरह-निवेदन, उससे मिलन की कामना तथा उसके मिलन का वर्णन रहता था। इनका वर्णन प्रौढ़ कवियों में कुछ लपेट के साथ ढँका हुआ होता था और जो अप्रौढ़ होते थे उनमें स्पष्ट रूप से, जो विशेष शृंगारी हो जाया करता था। इन विषयों पर लिखी गई कविताएँ रहस्यवाद की रचनाएँ समझी जाती थीं। इन कविताओं के विषय में एक बात और अवलोकनीय है। वह यह कि सैद्धांतिक दृष्टि से रहस्यवाद का चाहे जो स्वरूप ये कवि निर्धारित करते वा समझते रहे हों और उसके अनुसार ही कविताएँ भी लिखी जाती रही हों—जैसा कि किसी अलक्ष्य वा अगोचर प्रिय के प्रति विरह-निवेदन, उससे मिलन की कामना वा उससे मिलन आदि को लेकर प्रस्तुत की गई रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है—पर दर्शन वा अध्यात्म की किसी भी बात का कविता में संनिविष्ट हो जाना रहस्यवाद वा छायावाद की कविता का होना माना जाता था। जैसे, श्री निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में जीवात्मा की लघुता तथा परमात्मा की महत्ता अनेक प्रकार से वर्णित है और वह रहस्यवाद की रचना मानी जाती है। तात्पर्य यह कि रहस्यवाद की कविता के लिए दर्शन वा आध्यात्म की बातों का संकेत ही अलम् माना जाता था, उसमें किसी अव्यक्त प्रियतम के लिए चाहे कुछ कहा गया हो वा न कहा गया हो। इन विषयों पर लिखनेवाले कवि 'छायावादी' कहलाते थे, जिसका 'रहस्यवादी' अर्थ भी ले लिया जाता था।

विधान-पद्धति में छायावादी कवि कलावाद, कल्पनावाद, अभिव्यंजनावाद आदि वादों से विशेष प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, जो मूलतः बँगला के माध्यम

द्वारा अँगरेजी-साहित्य से आए—यद्यपि कुछ कवि ऐसे थे जिनका अँगरेजी का अच्छा अध्ययन था, और जिन्होंने इन वादों को सीधे अँगरेजी से ग्रहण किया। इन वादों से संपन्न कविता भी छायावादी कविता कही जाती थी। छायावादी कवियों की दृष्टि भारतीय लाक्षणिकता पर भी थी, और उन्होंने अपनी शक्ति द्वारा इसका भी उपयोग किया। ये कवि अपने विषयों का वर्णन प्रायः प्रगीत मुक्तकों में करते थे। कुछ कवियों ने मुक्त छंद तथा अन्य प्रकार के छंदों का भी विधान किया, और इस क्षेत्र में सफल भी हुए।

**छायावाद का स्वरूप**

संक्षेपतः काव्य-विषय तथा उसकी विधान-पद्धति की दृष्टि से छायावाद-युग का यह स्वरूप था, जिसके प्रतिष्ठित हो जाने पर आचार्य शुक्ल ने उसे दृष्टि-पथ में रखकर छायावादी कविता का लक्षण प्रस्तुत किया। ऐसा करते हुऐ उनकी दृष्टि इस युग में प्रस्तुत हुई हिंदी-कविता पर विशेष थी, छायावाद या रहस्यवाद के सैद्धांतिक पक्ष पर बहुत ही कम या नहीं ही थी। छायावाद पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अंतर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को योरप में 'छाया' ( Phantasmata ) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो अध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया फिर रवींद्र बाबू की धूम मचने पर हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।"—( इतिहास, पृ० ८०६ ),

छायावाद के दूसरे अर्थ के विषय में वे कहते हैं—"'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है।" सन्

१८८५ में फ्रांस में रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी
( Symbolists ) कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुतों के स्थान पर
अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसी से उनकी शैली की ओर
लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर
प्रेम-संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिए भी
प्रतीक-शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिंदी में 'छायावाद' शब्द का जो
व्यापक अर्थ में—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं
के संबंध में भी—ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक-शैली के अर्थ में। छायावाद का
सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के
रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन
किया जा सकता है।"—( इतिहास, पृ० ८०६-०७ )

विधान-पद्धति वा कला-पक्ष की दृष्टि से आचार्य शुक्ल छायावादी कविता
पर कल्पनावाद, कलावाद अभिव्यंजनावाद का थोड़ा-बहुत प्रभाव और उसमें
उक्ति-वैलक्षण्य, अन्योक्ति-पद्धति, चित्रभाषा-शैली, लाक्षणिकता आदि का संनिवेश
बतलाते हैं।

छायावादी कवियों ने प्रेम-व्यापार, तज्जनित निराशा वा वेदना तथा जीवन
के अन्य क्षेत्र की निराशा वा वेदना, प्रकृति आदि विषयों पर विशेष रूप से
लेखनी चलाई। प्रकृति को इन लोगों ने नारी के ही रूप में चित्रित किया।
शुद्ध रहस्यवाद पर भी प्रभूत रचना हुई। इन लोगों ने इन विषयों को प्रायः
प्रगीत मुक्तकों ( लीरिक्स ) में ही प्रस्तुत किया। प्रेम को लेकर छोटे-छोटे प्रबंध-
काव्य भी रचे गए।

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की दृष्टि से छायावाद और रहस्यवाद के
सैद्धांतिक पक्ष को तथा हिंदी-कविता में प्रतिष्ठित छायावाद-युग की प्रवृत्तियों
को भी लक्ष्य में रखकर उनके द्वारा निर्धारित इन वादों के लक्षणों को देखा
है। सैद्धांतिक दृष्टि से वे इन वादों को अभारतीय वस्तु मानते हैं, जो अपने
यहाँ के वेदांती अद्वैतवाद तथा प्रतिबिंबवाद के आधार पर ही निर्मित है।
स्वाभाविक रहस्य-भावना के—विशेषतः प्रकृति के क्षेत्र में—वे पक्षपाती हैं। इस
विषयमें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उन्होंने अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया है।

हिंदी में छायावाद और रहस्यवाद के विषय में एक मत नहीं है। विभिन्न व्य-मीमांसक इस विषय में विभिन्न मत व्यक्त करते हैं। आचार्य शुक्ल के मत को हमने ऊपर देखा है। कुछ मीमांसक इनको भारतीय काव्य की प्रमुख धारा मानते हैं और इनका मूल वेद तथा उपनिषद् बतलाते हैं। इनके मत्यनुसार हिंदी में भी रहस्यवादी काव्य की धारा प्राचीन है, जो संत कवियों से चलकर आधुनिक हिंदी-कविता में भी प्रवाहित हो रही है। लोग इसे अभारतीय वस्तु नहीं मानते, विशुद्ध भारतीय वस्तु मानते हैं। एक स्थान पर आचार्य शुक्ल ने कहा है कि रहस्यवादी कोई भी ऐसी बात नहीं कहते जिसका प्रतिपादन दर्शन में न हो चुका हो, अर्थात् वे दार्शनिक बातों को व्यक्त करते हैं। और यह तो स्पष्ट ही है कि उनके कहने का ढंग कुछ आकर्षक अवश्य होता है। यदि रहस्यवाद को रमणीय वाणी में व्यंजित दार्शनिक वस्तु ( मैटर ) माना जाय, जैसा कि हिंदी में माना जाता है, जिसका हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं, तो अवश्य ही रहस्यवाद वा छायावाद का मूल वेदों और उपनिषदों को माना जा सकता है, क्योंकि उनमें कुछ ऐसे स्थल प्राप्त हैं जहाँ दार्शनिक वस्तु रमणीय पद्धति से कही गई है। वह दार्शनिक वस्तु विशेषतः जीवात्मा के परमात्मा से मिलन को लेकर ही है। संत कवियों में भी इस प्रकार की बातें विशेष हैं। आधुनिक हिंदी-कविता में भी इस प्रकार की बातें प्रभूत मात्रा में मिलती हैं।

गावाद, रहस्य-
द के विषय में
मतवैभिन्न्य

इसके अतिरिक्त छायावाद वा रहस्यवाद के अन्य स्वरूपों का प्रचार भी हिंदी-कविता में है। प्रकृति में 'उस' ब्रह्म की छाया वा प्रतिबिंब का आभास पाने और इसका काव्य-पद्धति पर वर्णन करने को कुछ लोग छायावाद वा रहस्यवाद मानते हैं। प्रकृति में 'उसका' आभास पाकर उससे विरह-निवेदन, उससे मिलन की उत्कंठा आदि का वर्णन भी वे इन वादों के अंतर्गत ही मानते हैं। जायसी को वे इसी प्रकार का ( छायावादी वा ) रहस्यवादी कवि बताते हैं, जो सूफ़ी थे।

कवि अपने हृदय की छाया प्रकृति पर डालता है। गुलाब के फूल को वह अपनी ही भाँति हँसता-रोता चित्रित करता है। इस प्रकार प्रकृति पर

अपने हृदय की छाया के दर्शन तथा उसके वर्णन को कुछ लोग छायावाद की कविता मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद तथा रहस्यवाद के विषय में हिंदी में अनेक मत प्रचलित हैं। अभी तक छायावाद वा रहस्यवाद का एक सर्वमान्य स्वरूप नहीं निर्धारित हो सका है।

पश्चिमीय काव्य-क्षेत्र से आधुनिक हिंदी-कविता में आए कुछ वादों पर आचार्य शुक्ल ने विचार किया है, इसका उल्लेख वादों पर विचार करने के पूर्व किया गया है। इन वादों में प्रधान हैं—कलावाद और अभिव्यंजनावाद। इनके अतिरिक्त भी पश्चिमीय साहित्य में प्रचलित कुछ सिद्धांतों पर उन्होंने अपना मत प्रकट किया है।

**कलावाद**

आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांत को हम देख चुके हैं, उनसे विदित होता है कि वे भारतीयता को दृष्टि में रखकर किसी सिद्धांत का विवेचन वा उसका निर्धारण करते हैं। वे काव्य का संबंध जगत् तथा जीवन से जोड़ते हैं, और उसका कुछ न कुछ लक्ष्य स्वीकार करते हैं। वे काव्य द्वारा हृदयगत भावों का परिष्कार, जीवन में नवीन स्फूर्ति का संचार तथा ऐसे ही अन्य लक्ष्यों की पूर्ति के समर्थक हैं। काव्य का परम लक्ष्य रसानुभूति वा सौंदर्यानुभूति के भी वे प्रतिपादक हैं। तात्पर्य यह कि वे काव्य का उससे (काव्य से) अतिरिक्त कुछ न कुछ लक्ष्य मानते हैं। कलावाद का यह सिद्धांत कि 'काव्य का लक्ष्य काव्य ही है' वा 'कला का लक्ष्य कला ही है' (आर्ट फार आर्ट्स सेक) उनकी दृष्टि से ठीक नहीं है।

उनके काव्य-सिद्धांतों पर विचार करते हुए हमने यह भी देखा है कि वे काव्य में चमत्कारवाद के विरोधी हैं, जिसका लक्ष्य मन को वैचित्र्यपूर्ण उक्तियों तथा कल्पना की ऊँची-ऊँची उड़ानों द्वारा चमत्कृत करना ही होता है, विशुद्ध रसानुभूति कराना नहीं, जिसकी निष्पत्ति जगत् के आलंबनों से हृदयगत भावों की संबंध-स्थापना द्वारा होती है। वे काव्य में कल्पना और उक्तिवैचित्र्य को भी स्थान देते हैं, और प्रधान स्थान देते हैं, पर केवल काव्य के साधन के क्षेत्र में ही, वे इन्हें काव्य का साध्य वा लक्ष्य नहीं मानते। इसी कारण वे (बेनिडेटो) क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को काव्य के लिए ग्राह्य नहीं समझते। कल्पनावाद,

जो इसी वाद से संबद्ध है, को भी वे इसी दृष्टि से देखते हैं। अभिप्राय यह कि काव्य को जगत् और जीवन से संबद्ध समझने तथा उसमें चमत्कारवाद की अनुपयुक्तता के कारण आधुनिक हिंदी-कविता मे कलावाद, अभिव्यंजनावाद, कल्पनावाद आदि के प्रचार को रोकने के लिए उन्होंने उन पर भारतीय दृष्टि से विचार करके उनका विरोध किया है।

कलावादी कला का उद्देश्य कला ही मानते हैं। उनका मत है कि कला का विशुद्ध क्षेत्र कला ही है, अतः किसी कला की अनुभूति वा समीक्षा के लिए हमें उसी की परिमिति में रहना होगा, उससे बाहर जगत् और जीवन को दृष्टि में रखकर उसकी अनुभूति वा समीक्षा करने से उनका यथार्थ स्वरूप नष्ट हो जायगा, उसका कुछ मूल्य ही न रहेगा। वे कला के सदाचार, शिक्षावाद, लोकमंगल, यश, अर्थ आदि साधनों के समर्थक हैं, पर ये उसके विशुद्ध क्षेत्र के बाहर की वस्तुएँ हैं, उसका विशुद्ध क्षेत्र तो वह स्वयं ही है।—( देखिए इतिहास, पृ० ६८४ )। कलावाद के स्वरूप की उत्तमता पर विचार करते हुए, इस वाद के प्रमुख समर्थक डाक्टर ब्रैडले ( आक्सफर्ड लेक्चर्स आन पोयट्री मे ) लिखते हैं—"उसकी उत्तमता तो एक तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव-विशेष से संबंध रखती हैं। अतः उसकी परीक्षा भीतर से ही हो सकती है। किसी कविता को लिखते और जाँचते समय यदि बाहरी मूल्यों ( सदाचार, शिक्षावाद आदि ) की ओर भी ध्यान रहेगा तो बहुत करके उसका मूल्य घट जायगा या छिप जायगा। बात यह है कि कविता को यदि हम उसके विशुद्ध क्षेत्र से बाहर ले जायँगे तो उसका स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो जायगा, क्योंकि उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति। उसकी तो एक दुनिया ही निराली है—एकांत, स्वतः पूर्ण और स्वतन्त्रता।"—(इतिहास से उद्धृत, पृ० ६८४–८५)। इस प्रकार कलावाद के स्वरूप को देखने से विदित होता है कि इसमें दो नितांत विरोधी विचारों का समर्थन है, और इसमे प्रधानता उसी विचार को दी जाती है, जो बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होती। कलावादी एक ओर तो कला में जगत् और जीवन से संबंध वस्तुओं वा विचारों का समर्थन करते हैं, जैसे वे मानते हैं कि इसके द्वारा यश, अर्थ आदि की प्राप्ति होती है, इसे चाहे वे गौण ही मानते हों, पर मानते हैं अवश्य, और

दूसरी ओर इसकी ( कला की ) दुनिया ही निराली बताते हैं, जगत् और जीव से इसका संबंध ही नहीं स्थापित करते। इस दृष्टि से यह वाद कल्पनावाद औ अभिव्यंजनावाद से प्रभावित प्रतीत होता है।

काव्य में जगत् और जीवन के नाना रूपों से मनुष्य के हृदयगत भावों क असंभिन्नत्व देखनेवाले तथा काव्य के परम लक्ष्य रसानुभूति को इसी लोक : रहकर उससे अपनत्व की भावना का विसर्जन माननेवाले आचार्य शुक्ल कलावाद में प्रतिपादित 'कला की निराली दुनिया है इस जगत्-जीवन से संभिन्न' तथा उसका अनुभव 'तृप्तिदायक कल्पनात्मक अनुभव-विशेष के रूप में होता है,' को किस प्रकार मान सकते थे उन्हें यह वाद भारतीय काव्य-क्षेत्र की अंतःप्रकृति के नितांत विरुद्ध प्रतीत होता है। इस वाद के विषय में वे अपना मत प्रकट करते हुए कहते है—"अब हमारे यहाँ के संपूर्ण काव्यक्षेत्र की अंतः-प्रकृति की छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षों और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्रियों का मत लीजिए तो जैसे संपूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्यप्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ 'लोक की सुख-समृद्धि' लेना चाहिए। जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्यजीवन और अंतर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में इसका विचार अवश्य होता आया है और होगा।" —( इतिहास, पृ० ६८७ )।

इस वाद का विरोध उसी समय हुआ जिस समय यह फ्रांस से इँगलैंड में आया। इसका मूलस्थान फ्रांस है, वहाँ सन् १८६६ से इसका प्रचार आरंभ हुआ। इसको फ्रांस से इंगलैंड में लानेवाले हिस्लर थे और कलावाद का विरोध जब यह यहाँ आया तो इसके प्रमुख व्याख्याकार वह प्रतिपादक आस्कर वाइल्ड थे, जो कला तथा जीवन में भी वैचित्र्य वा कृत्रिमता ( आर्टिफिशियलिटी) के घोर समर्थक थे। एक ओर तो

ये लोग 'कला का उद्देश्य कला है' का प्रतिपादन कर रहे थे, और दूसरी ओर उसी समय रस्किन् साहब इन लोगों के विपरीत इस बात का समर्थन कर रहे थे कि 'कला को जनता के लिए शिक्षाप्रद होना ही चाहिए' ( आर्ट मस्ट बी डिडैक्टिक टु दि पीपुल ) । तात्पर्य यह कि इसका विरोध बहुत पहले से ही होता चला आ रहा था ।

जहाँ तक काव्य वा कला तथा जीवन का संबंध है वहाँ तक तो वस्तुतः यह वाद समर्थनीय नहीं प्रतीत होता । आलोचना के क्षेत्र में यदि इसका यह अर्थ लिया जाय कि किसी काव्य की समीक्षा के लिए उसी को दृष्टि में रखकर उसका विवेचन प्रस्तुत हो, जैसा कि व्याख्याकार समीक्षक ( इंडक्टिव क्रिटिक ) करते हैं, तो इसका समर्थन किया जा सकता है । पर इस वाद के अनुयायियों की दृष्टि में संभवतः इस प्रकार का समर्थन स्थूल प्रतीत होगा, क्योंकि वे सूक्ष्म वा निराले के समर्थक हैं ।

हिंदी के छायावाद-युग में जब उक्त वाद का प्रचार हुआ तब गोस्वामी तुलसीदास की 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबंधमतिमञ्जुलमातनोति' पंक्ति से 'स्वांतःसुखाय' को लेकर यह कहा जाने लगा कि हमारे यहाँ भी इस वाद का बीज वर्तमान है, हमारे कवि भी अपने लिए ही लिखा करते थे, उनकी कविता का उद्देश्य उन्हीं तक सीमित था, वे भी 'परांतःसुखाय' वा 'परहिताय' नहीं लिखते थे । वे भी काव्य से शिक्षा, शिष्टाचार, अर्थ, यश आदि का संबंध नहीं जोड़ते थे । पर बात ऐसी नहीं है । स्वयं तुलसीदास की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि वे काव्य तथा लोक-जीवन का घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं, और काव्य के परम लक्ष्य प्रेषणीयता ( कम्यूनिकेबिलिटी ) को भी, आधुनिक समीक्षकों की भाँति मानते हैं । हमें तो कलावाद पलायनवाद ( इस्केपिज्म ) का ही एक रूप प्रतीत होता है ।

**क्रोचे का अभिव्यंजनावाद**

कलावाद की भाँति ही इटली-निवासी क्रोचे का अभिव्यंजनावाद ( इक्सप्रेशनिज्म ) भी है । जैसे कलावादी कला के विशुद्ध क्षेत्र में जगत्-जीवन का प्रवेश नहीं मानते, वैसे ही अभिव्यंजनावादी भी काव्य में जगत् और जीवन से लिए गए रूप-व्यापार, भाव-विचार को मुख्य वस्तु नहीं मानते, उनके मत्यनुसार ये तो काव्य

के उपादान मात्र हैं। उनका कथन है कि काव्य में मुख्य वस्तु इन्हीं (रूप-व्यापार, भाव-विचार) की मनमानी अभिव्यंजना है। आचार्य शुक्ल का मत है कि काव्य को वास्तु, स्थापत्य आदि कलाओं के अंतर्गत लेने का यह दुष्परिणाम है कि काव्य से जगत् और जीवन के वास्तविक रूपों का विच्छेद किया जाता है, क्योंकि इन कलाओं से काव्य की भाँति भावानुभूति नहीं उत्पन्न होती, केवल अनुरंजन होता है, इनमें तो केवल वैचित्र्य रहता है, कुछ वस्तुओं को लेकर उनकी मनमानी योजना की जाती है, अतः काव्य में भी उपर्युक्त उपादानों को लेकर यथेच्छ अभिव्यंजना का प्राधान्य माना जाने लगा। कलावाद के विषय में भी वे ऐसी ही बात कहते हैं, इसे भी वे बेल, बूटे, नक्काशी आदि की कलाओं के साथ काव्य को लेने का दुष्परिणाम मानते हैं। तात्पर्य यह कि क्रोचे की दृष्टि में जगत्-जीवन से लिए गए रूप-व्यापारों वा भाव-विचारों की मनमानी वा अनूठी अभिव्यंजना ही काव्य है, वे रूप-व्यापार वा भाव-विचार कुछ नहीं हैं, अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंजना-प्रणाली वा ढाँचा ही काव्य का परम लक्ष्य है, उस ढाँचे में वर्णित वस्तु (मैटर) कुछ नहीं। क्रोचे का यह भी कहना है कि उक्ति वा अभिव्यंजना अपने में पूर्ण वस्तु है, अर्थात् उक्ति का वाच्यार्थ ही काव्य का लक्ष्य है, उस वाच्यार्थ के अतिरिक्त उसके किसी व्यंग्यार्थ की सत्ता नहीं है। इसी बात को आचार्य शुक्ल संक्षेप में इस प्रकार कहते हैं—"तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्य क्षेत्र के बाहर की बात है। क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्याय न समझना चाहिए।"—(इतिहास, पृ० ६८९ और देखिए इंदौरवाला भाषण, पृ० १७–१८)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त वाद के प्रतिपादक ने काव्य वा कला में अभिव्यंजना को ही प्रधानता दी है। जिस अभिव्यंजना को वे सब कुछ मानते हैं, उसका असली रूप बाह्य तथा अंतःप्रकृति से परे आत्मा की निजी क्रिया कल्पना द्वारा प्रस्तुत होता है; जो जगत् और जीवन से

स्वतंत्र रहकर अपना कार्य करती है। प्रातिभ ज्ञान (इंट्यूशन) के साँचे (फार्म) में ढलकर व्यक्त होने को ही वे कल्पना कहते हैं और यही कल्पना अभिव्यंजना का मूल है। अभिव्यंजना पहले भीतर होती है और बाद में शब्द, रंग आदि द्वारा बाहर व्यक्त होती है। वे बिना कल्पना के अभिव्यंजना नहीं मानते, जो कल्पना प्रातिभ ज्ञान का ही एक रूप है। इस प्रकार वे काव्य का संबंध ज्ञान से जोड़ते हैं, भाव से नहीं, जो कविता का मुख्याधार है—रसानुभूति का मूल है। पर, एकाध स्थान पर कला के संबंध से भाव का भी नाम क्रोचे ने ले ही लिया है। —(देखिए इन्दौरवाला भाषण, पृ० ४२)।

अत्यंत संक्षेप में ऊपर हमने अभिव्यंजनावाद का स्वरूप देखा है। प्रधान रूप से इसका प्रतिपाद्य यह है कि काव्य में अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य कुछ नहीं है, जो बात आचार्य शुक्ल के, तथा भारतीय समीक्षकों के भी, विरुद्ध पड़ती है। आचार्य शुक्ल का मत है कि अभिव्यंजना से उसमें अभिव्यंग्य वस्तु अलग की ही नहीं जा सकती। दोनों पर समान रूप से विचार होगा, काव्य में दोनों पर ध्यान देना होगा, केवल एक ही पर नहीं। अनेक स्थलों पर इस बात पर संकेत किया जा चुका है कि आचार्य शुक्ल जगत् और जीवन के रूप-व्यापार, भाव-विचार की ही अभिव्यञ्जना काव्य में मानते हैं। क्रोचे के अनुसार ये सब काव्य के उपादान मात्र हैं, जिनका उपयोग कवि अपनी प्रातिभ ज्ञानमयी कल्पना द्वारा मनमाने वा अनूठे रूप में करता है, इनके सहारे अनूठी सृष्टि करता है, जिसका संबंध जगत्-जीवन से नहीं रहता। आचार्य शुक्ल इन बातों का समर्थन कहीं नहीं करते, वे तो काव्य में जगत् और जीवन की स्पष्ट झलक देखना चाहते हैं।

कुंतक का वक्रोक्तिवाद

भारत में कुंतक ने भी वक्रोक्तिवाद चलाया था, जिसके अनुसार 'वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है'—वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्—का समर्थन किया गया था। आचार्य शुक्ल ने कहा है कि आधुनिक अभिव्यञ्जनावाद को इसी वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान समझना चाहिए। इनमें अंतर इतना ही है कि वक्रोक्तिवादी व्यंजना का विशेष उपयोग करते थे और अभिव्यंजनावादी लक्षणा को प्राधान्य देते

हैं। इन वादों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "उक्ति ही कविता है, यह तो सिद्ध बात है।"—( चिंतामणि, पृ० २३७ ), पर उसे भावानुमोदित होना चाहिए और इन वादों में भाव का स्थान नाममात्र को ही रहता है, वा नहीं ही रहता।

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की दृष्टि से छायावाद, रहस्यवाद, कलावाद तथा अभिव्यंजनावाद का विवेचन किया है। इन वादों के अतिरिक्त उन्होंने

**काम-वासना तथा स्वप्न-सिद्धांत**

आधुनिक साहित्य में प्रचलित अन्य सिद्धांतों वा विचारों पर भी विचार किया है, जैसे, फ्रायड के काम-वासना तथा स्वप्न के सिद्धांत पर विचार, जो इस बीसवीं शती में काव्य के भीतर आया है—( देखिए इतिहास, पृ० ६९०–९२ और चिंतामणि पृ० ३६३–६४ )। रहस्यवाद पर विचार करते हुए, उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' में फरासीसी प्रतीकवाद ( सिंबालिज्म ) पर भी विचार किया है। पर विशेषतः वादों के क्षेत्र में उनकी दृष्टि उपर्युक्त चार वादों पर ही रही है जिनको हमने देख लिया है।

आचार्य शुक्ल के विचारों को दृष्टि में रखकर अब तक हमने काव्य-संबंधी सिद्धांतों को देखा है। काव्य के विषय में ही उन्होंने विशेष रूप से विचार

**नाटक**

किया है, और देखने में भी यही आता है कि प्रायः सभी आलोचक इसी विषय पर अधिक ध्यान देते हैं। काव्य वा कविता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है भी। अब हम नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य, निबंध और आलोचना संबंधी आचार्य शुक्ल के विचारों को देखेंगे, जैसा कि पहले ही निश्चित किया जा चुका है।

पाश्चात्य देशों की देखादेखी इधर हम लोग काव्य और नाटक में भेद करने लगे हैं। इसका कारण यह है कि इधर जो नाटक प्रस्तुत हुए उनमें यथार्थवाद पर दृढ़ रहने के कारण काव्य-सी रमणीयता नहीं आने पाई, यद्यपि पूर्व तथा पश्चिम में अब भी ऐसे नाटक लिखे जाते हैं, जिनमें काव्य-गुणों की ही प्रधानता रखी जाती है। इसके उदाहरण हिंदी में 'प्रसाद' के नाटक हैं और अँगरेजी में डब्ल्यू० बी० येट्स आदि के नाटक। इस युग में काव्य तथा नाटक का भेद विशेषतः उनके श्रव्य तथा दृश्य होने के आधार

पर समझना चाहिए। प्रायः यह अनुभव किया गया है कि जो नाटक अलंकार-शैली पर लिखे गये वे दृश्य नहीं हो सके—सफलतापूर्वक; और जो सरल वा स्वाभाविक भाषा-शैली में लिखे गए वे रंगमंच पर खेले जा सके, और नाटक की सार्थकता उनके दृश्य होने में है। तो इस दृष्टि से—भाषा-शैली की दृष्टि से—ही आजकल नाटक तथा काव्य में भेद होता है। पर अलंकृत भाषा-शैली में लिखे गए नाटक भी दृश्य हो सकते हैं, आवश्यकता इस बात की है कि दर्शक तथा अभिनेता इस श्रेणी के हों कि उस प्रकार के नाटक देखदिखा सकें। 'प्रसाद' जी के नाटकों का भी अभिनय हो चुका है और येट्स के 'दि काउंटेस कैथलीन' का भी, जिनमें काव्य-तत्त्व का पूर्ण विधान है। भाषा-शैली को ही दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल ने नाटक का भेद काव्य से किया है, जैसा कि आजकल किया जाता है। इसी दृष्टि से उन्होंने नाटक का स्वरूप भी निर्धारित किया है, जो इस उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा—"काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भाव-व्यंजना या चमत्कार के लिये स्थान परिमित होता है। उसमें भाषा अपनी अर्थक्रिया अधिकतर सीधे ढंग से करती है, केवल बीच-बीच में ही भाव या चमत्कार उसे दबाकर अपना काम लेते हैं। बात यह है कि नाटक कथोपकथन के सहारे पर चलते हैं। पात्रों की बातचीत यदि बराबर वक्रता लिए अतिरंजित या हवाई होगी तो वह अस्वाभाविक हो जायगी और सारा नाटकत्व निकल जायगा।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ६ )। इससे विदित होता है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि नाटक तथा कविता में भेद करते समय भाषा-शैली तथा नाटक के दृश्यत्व पर है। भारत के प्राचीन काव्य-समीक्षकों ने नाटक और कविता में भेद नहीं किया है, कविता और नाटक केवल रूप ( फार्म ) की दृष्टि से ही भिन्न माने गए हैं, और किसी बात में उनमें वैभिन्न्य नहीं है। प्राचीन नाटककार भी कवि ही माने जाते थे। वे लोग नाटक को काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठ भी मानते थे—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। लिओ टालस्टाय ने भी नाटक को कला का अत्यंत महत्त्व पूर्ण अंग माना है।* इस युग में भी 'प्रसाद' के नाटक इस बात के प्रमाण हैं कि

* One part of art, and almost the most important, is the drama.

कविता और नाटक में रूप के अतिरिक्त और किसी दृष्टि से भेद नहीं है।

ऊपर हमने इस बात का निर्देश किया है कि आज जो कविता से नाटक का भेद किया जाता है वह भाषा-शैली और दर्शक की दृष्टि से। योग्य अभिनेता और दर्शक मिलें तो यह भेद दूर किया जा सकता है। यदि ऐसी स्थिति उपस्थित न हो सके तो अभिनेय और अनभिनेय नाटकों को दृश्य नाटक और श्रव्य वा पाठ्य नाटक कहा जा सकता है, जिस प्रकार प्रचीन आचार्यों ने काव्य के दो भेद—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य किए हैं। सिद्धांत की दृष्टि से आचार्य शुक्ल ने नाटक पर इतना ही विचार किया है, जिसका निर्देश उनके उद्धरण द्वारा किया गया है।

जिस प्रकार आचार्य शुक्ल ने रूपक वा नाटक पर भाषा-शैली की दृष्टि से विचार किया है उसी प्रकार उपन्यास पर भी। इस दृष्टि से उपन्यास के स्वरूप के विषय में विचार करते हुए वे कहते हैं—"आख्यायिका या उपन्यास के कथा-प्रवाह और कथोपकथन में अर्थ अपने प्रकृत रूप में और भी अधिक विद्यमान रहता है और उसे दबानेवाले भाव-विधान या उक्ति-वैचित्र्य के लिए थोड़ा स्थान बचता है।"—(इंदौरवाला भाषण, पृ० ६)। इसका कारण यह है कि "उपन्यास में मन बहुत-कुछ घटना-चक्र में लगा रहता है। पाठक का मर्मस्पर्श बहुत कुछ घटनाएँ ही करती हैं; पत्रों द्वारा भावों की लंबी-चौड़ी व्यंजना की अपेक्षा उतनी नहीं रहती।"—(वही)। यह तो सत्य है कि उपन्यास वा कथा में घटना की प्रधानता होती है और इन घटनाओं द्वारा भी भावों को उत्तेजना मिलती है। पर, केवल घटना-प्रधान उपन्यास श्रेष्ठ उपन्यास नहीं माने गए हैं, क्योंकि केवल घटनाएँ मन को उतना नहीं रमा सकतीं; और यह तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे प्रबंध-काव्य में मन को रमाने के लिए कवि वस्तु वा भाव को व्यंजना करता है वैसे ही उपन्यासकार को भी पाठक के मन को रमाने के लिये वस्तु-चित्रण, भाव-व्यंजना और विचाराभिव्यक्ति अपेक्षित है। हाँ, यह आवश्यक होगा कि केवल इन्हीं बातों की भरती न हो, अन्यथा उसमें कथागत 'कथात्व' (कथा का तत्त्व) न रह जायगा।

उपन्यास

साहित्य में उपन्यास का कितना महत्त्व है, इस पर विचार करते हुए

**उपन्यास का महत्त्व और कार्य**

आचार्य शुक्ल कहते हैं—"उपन्यास साहित्य का एक प्रधान अंग है। मानव-प्रवृत्ति पर इसका प्रभाव बहुत पड़ता है। अतः अच्छे उपन्यासों से भाषा की बहुत कुछ पूर्ति और समाज का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।"—('उपन्यास' शीर्षक निबंध, ना० प्र० प०, भाग १९, संख्या ३)। इन थोड़े से शब्दों में आचार्य शुक्ल ने उपन्यास के महत्त्व के विषय में एक प्रकार से सारी बातें कह दी हैं। उपन्यास का क्या कार्य है, इस विषय में वे कहते हैं—"मानव-जीवन के अनेक रूपों का परिचय कराना उपन्यास का काम है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म घटनाओं को प्रत्यक्ष करने का यत्न करता है, जिनसे मनुष्य का जीवन बनता है। और जो इतिहास आदि की पहुँच के बाहर होता है।"—(वही)। उपन्यास के विषय में सभी समीक्षक एकमत हैं कि उनका संबंध मानव-जीवन से है, उसकी सामग्री प्रत्यक्ष जगत् और जीवन से ली जाती है और वह मनुष्य-जीवन के लिए ही होता है। इस विषय में एक बात यह भी है कि इसका संबंध प्रायः व्यावहारिक जीवन से होता है, आध्यात्मिक वा दार्शनिक जीवन से नहीं। इसका अपवाद ढूँढ़ने से ही मिल सकता है। इसी कारण उपन्यास को लेकर कभी रहस्यवाद वा छायावाद की चर्चा नहीं सुनी गई। हाँ, कभी-कभी कुछ 'आचार्य' हिंदी के दो-एक उपन्यासों के संबंध में इस वाद की चर्चा करते सुने जाते हैं!

**उपन्यास में कल्पना का स्थान**

उपन्यासकार के पक्ष को दृष्टि में रखकर आचार्य शुक्ल का कथन है कि उपन्यास का आधार अनुमान शक्ति है केवल कल्पना नहीं—"बहुत लोग उपन्यास का आधार शुद्ध कल्पना बतलाते हैं। पर उत्कृष्ट उपन्यासों का आधार अनुमान शक्ति है न कि केवल कल्पना।"—(वही)। उपन्यास-रचना के क्षेत्र में हमें स्थूलतः 'कल्पना' और 'अनुमान शक्ति' में कोई अंतर नहीं प्रतीत होता, क्योंकि कल्पना तथा अनुमान दोनों का आधार यह जगत् और जीवन ही है और उपन्यास में इन्हीं के स्वरूपों की अभिव्यक्ति कल्पना वा अनुमान के द्वारा होती है—विशेषतः तब जब उपन्यास आदर्शवाद को लेकर चलता है, यथार्थवादी उपन्यास में रचनाकर अनुमान वा कल्पना द्वारा

यथार्थ को और यथार्थ कैसे बनाएगा, कम से कम ऐसा देखा तो नहीं गया।

**ऐतिहासिक उपन्यास**

'उपन्यास' शीर्षक लेख में आचार्य शुक्ल ने ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। उसमें उन्होंने इतिहास के सच्चे पात्रों के अतिरिक्त अन्य कल्पित पात्रों की योजना तत्कालीन सामाजिक स्थिति, रहन-सहन, बोल-चाल आदि के अनुकूल बतलाई है। उन्होंने यह भी कहा है कि उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक है कि वह इतिहास की उस घटना पर दृष्टि ले जाय जो इतिहासकार द्वारा वर्णित न की गई हो। उनका कथन है कि इतिहास में जो व्यापार केवल दो-एक शब्द ( यथा, अत्याचार ) द्वारा निर्दिष्ट हो उसको उपन्यासकार चित्र के रूप में रखे। आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार इस कार्य में उपन्यासकार को स्वतंत्रता तो है, पर इतिहास में वर्णित देश-काल, आचार-व्यवहार आदि की सीमा के अंतर्गत ही। वह ऐसी कोई भी बात नहीं कह सकता जो इतिहास की प्रसिद्ध घटना वा व्यक्ति के विरुद्ध सिद्ध हो। वह अपने उपन्यास में परिवर्तन कर सकता है, नवीन योजना कर सकता है, पर इतिहास के बूते पर ही; कोरी कल्पना वा अनुमान के आधार पर नहीं।

**कहानी**

स्थूलतः कहानी भी उपन्यास की ही जाति की वस्तु है। ऐसा होते हुए भी इन दोनों में कुछ अंतर अवश्य है। और आजकल तो शास्त्रीय दृष्टि से ( टेक्निकली ) उनमें महान् भेद उपस्थित कर दिया गया है, जो कहानी की, इस युग में, विकासावस्था और प्रसार के कारण ही समझना चाहिए, अन्यथा उपन्यास तथा कहानी में विशेष अंतर नहीं लक्षित होता। उपन्यास की भाँति कहानी को भी आचार्य शुक्ल घटना-प्रधान ही मानते हैं। कविता और कहानी का अंतर बतलाते हुए वे ऐसी ही बात कहते हैं—"कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट है। कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है, 'जरा फिर तो कहिए।' कहानी सुननेवाला कहता है, 'हाँ! तब क्या हुआ?'—( चिंतामणि, २२२—२२३ )। तात्पर्य यह कि कविता भाव-प्रधान है और कहानी घटना-प्रधान। पर, कहानी में भाव तथा विचार

के चित्रण की भी आवश्यकता है। बिना इनके कोरी-कोरी घटनाएँ नीरस लगेंगी। आचार्य शुक्ल ऐसी कहानियों की भी स्थिति मानते हैं जिनमें कहानीकार का लक्ष्य मार्मिक परिस्थिति का चित्रण होता है। ऐसी कहानियों में घटना की कल्पना तथा बाह्य वस्तु वा प्रकृति-चित्रण की बहुलता होती है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जो कहानियाँ कोई मार्मिक परिस्थिति लक्ष्य में रखकर चलेंगी उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न भिन्न रूप-रंगों के सहित और परिस्थितियों का विशद चित्रण भी बराबर मिलेगा। घटनाएँ और कथोपकथन बहुत अल्प रहेंगे.........यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमें मानना पड़ेगा। पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण इसमें नहीं है, न सही।"—( इतिहास, पृ० ६५२–६५३ )। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ प्रायः इसी ढंग की हैं। श्री प्रसाद की भावात्मक तथा कल्पनात्मक कहानियों में भी यह तत्त्व प्राप्त होता है। श्री 'हृदयेश' के उपन्यास 'मंगलप्रभात' में भी इसी तत्त्व की प्रधानता लक्षित होती है।

हिंदी में इधर जो गद्यकाव्य ( जिसे आचार्य शुक्ल काव्यात्मक गद्यप्रबंध वा लेख कहते हैं ) की रचना आरंभ हुई, वह रवि बाबू की 'गीतांजलि' की प्रेरणा से। वस्तु तथा अभिव्यंजना-शैली दोनों की दृष्टि से यह कविता के समकक्ष रखा जाता है, यद्यपि इसमें छंद का बंधन नहीं रहता। परिस्थिति की दृष्टि से गद्यकाव्य की रचना के मूल में हमें दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं, एक तो बीसवीं शती के आरंभ से ही सभी देशों में गद्य का चरम विकास, जिसके द्वारा उसमें चाहे किसी भी वस्तु वा भाव की अभिव्यक्ति हो सकती थी और दूसरे गद्य की इस अवस्था में स्वच्छंदतावादियों ( रोमांटिक्स ) में रीतिवाद के बंधन से मुक्ति की अभिलाषा, जिनका मत यह था कि जब गद्य इतना शक्तिशाली हो गया है तब क्या छंद-बंध से मुक्त होकर उसमें काव्य के उत्कृष्ट गुण नहीं आ सकते? वस्तुतः यह स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति है, जो विकास की द्योतिनी समझी जाती है।

गद्यकाव्य

आचार्य शुक्ल गद्यकाव्य को छंदोबद्ध काव्य के समकक्ष ही रखते हैं। उसका स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं—"काव्यात्मक गद्यप्रबंध या लेख छंद

अतिरिक्त और प्रकार के विचारात्मक निबंध साहित्य-कोटि में वे ही आते हैं जिनमें बुद्धि के अनुसंधान-क्रम या विचार-परंपरा द्वारा गृहीत अर्थों या तथ्यों के साथ लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ पूरी पूरी झलकती हैं।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ४ )। वैयक्तिक निबन्धों में वहाँ के समीक्षक विधान की सरलता का प्रतिपादन इसी लिए कर रहे हैं कि वे उसे काव्य के समकक्ष रखना चाहते हैं। वे उन्हें न तो निबन्धकार के पक्ष से और न पाठक के पक्ष से ही श्रमसाध्य बनाना चाहते हैं। और आचार्य शुक्ल निबन्धों में बुद्धि वा विचार की ही प्रधानता मानते हैं, उनके मत्यनुसार इसकी योजना ही उनकी विशेषता है। वस्तुतः बात ठीक भी है क्योंकि साहित्य के सभी अंगों का अपना-अपना लक्ष्य होता है, यदि कविता के तत्त्व निबन्ध में और निबन्ध के तत्त्व कविता में नियोजित किए जायँ तो इस विपर्यय का परिणाम साहित्य में अनर्गलता का प्रसार ही होगा।

**निबंध में व्यक्तित्व**

उपर्युक्त उद्धरण द्वारा निबन्ध की दूसरी प्रमुख विशेषता—उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप—का भी उल्लेख हुआ है। व्यक्तित्व की छाप से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य दो बातों से है, एक तो लेखक की शैली वा वाग्वैचित्र्य से और दूसरी उसके हृदय के भावों वा प्रवृत्तियों की निबन्ध में झलक से। शैली वा वाग्वैचित्र्य-गत व्यक्तित्व की छाप अर्थ वा तथ्य को लेकर होगी, जो विचार वा बुद्धि से संबद्ध है। निबन्ध-लेखक के हृदय के भाव तथा प्रवृत्तियाँ भी अर्थ को ही लेकर झलक मारेंगी। ये सब बातें उपरिलिखित उद्धरण द्वारा स्पष्ट हैं। अभिप्राय यह कि लेखक की व्यक्तिगत विशेषता, जिसके अंतर्गत उसकी शैली तथा उसके हृदयगत भावों की झलक आती है, निबन्ध की वस्तु से ही सम्बन्ध रखती है और इस वस्तु का सम्बन्ध बुद्धि से है।

निबन्ध में आचार्य शुक्ल व्यक्तिगत विशेषता किस रूप में ग्रहण करते हैं, इसे देखने के पूर्व इसका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि अँगरेजी के समीक्षक वैयक्तिक निबन्ध में इस तत्त्व का स्वरूप क्या समझते हैं। इस प्रकार के निबन्ध के विषय में उनका कथन यह है कि निबन्धकार कौन-सी वस्तु

अपनी रचना में देता है, इस ओर दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं है, वरन् यह देखने की आवश्यकता है कि वह जो भी वस्तु निबंध में व्यक्त करता है, उसके व्यक्त करने का ढंग कैसा है, वह सरल, स्वाभाविक, मार्मिक है या नहीं। तात्पर्य यह कि वे ऐसे निबंधों में वस्तु ( मैटर ) का ध्यान नहीं रखते, प्रत्युत वस्तु-विधान ( मैनर ) का ध्यान रखते हैं। निबंध के इस प्रकार के लक्षण का कारण यह है कि निबंधकार जिस विषय पर निबंध प्रस्तुत करते हैं, उस विषय पर उनकी दृष्टि नहीं रहती, वे किसी भी विषय पर लिखते हुए अपने व्यक्तित्व से संबद्ध अनेक बातों की अभिव्यंजना करते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में प्रस्तुत विषय प्रधान नहीं है, वह तो गौण है, प्रधान है प्रस्तुत विषय के संबंध से प्रसंग-प्राप्त आत्माभिव्यक्ति। अतः इस आत्माभिव्यक्ति के लिए वे अनेक विषयांतर करते हैं, जिनका संबंध प्रस्तुत विषय से नहीं रहता। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि आत्माभिव्यक्ति के लिए वे निबंधकार विषयांतर करते हैं। व्यक्ति विशेषता से वे लोग यही अर्थ लेते हैं। आचार्य शुक्ल इस प्रकार की व्यक्तिगत विशेषता का समर्थन नहीं करते। देखिए वे क्या कहते हैं—"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवाय और कुछ न हो।"—( इतिहास, पृ० ६०५ )।

व्यक्तिगत विशेषता से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय निबंधकार के मानसिक संघटन, संस्कार वा अध्ययन के कारण उसके निबंध पर इसका ( मानसिक संघटन का ) प्रभाव है, यह प्रभाव उसके सभी निबंधों में—चाहे वे किसी भी विषय पर लिखे गए हों—मिलेगा। उदाहरण के लिए आचार्य शुक्ल के ही निबंध लें। वे साहित्यिक व्यक्ति थे, अतः उनके मनोभावों से संबद्ध

निबंधों में भी साहित्यिकता का पुट है। मनोवैज्ञानिक संभवतः क्रोध, करुणा आदि मनोविकारों पर आचार्य शुक्ल के समान साहित्यमय निबंध प्रस्तुत न कर पाता, क्योंकि ऐसा करते हुए उसकी दृष्टि अधिकतर मानोभावों के विश्लेषण पर होती, नित्य के अनुभव पर नहीं ; और न वह उसमें साहित्य का पुट ही दे पाता, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया है। आचार्य शुक्ल इसी को 'अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता' तथा 'एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखना' कहते हैं।

व्यक्तिगत विशेषता के विषय में एक बात वे यह भी कहते हैं कि निबंधकार यद्यपि बुद्धि के साथ चलता है पर उस बुद्धि के साथ उसका हृदय भी लगा रहता है, इस स्थिति में उसकी विशिष्ट भाव-प्रवणता का प्रभाव उसके निबंधों में अवश्य होगा। जैसे, यदि कोई लेखक करुण रस में विशेष रूप से प्रवण होगा तो वह निबंध लिखते हुए करुणा के स्थलों की योजना का प्रसंग उपस्थित करेगा। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "इस अर्थगत विशेषता के आधार पर भाषा और अभिव्यंजन-प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है।"—(इतिहास, ६०७, और देखिए वही, पृ० ६०६-६०७)।

साहित्यालोचन

निबंध के ही अंतर्गत आचार्य शुक्ल साहित्यालोचन को भी ले लेते हैं, क्योंकि यह (साहित्यालोचन) निबंधों मे ही प्रस्तुत वा उपस्थित किया जाता है। अपनी आलोचनाओं को उन्होंने निबंध वा प्रबंध ही कहा है। अतः आगे हम आलोचना पर विचार करेंगे।

कवि और आलोचक

आजकल आलोचक और आलोचना के संबंध में जो चर्चा हिंदी में चलती है, उसपर पाश्चात्य आलोचना-साहित्य का बड़ा गहरा प्रभाव है। वर्तमान काल में इसका ग्रहण भी वहाँ से हुआ है, अतः ऐसा होना स्वाभाविक है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में समीक्षक वा समीक्षा के विषय में बहुत-सी बातें मिलती हैं, पर हिंदी में वे न आ सकीं। संस्कृत में समीक्षक को 'सहृदय' कहा गया है, अर्थात् समीक्षक को कवि के समान ही हृदयवाला होना चाहिए, जिससे वह उसकी परिस्थिति में पड़ कर उसके काव्य का विवेचन सहानुभूतिपूर्वक (सिम्पे-

थेटिकली) कर सके। आलोचक में इस गुण की स्थिति आज भी परमावश्यक मानी जाती है, आज भी आलोचक को कवि का समानधर्मा बतलाया जाता है। वस्तुतः जब तक कवि और समालोचक में समान गुणों की अवस्थिति नहीं होती तब तक आलोचना की सफलता में संदेह ही समझना चाहिए। पर दोनों में समान गुणों की अवस्थिति होते हुए भी दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। संस्कृत शास्त्रीय ग्रंथों में समीक्षक के लिए 'भावक' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'काव्यमीमांसा-कार' राजशेखर ने प्रतिभा दो प्रकार की मानी है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि में होती है और भावयित्री प्रतिभा भावक या समीक्षक में*। राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा के तीन भेद—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी—कहे हैं†। भावक या समीक्षक की भावयित्री प्रतिभा के विषय में उन्होंने कहा है कि यह कवि के श्रम या कवि-कर्म तथा अभिप्राय अथवा भाव, तथ्य, विचार आदि की विवेचना करती है। वे यह भी कहते हैं कि इसी भावयित्री प्रतिभा के कारण कवि का काव्यरूपी वृक्ष सफल होता है अन्यथा वह असफल ही रहे‡। तात्पर्य यह कि काव्य की विवेचना के लिए समीक्षक का होना आवश्यक है। राजशेखर के उपर्युक्त विचारों को देखने से विदित होता है कि उन्होंने कवि और समीक्षक के विषय में सीधे-सीधे बात न करके उनमें स्थित प्रतिभा को लेकर उनकी चर्चा की है, जिनके द्वारा कवि और समीक्षकों के विषय में ही विवेचन हुआ।

ऊपर हमने कहा है कि कवि तथा आलोचक में समान गुणों या धर्मों की स्थिति आजकल भी मानी जाती है, यद्यपि इन दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। कुछ आलोचक कवि भी होते हैं, आचार्य शुक्ल ऐसे ही आलोचक थे।

---

* या शब्दग्राममर्थसार्थलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।······सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।···भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री।

† सोऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च।

‡ सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः। अन्यथा सोऽवकेशी स्यात्।

संस्कृत के कुछ प्राचीन आचार्यों ने भी कवित्व और समीक्षकत्व की स्थिति एक ही व्यक्ति में देखकर कवि तथा समीक्षक में अभेद माना है। उनका कहना यह है कि जब कवि भी विवेचन करता है और भावक कवि होता है, तब इनमें भेद कैसा, अर्थात् इस स्थिति में इनमें कोई भेद नहीं है*। पर राजशेखर स्वरूप और विषय-भेद के कारण कवित्व से भावकत्व का तथा भावकत्व से कवित्व का भेद मानते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि समान धर्मों के होते हुए भी कवि का कार्य रचना करना होता है और आलोचक का कार्य है उस रचना की विवेचना; कवि में रचना-शक्ति की प्रधानता होती है और समीक्षक में भाविका शक्ति की। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति में समीक्षा तथा कविता शक्ति की विरलता भी देखी जाती है। ऐसी स्थिति में उसे (समीक्षक को) काव्यानुशीलन के अभ्यास आदि द्वारा अपने हृदय को कवि के समान धर्मवाला बनाना पड़ता है।

**राजशेखर द्वारा निर्धारित आलोचक के प्रकार**

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में अपनी तथा अन्य आचार्यों की दृष्टि से आलोचकों के चार प्रकार माने हैं। आचार्य मंगल का कथन है कि भावक दो प्रकार के होते हैं—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। राजशेखर दो प्रकार और बतलाते हैं—मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी। इस प्रकार आलोचक के चार प्रकार होते हैं†। अरोचकी आलोचकों को किसी का काव्यादि नहीं रुचता, उन्हें प्रायः दोष ही दृष्टिगत होता है। राजशेखर का कथन है कि अरोचकी समीक्षकों में अरोचकिता दो प्रकार की होती है—एक नैसर्गिकी और दूसरी ज्ञानयोनि वा ज्ञानमूला। नैसर्गिकी अरोचकिता के कारण समीक्षक को कोई भी रचना भली नहीं लग सकती, क्योंकि उसमें (समीक्षक में) यह अरोचकिता सहज होती है। जिस आलोचक में ज्ञान के कारण अरोचकिता आगई है, उसे विशिष्ट रचनाएँ सुंदर लग सकती हैं, यह कुछ

* "कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः" इत्याचार्याः।

† "ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च" इति मंगलः।..."चतुर्धा" इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च।

रचनाओं के द्वारा प्रसन्न हो सकता है*। अरोचकी आलोचक सभी देशों के आलोचना-साहित्य के प्रारंभिक काल में प्रायः दिखाई पड़ते हैं। सतृणाभ्यवहारी आलोचक नीर-क्षीर-विवेक की शक्ति न होने के कारण आलोच्य के गुण-दोष-विवेचन में असफल रहता है। वह प्रायः अनुचित का ग्रहण तथा उचित का त्याग कर देता है†। इस प्रकार के समीक्षक भी आलोचना-साहित्य के आरंभिक काल में देखे जाते हैं, जिनकी आलोचना में एकांगिता का बाहुल्य मिलता है। मत्सरी समीक्षक वे हैं, जो दूसरे के गुण को भी द्वेषवश दोष के रूप में ही देखते हैं‡। ऐसे समीक्षकों द्वारा साहित्य में वितंडा मात्र ही उपस्थित की जाती है, वे साहित्य का कुछ भी उपकार नहीं कर सकते। राजशेखर ने तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक पर विचार करते हुए कहा है कि वह सहस्र में एक होता है। वस्तुतः ऐसे आलोचक विरले ही मिलते हैं जो आलोच्य के कला-पक्ष और हृदय-पक्ष दोनों के तत्त्वों में—दोनों के यथार्थ रूपों में—पैठकर उनका उद्घाटन करें। राजशेखर ने भावक द्वारा काव्य के कला-पक्ष की विवेचना, उसकी रसज्ञता, उसके द्वारा काव्य के सटीक तात्पर्य के उद्घाटन आदि का निर्देश किया है। उन्होंने कवि तथा भावक में पारस्परिक सहानुभूति का भी संकेत यह कहकर किया है कि आलोचक कवि का स्वामी, मित्र, शिष्य और आचार्य होता है+। इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचना के एक उत्तम रूप

*"अरोचकिता हि तेषां नैसर्गिकी, ज्ञानयोनिर्वा। नैसर्गिकी हि संस्कारशतेनाऽपि। वज्रमिव कालिका ते न जहति। ज्ञानयोनौ तु तस्यां विशिष्टज्ञेयवति वचसि रोचकिता-वृत्तिरेव" इति यायावरीयः।

†किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारिणी। तथाहि—व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथमं सा। प्रतिभाविवेक विकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति।

‡मत्सरिणस्तु प्रतिभातमपि न प्रतिभातं, परगुणेषु वाचं यमत्वात्।

+शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तमुखं ताम्यतां
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥

पर हमारे प्राचीन आचार्यों की भी दृष्टि थी। यदि इस प्रकार की आलोचना को हमें आजकल की विश्लेषणात्मक ( इंडक्टिव ) समीक्षा कहने में कुछ संकोच हो तो इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि यह किन्हीं अंशों में विश्लेषणात्मक समीक्षा की ओर ही उन्मुख है। संक्षेप में भारतीय दृष्टि से समीक्षागत तत्वों का संकेत करने से हमारा तात्पर्य यही दिखाने का है कि भारत में प्राचीन काल में भी समीक्षा का रूप प्राप्त है। सैद्धांतिक आलोचना ( प्योर क्रिटिसिज्म ) की तो यहाँ कमी न थी। अनेक साहित्यिक वाद इसके प्रमाण हैं। व्यावहारिक आलोचना ( अप्लायड क्रिटिसिज्म ) का भी एक रूप अनेक आचार्यों द्वारा किए गए भाष्यों तथा टीकाओं में मिलता है। मल्लिनाथ की टीका बड़ी प्रसिद्ध है। उसमें ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ आलोचना का बीज वर्तमान है, कहीं-कहीं इसका विस्तार भी है।

वर्तमान काल में आलोचना पर पाश्चात्य समीक्षकों ने विशेष ध्यान दिया है और तत्संबंधी साहित्य-निर्माण भी वहाँ प्रभूत मात्रा में हुआ है।

समीक्षा-साहित्य

उन लोगों ने आलोचक के कर्तव्य और उसकी सीमाएँ, आलोचना-सिद्धांत तथा इसके वर्गीकरण आदि पर पूर्ण रूप से विचार किया है। अंगरेज समालोचक एबरक्रांबी ने सत्समालोचना के लिए आलोचक में किन-किन गुणों की स्थिति आवश्यक है, इस पर विचार करते हुए कहा है कि उसमें मर्मभेदिनी काव्यदृष्टि, कवि वा काव्य के प्रति सहानुभूति, कवि की मनोदशा ( मूड ) को समझने के लिए काल्पनिक ग्राहकता, व्यवहारिक ज्ञान, नीर-क्षीर-विवेकिनी शक्ति तथा ऐसे ही अन्य गुण होने चाहिएँ*। आलोचक के कर्तव्य वा उसके गुणों के विषय में

स्वामी मित्रं च मंत्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कवेर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः ॥

* Insight, sympathy, imaginative response, common sense, or mere power to express discriminating gusto—of these abilities, and other such, may excellent criticism be made, without anytning, being formulated.—Lascelles Abercrombie M.A's. *Principles of Literary Criticism*. p. 121.

प्रायः सभी समीक्षक येन केन प्रकारेण ऐसी ही बातें कहते हैं। सहृदय भावक पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। उनके तथा आलोचक के इन गुणों को देखने से विदित होता कि इनमें कुछ न कुछ समता अवश्य है। आलोचन के सिद्धांतों के विषय में भी इधर बहुत विचार हुआ है। वस्तुतः आलोचन-सिद्धांत साहित्य-सिद्धात से ही संबद्ध हैं, जिन (साहित्य-सिद्धांतों) पर दृष्टि रखकर आलोचक आलोचना करता है और इस प्रकार उसके (आलोचन के) सिद्धांत भी स्थिर होते हैं। साहित्यगत भारतीय ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद तथा यूरोपीय अनुकरणवाद (थियरी आफ इमिटेशन) तथा अभिव्यंजनावाद ( एक्सप्रेसनिज्म ) आदि भी काव्य वा साहित्य के ही वाद हैं, पर आलोचना करते समय आलोचना-सिद्धांत में भी इनका उपयोग होता है। इस प्रकार आलोचना के अनेक सिद्धांत अब तक स्थिर हो चुके हैं, जो अनेक लक्ष्यों के आधार पर बने हैं। इस युग में अनेक दृष्टियों से आलोचना के अनेक वर्गीकरण भी हुए, जिन पर हम आगे विचार करेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि अब आलोचना-साहित्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई है और वह अब बहुत समृद्ध हो चला है, इसका श्रेय पाश्चात्य देशों को विशेष है। आलोचना का कार्य भी अब केवल पर-प्रत्यय पर स्थित नहीं माना जाता, इसके लिए भी अब रचनाकार की भाँति मौलिक कला-वृत्ति ( आरिजिनेटिव आर्ट इंपल्स ) की आवश्यकता समझी गई है, बिना इस कला-वृत्ति के आलोचना में सफलता नहीं हो सकती, वह व्यर्थ की वस्तु हो जायगी *।

विभिन्न परिस्थितियों वा कालों में आलोचना ( क्रिटिसिज्म ) द्वारा विभिन्न अर्थ लिए जाते रहे हैं और अब भी लिए जाते हैं। आलोचना द्वारा

**'आलोचना' के विभिन्न अर्थ**

( १ ) दोषदर्शन ( फाल्ट फाइंडिंग ), ( २ ) गुण-कथन वा स्तवन ( प्रेज ), ( ३ ) गुण-दोष-निर्धारण ( पासिंग जजमेंट ', ( ४ ) तुलना ( कम्परिजन ) तथा ( ५ ) सहानुभूति-प्रदर्शन ( अप्रीसिएशन ) प्रायः ये पाँच अर्थ

* Criticism that is not based upon the originative art impulse can produce nothing, lead to nothing, prepare nothing.—R. A. Scott-James's *The Making of Literature*, p. 113.

लिए जाते हैं—विभिन्न कालों वा परिस्थितियों के अनुसार * । आलोचना द्वारा दोष-दर्शन का कार्य प्रायः इसके आरंभिक काल में देखा जाता है। आचार्य द्विवेदी द्वारा 'हिंदी कालिदास की समालोचना' तथा उनकी अन्य आलोचनाएँ तथा बिहारी और देव के झगड़े में इन कवियों में जान-बूझकर दोष-दर्शन इसके उदाहरण के रूप में रखे जा सकते हैं। आजकल भी प्रसंगानुकूल 'आलोचना' द्वारा कुत्सा वा दोष-दर्शन का अर्थ लिया जाता है। 'अमुक कवि या कृति की बड़ी आलोचना हो रही है' का तात्पर्य आज भी यही समझा जाता है कि उसमें दोष देखे जा रहे हैं। आलोचना द्वारा गुण-कथन का अर्थ भी लिया जाता है, और अब भी प्रायः ऐसी आलोचनाएँ देखी जाती हैं, जिनमें केवल गुणों का ही विवेचन रहता है। आलोचना-साहित्य को देखने से विदित होता है कि गुण-दोष-निर्धारण वा किसी कवि वा कृति को भला-बुरा करार देना ही कभी आलोचना का स्वरूप वा अर्थ समझा जाता है। उसकी ऐसी स्थिति प्रायः उसकी आरंभिक अवस्था में ही होती है। आलोचना का एक प्रकार निर्णयात्मक आलोचना ( ज्यूडिशियल क्रिटिसिज्म ) इसके इसी अर्थ वा स्वरूप के आधार पर माना गया है। आलोचना से तुलना के अर्थ का ग्रहण बहुत कम होता है, यद्यपि तुलनात्मक आलोचना ( कंपेरेटिव क्रिटिसिज्म ) आलोचना का एक प्रकार है अवश्य। आलोचना द्वारा सहानुभूति-प्रदर्शन का अर्थ लेने से उसमें किसी कवि वा कृति की विशेषताओं का उद्घाटन तथा उनका समर्थन होता है। इसके द्वारा कहीं-कहीं दोष को भी विवेचना द्वारा गुण के अर्थ में लेने का भाव भी व्यक्त होता है। गुण-कथन तथा सहानुभूति-प्रदर्शन में यही भेद है। वस्तुतः गुण को गुण के रूप में लेना तो गुण-कथन है और कहीं-कहीं दोष का भी इस ढंग से प्रतिपादन करना कि वह गुण के रूप में ग्रहण किया जा सके सहानुभूति-प्रदर्शन है। आलोचना के नाम पर सहानुभूति-प्रदर्शन भी प्रायः सभी साहित्यों में विशेष रूप से किया जाता है। आजकल आलोचना का सच्चा अर्थ वा स्वरूप

---

* देखिए C. M. Gayley and F. N. Scott's *Methods and Materials of Literary Criticism*—Definition of criticism.

विवेचन वा विश्लेषण में माना जाता है। इस समय आलोचना का विश्लेषण ( एनालिसिस ) वा विवेचन ( इंटरप्रेटेशन ) अर्थ ही मुख्यतः प्रचलित है।

ऊपर हमने आलोचना के विभिन्न अर्थों का संकेत किया है। इन अर्थों पर दृष्टि रखकर ही आलोचना के कई प्रकार माने गए हैं। प्रधानतः और प्रचलित रूप मे आलोचना के तीन प्रकार माने जाते हैं—

**आलोचना के प्रकार और उनके नाम**

( १ ) निर्णयात्मक ( ज्यूडिशियल ), ( २ ) विवेचनात्मक ( इंडक्टिव ) और ( ३ ) प्रभावाभिव्यंजक ( इंप्रेसनिस्ट )।

निर्णयात्मक आलोचना का कार्य आलोच्य के गुण-दोष का निर्धारण है। इस गुण-दोष की निर्धारणा में आलोचक को निश्चित वा मान्य ( एक्सेप्टेड ) साहित्य-सिद्धान्तों का आधार लेना पड़ता है। वह स्थिर किए हुए सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर किसी कृति वा कृतिकार की आलोचना करता है और जो कृति वा कृतिकार सिद्धान्तों के अनुकूल पड़ता है उसे वह भला निर्णीत करता है तथा जो प्रतिकूल पड़ता है उसे बुरा करार देता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक को रुचि स्पष्टतः लक्षित होती है। वस्तुतः वह अपनी रुचि से शासित हो उसके अनुकूल आलोचन-सिद्धान्तों को लेकर किसी कृति वा कृतिकार की आलोचना के लिए उनका आरोप उस ( कृति वा कृतिकार ) पर करता है। और इस प्रकार रचना वा रचनाकार के भले-बुरे होने का निर्णय देता है। निर्णयात्मक आलोचना के इस स्वरूप को देखकर यह न समझना चाहिये कि यह सरल कार्य है और इसे साधारण विद्या-बुद्धिवाला भी कर सकता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। निर्णय देने के लिए भी आलोचक को मान्य सिद्धांतों का आरोप ( अप्लिकेशन ) आलोच्य रचना पर करके उस रचना का विवेचन वा प्रतिपादन करना पड़ता है। वह सिद्धांत की दृष्टि से आलोच्य रचना का विवेचन करके तब निर्णय देता है। कहने का तात्पर्य यह कि निर्णयात्मक आलोचना में उस विवेचनात्मक आलोचना की सहायता अपेक्षित है, जो उत्तम श्रेणी की आलोचना मानी जाती है। बिना विवेचना के निर्णयात्मक आलोचना सफल नहीं हो सकती। इसी कारण आलोचकों ने

**निर्णयात्मक आलोचना**

इसको भी, अपने क्षेत्र में ही सही, महत्त्व दिया है,* आचार्य शुक्ल भी उसके पक्ष में हैं—पर कुछ अंशों में ही; आगे हम इसे देखेंगे।

विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक वा विवेचनात्मक आलोचना का मुख्य स्वरूप है किसी रचना की आलोचना उसी में वर्णित बातों को दृष्टि में रखकर करना, निर्णयात्मक आलोचना की भाँति किसी सिद्धान्त का आरोप उस (रचना) पर न करना। अभिप्राय यह कि विवेचनात्मक आलोचना में बाहरी सिद्धान्तों का संनिवेश नहीं किया जाता, वरन् उसमें आलोच्य रचना ही उसका सिद्धांत होती है। इसमें आलोचक विवेचन (इंटरप्रेटेशन) और विश्लेषण (एनालिसिस) द्वारा रचना की विशेषताओं का उद्घाटन करता है। सच बात यह है कि इस प्रकार की आलोचना में कौन-सी वस्तु कैसी और क्या है इसी को व्याख्या द्वारा उपस्थित कर देना होता है, इसके लिए विवेचन और विश्लेषण की अपेक्षा है, जिसका निर्देश हमने अभी किया है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि आलोचक में निरीक्षण शक्ति तथा व्यापक काव्यमर्मज्ञता भी हो।

विवेचनात्मक आलोचना

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याख्यात्मक आलोचना का प्रधान लक्ष्य किसी कृति का मूल्योद्घाटन (वैल्यूएशन) है। ऐसा करने के लिए अन्य प्रकार की विवेचना का भी सहारा लेना पड़ता है। कृति पर कृतिकार के मानसिक तथा देश-कालगत रीति नीति, व्यवहार, आचार-विचार आदि का प्रभाव परोक्षतः वा प्रत्यक्षतः पड़ता है, अतः इन बातों के विवेचन वा उद्घाटन के लिए मनोविज्ञान तथा इतिहास का सहारा भी लेना पड़ता है, जिसके कारण विवेचनात्मक आलोचना के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक (साइकोलोजिकल)

* In the interest of Judicial criticism itself we have to recognize that the judicial criticism must always be preceded by the criticism of interpretation. (p. 269)....no judicial criticism can be of any value which has not preceded by the criticism of interpretation. (p. 323)—Richard Green Moulton's *The Modern study of Literature.*

तथा ऐतिहासिक ( हिस्टोरिकल ) आलोचनाएँ भी आ जाती हैं। ऐतिहासिक आलोचना में साहित्यिक परंपरा की दृष्टि से भी किसी रचना का मूल्य आँका जाता है। आचार्य शुक्ल ने इन दो आलोचनाओं को भी माना है।

विवेचन में स्पष्टता के लिए समान देश-काल, प्रवृत्ति, गुण आदि की दो या दो से अधिक रचनाओं में कभी-कभी तुलना भी की जाती है। इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना ( कंपरेटिव क्रिटिसिज्म ) भी विवेचनात्मक आलोचना के ही अंतर्गत आ सकती है। 'आलोचना' के अर्थ में 'तुलना' का ग्रहण संभवतः इसी कारण किया गया है, जिस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना ( इंप्रेसनिस्ट क्रिटिसिज्म ) को मोल्टन ने स्वतंत्र या आत्माभिव्यंजक आलोचना ( फ्री आर सब्जेक्टिव क्रिटिसिज्म ) भी कहा है। इसे भावात्मक आलोचना भी कहते हैं। इस

**प्रभावाभिव्यंजक आलोचना**

प्रकार की आलोचना में प्रधानतः दो बातें देखी जाती हैं—एक तो यह कि इसमें आलोचक विवेचन या विचार की ओर नहीं उन्मुख होता, जो आलोचना का मुख्य कार्य है, प्रत्युत वह किसी रचना द्वारा अपने हृदय पर पड़े प्रभावों को व्यक्त करता है। और दूसरी बात यह कि प्रभावों की व्यंजना वह प्रायः भावात्मक शैली में करता है, जिसके कारण उसकी आलोचना एक स्वतंत्र रचना के रूप में प्रस्तुत होती है। ऐसी स्थिति में वह आलोचक नहीं, रचनाकार हो जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी स्वतंत्र रचना मौलिक रचना ( क्रीएटिव वर्क ) की भाँति आनंददायिनी हो सकती है, चाहे उसमें आलोचना का बीज भी न मिले। आचार्य शुक्ल के आलोचन-संबंधी विचारों का विवेचन करते समय इसकी उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता पर विचार किया जायगा।

इन तीन प्रकार की आलोचनाओं के अतिरिक्त मोल्टन ने एक और प्रकार की आलोचना का विचार किया है, जिसे वे सैद्धांतिक आलोचना ( स्पेक्युलेटिव क्रिटिसिज्म ) कहते हैं। इसके अंतर्गत वे साहित्य के सिद्धांत ( थियरीज ) तथा उनका सम्यक् विवेचन या दर्शन ( फिलोसोफी ) लेते हैं। इसे विशुद्ध आलोचना ( प्योर क्रिटिसिज्म ) भी कहा जा सकता है।

आलोचना को आचार्य शुक्ल सदैव एक गंभीर कार्य मानते रहे हैं। उन्होंने इसके लिए अध्ययन, मनन, निरीक्षण, मार्मिक काव्य दृष्टि आदि की आवश्यकता बतलाई है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"इसके अतिरिक्त

आचार्य शुक्ल की दृष्टि उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए

से विवेचनात्मक विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी समीक्षा ही ग्राह्य प्रज्ञा अपेक्षित है।"—( इतिहास, पृ० ६३५ )। इससे विदित होता है कि वे विचारात्मक आलोचना का ही समर्थन करते हैं, प्रभावात्मक वा प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का नहीं। उनका कथन है "इस संबंध में पहली बात समझने की यह है कि 'समीक्षा' अच्छी तरह देखना या विचार करना है। वह जब होगी विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचना द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं।"—( इंदौरवाला भाषण, पृ० ४८ )। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल आलोचना के विचारात्मक या विवेचनात्मक प्रकार को ही सच्ची आलोचना मानते हैं, उसके भावात्मक प्रकार को नहीं। उनकी दृष्टि में भावात्मक समीक्षा कोई वस्तु ही नहीं, उसे आलोचना कहना ही नहीं चाहिए। वे कहते हैं—"प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठीकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षण वा आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसीलिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले; इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करें।"—( इतिहास, पृ० ६७९ )। इसके द्वारा यह विदित होता है कि आचार्य शुक्ल भावात्मक आलोचना को व्यक्तिगत वस्तु मानते हैं, इसका संबंध आलोचक के हृदय पर पड़े काव्य के प्रभाव से ही है। वस्तुतः आलोचना केवल आलोचक की ही वस्तु नहीं है, वह उसके अन्य पाठकों से भी संबद्ध है। उसे ऐसे रूप में होना चाहिए जिससे अनेक व्यक्तियों को रचना समझने में सहायता मिले। आलोचना के इसी स्वरूप को दृष्टि में रखकर रिचर्ड्स तथा एबरक्रांबी ऐसे सत्समालोचकों ने भी इसका समर्थन

नहीं किया है*। आचार्य शुक्ल ने आलोचना की उस हवाई या उड़ती हुई शैली के प्रति भी अरुचि प्रदर्शित की है जो पद्मसिंह शर्मा में मिलती है और जिसकी परंपरा छायावादी काल के दो-एक अप्रौढ़ आलोचकों में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार की आलोचना के विषय में आचार्य शुक्ल कहते हैं—"..." अहा हा !' और 'वाह वाह !' वाली इस चाल का समालोचना कहा जाना जितनी ही जल्दी बन्द हो उतना ही अच्छा।"

उपर्युक्त विवेचन द्वारा अवगत होता है कि आचार्य शुक्ल आलोचना के क्षेत्र में विचारात्मकता का ग्रहण तथा भावात्मकता का त्याग करते हैं।

**निर्णयात्मक और प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा का भी समर्थन**

इधर की अपनी सारी कृतियों में उन्होंने विवेचनात्मक (इंडक्टिव) आलोचना का पक्ष लिया है और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना का विरोध किया है। 'काव्य में रहस्यवाद' में उन्होंने यद्यपि प्रभाववादी आलोचना का विरोध किया है (देखिए वही, पृ० ६४) तथापि वे आलोचना में उसकी भी आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। इसमें उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना का भी पक्ष लिया है और उसकी भी आवश्यकता तथा उपयोगिता का कुछ समर्थन किया है। इन आलोचनाओं पर विचार करते हुए वे कहते हैं—"समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला निर्ण-

---

* At the least a critic is concerned with the value of things for himself and for people like him. Otherwise his criticism is mere autobiography—I. A. Richards' *Principles of Literary Criticism*, P. 223. और..criticism proper naturally prefers to stand on something more reliable than impressions which may be at the mercy of personal prejudices or emotional accidents. —Lascelles Abercrombie M. A.'s *Principles of Literary Criticism*, P. 14.

यात्मक आलोचन (Judicial Criticism) और रुचि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक है।" – ( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६५ )। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल निर्णयात्मक आलोचनागत विद्वत्ता का ही निर्देश करते हैं; और हम देख चुके हैं कि निर्णयात्मक आलोचना तथा विवेचनात्मक आलोचना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विवेचना के पश्चात् ही निर्णय हो सकता है। उन्होंने यहाँ गुण-दोष-निर्धारण का निर्देश नहीं किया है, जो इस आलोचना का अंतिम कार्य है। इसका कारण यह है कि वे इसके विवेचनात्मक पक्ष को ही लेना चाहते हैं, जो विद्वत्ता से सम्बन्ध रखता है। प्रभाववादी आलोचना को भी, वे केवल उनमें स्थित रुचि को ही लेकर, ग्रहण करते हैं। यहाँ उनकी दृष्टि इस आलोचना को व्यक्त करनेवाली भावात्मक शैली पर नहीं है, जिसका विरोध वे अपनी बाद की आलोचनाओं में करते हैं, इसे हम देख चुके हैं। निर्णयात्मक आलोचना के व्यवहार-पक्ष पर विचार करते हुए ये कहते हैं—"सभ्य और शिक्षित समाज में निर्णयात्मक आलोचना का व्यवहार-पक्ष भी है। उसके द्वारा साधन-हीन ( काव्य के साधन से रहित ) अनधिकारियों की यदि कुछ रोक-टोक न रहे तो साहित्य-क्षेत्र कूड़ा-करकट से भर जाय।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ६६ )।

प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के विषय में एक बात और कहनी है। यह तो सत्य है कि काव्य में प्रभावात्मकता सब से बड़ी वस्तु है और जिस काव्य में यह वस्तु होती है उसका प्रभाव सभी लोगों पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में वह समालोचक पर भी प्रभाव डालती है, और यदि कई समालोचकों की शिक्षा-दीक्षा वा हृदयगत संस्कार आदि समान हैं—ऐसा होना असभव नहीं है, प्रायः ऐसा देखा जाता है—तो यह निश्चित है कि एक काव्य का प्रभाव इन समालोचकों पर विभिन्न प्रकार का न पड़ेगा, यह समान ही रूप में पड़ेगा, हाँ, उसकी मात्रा में न्यूनाधिक्य हो सकता है। इस अवस्था में सत्समालोचकों द्वारा की गई आलोचना—जहाँ तक प्रभाव का सम्बन्ध है—व्यक्तिगत वस्तु नहीं हो सकती, जैसा कि इस पर दोष लगाया जाता है, क्योंकि एक रचना का प्रभाव अनेक पर समान रूप से पड़ता है। इस दृष्टि से एक रचना की आलोचना में विशेष अंतर नहीं लक्षित हो सकता, यदि वह सत्समालोचक

द्वारा प्रस्तुत की जाय। हाँ, प्रभाववादी आलोचना को व्यक्त करने की भावात्मक शैली से तो कोई शिष्ट साहित्यिक सहमत न होगा।

अबतक हम आचार्य शुक्ल के साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्त देखते रहे हैं जिन्हें सैद्धान्तिक आलोचना ( प्योर और स्पेक्युलेटिव क्रिटिसिज्म ) कह सकते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से उन्होंने काव्य पर ही विशेष रूप से विचार किया है। काव्य का कोई प्रकार वा अंग ऐसा नहीं है जिस पर उनकी दृष्टि न गई हो। काव्य से संबद्ध रस-सिद्धान्त पर भी उन्होंने विचार किया है, जिसका विवेचन स्वतन्त्र रूप से आगे किया जायगा। साहित्य के अन्य अंग, जैसे, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि का उन्होंने सिंहावलोकन ही किया है, इन पर जम कर विचार नहीं हुआ है। पर, जितना विचार हुआ है उतने से ही इनके स्वरूप का परिचय प्राप्त हो जाता है। हिंदी-साहित्य के उपन्यास और छोटी कहानियों को दृष्टि में रखकर उन्होंने उनका विषयगत तथा शैलीगत वर्गीकरण भी अपने 'इतिहास' में किया है। तात्पर्य यह कि न्यूनाधिक रूप में साहित्य के सभी अंगों के सिद्धांत-पक्ष पर उनकी दृष्टि गई है, पर काव्य के सैद्धांतिक पक्ष का विवेचन उन्होंने पूर्ण रूप से किया है। आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक आलोचना देखने के पश्चात् अब हम उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं को भी देख लें।

**आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचनाएँ**

यहाँ आचार्य शुक्ल की आलोचना के विषय में एक बात का निर्देश करने के पश्चात् उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं पर विचार करना सुविधाजनक होगा। आचार्य शुक्ल की जो प्रौढ़ आलोचनाएँ—सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों—हमारे संमुख हैं उनका विकास क्रमिक रूप से हुआ है। वे दो-एक वर्ष की साधना का फल नहीं हैं। आचार्य शुक्ल के अध्ययन मनन और चिंतन की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है, यही कारण है कि साहित्य के संबन्ध में विचारपूर्वक सिद्धांत की विवेचना और स्थापना उनकी रचनाओं में आरंभ से ही मिलती है। इसकी झलक उनके 'साहित्य', 'उपन्यास' 'भाषा की शक्ति' आदि आरम्भिक निबन्धों में ही देखी जा सकती है। कहने

**आचार्य शुक्ल की आलोचना का विकास क्रमिक**

का अभिप्राय यह कि उनकी इधर की आलोचनाओं में जो साहित्य-संबन्धी मौलिक विचार वा सिद्धांत उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं, 'चिंतामणि' के कुछ निबन्धों, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद', 'इंदौरवाले भाषण' तथा अन्य स्थलों पर भी मिलते हैं, उनके बीज उनके (आचार्य शुक्लके) आरंभिक निबन्धों में ही प्राप्त हैं। उनके साहित्यिक सिद्धांतों में प्रौढ़ता क्रमिक रूप से आई है। इन सिद्धांतों के विषय में हमने ऊपर विचार भी कर लिया है। आचार्य शुक्ल को व्यवहारिक आलोचनाओं के विषय में भी यही बात लागू है। तुलसी, जायसी और सूर पर जो इतनी युगप्रवर्तनी आलोचनाएँ उन्होंने प्रस्तुत की उनका मूल भी प्राचीन है, ये भी क्रमिक रूप से विकसित होती हुई इस अवस्था को प्राप्त हुई हैं। 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी' तथा कतिपय अन्य कवियों वा लेखकों पर व्यावहारिक आलोचनाएँ आचार्य शुक्ल द्वारा उनके साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल से ही दिखाई पड़ने लगी थीं। इस प्रकार की कुछ आलोचनाएँ विशेषतः 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में मिलती हैं, जब यह मासिक रूप में प्रकाशित होती थी। ऐसी आलोचनाएँ तब की 'पत्रिका' में विशेष हैं, जब आचार्य शुक्ल इसके संपादक थे। अभिप्राय यह कि उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं का विकास भी क्रमिक है।

आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलो-चना के सिद्धांत

आलोचना के स्वरूप पर विचार करते हुए हमने देखा है कि आचार्य शुक्ल विचारात्मक आलोचना ( इंडक्टिव क्रिटिसिज्म ) का ही पक्ष ग्रहण करते हैं। और उनकी प्रमुख तीन आलोचनाओं को देखने से विदित होता है कि वे विवेचनात्मक वा विचारात्मक आलोचनाएँ ही हैं। विवेचनात्मक आलोचना का प्रतिमान ( स्टैंडर्ड ) आलोच्य ही होता है, उसी के (आलोच्य के ही) सौंदर्य का अध्ययन उसका आदर्श वा कर्तव्य होता है। उसमें समीक्षक अपनी रुचि वा सिद्धांत का उस पर ( आलोचन, पर ) आरोप करके उसे नहीं देखता। उसमें आलोच्य ही अपना आदर्श होता है। आलोचक तटस्थ वा निष्पक्ष होकर उसका विवेचन करता है। ऐसा करते हुए भी आलोचक की शिक्षा-दीक्षा से उद्भूत संस्कार उसके साथ ही रहते हैं, उसकी रुचि उससे अलग नहीं की जा सकती। अतः अपनी रुचि का प्रदर्शन भी वह

आलोचना करते हुए कभी-कभी करता है। पर अपनी रुचि या सिद्धांत का प्रदर्शन इस रूप में न होना चाहिए कि विश्लेषणात्मक आलोचना का लक्ष्य ही अंधकार में जा डूबे। इस रुचि तथा विवेचनात्मक आलोचना के विषय में हम अध्याय के आरंभ में विचार कर चुके हैं। यहाँ इन पर इतना विचार ही अलम् होगा।

आचार्य शुक्ल की आलोचनाएँ विश्लेषणात्मक हैं, यह तो निश्चित है, और यह भी निश्चित है कि इन व्यावहारिक आलोचनाओं को लिखते हुए उनकी रुचि या विचार भी उनके साथ ही थे, जैसा कि सभी समर्थ आलोचकों के साथ रहते हैं। पर, कुछ खटकने की बात यह लक्षित होती है कि वे अपनी रुचियों का प्रदर्शन स्पष्टतः वा प्रत्यक्षतः अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में करते हैं। और उन्होंने अपनी जो रुचि वा सिद्धांत एक बार बना लिए थे, उन्हीं के अनुसार वे नवीन तथा प्राचीन और सभी परिस्थितियों में अद्भुत साहित्य की विवेचना करते थे। यदि संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि आचार्य शुक्ल ने अपनी नियत वा निर्धारित रुचि के अनुसार समस्त साहित्य को देखा। यह ध्यान में नहीं रखा कि कौन-सा साहित्य किन परिस्थितियों में निर्मित हुआ है। साथ ही अपनी रुचि का प्रदर्शन वे प्रत्यक्षतः करते हैं, इसका निर्देश हमने ऊपर किया है। इस प्रकार का रुचि-प्रदर्शन निर्णयात्मक समीक्षा ( ज्यूडिशियल क्रिटिसिज्म ) में स्थान पा सकता है, शुद्ध विवेचनात्मक समीक्षा में नहीं, यद्यपि आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचनाएँ विवेचनात्मक ही हैं।

अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं को आचार्य शुक्ल ने किन-किन रुचियों सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर देखा है, आगे हम उन्हीं पर विचार करेंगे।

**लोकधर्म** व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों आलोचनाओं में आचार्य शुक्ल ने जिस सिद्धांत पर सब से अधिक जोर दिया है वह है उनका लोकधर्म वा लोकादर्शवाद। उनके लोकधर्म वा लोकादर्शवाद पर हम 'उपक्रम' में भले प्रकार विचार कर चुके हैं। वे उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें लोकपक्ष के चित्रण की अधिकता हो, जिससे अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक आनंद प्राप्त हो सके। इस लोकपक्ष वा धर्म पर दृष्टि रखने के कारण ही निर्गुणिए संत कवियों तथा

छायावादी वा रहस्यवादी कवियों के प्रति उनकी विशेष रुचि नहीं दिखाई पड़ती; क्योंकि इनमें लोक-पक्ष की प्रधानता नहीं है। जिन छायावादी कवियों में, इसकी अवस्थिति है उन्हें वे श्रेष्ठ मानते हैं अवश्य। काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिमान उसमें जीवन के अधिक से अधिक अंगों का संनिवेश जो आचार्य शुक्ल द्वारा माना गया है, वह उनके लोकधर्म के सिद्धांत के प्रभाव के कारण ही। जीवन में भी वे लोकसेवा के पक्षपाती हैं, इसी में (लोकसेवा में) जीवन को लय कर देना ही वे मुक्ति मानते हैं, इसे हम 'उपक्रम' में देख चुके हैं।

अपनी तीन प्रमुख आलोचनाओं में भी आचार्य शुक्ल की दृष्टि लोकपक्ष पर ही है। कहना यह चाहिए कि उनके लोकधर्म का सिद्धांत उस समय बना

व्यावहारिक आलोचनाओं में लोकधर्म का प्रभाव

जब वे तुलसी की आलोचना कर रहे थे। तुलसी के राम का स्वरूप 'लोकधर्म-रक्षक' और 'लोकरंजक' है। उनके राम के द्वारा लोकधर्म का साधन तथा लोक-रंजन अधिक से अधिक होता है, उन्होंने कभी लोक की उपेक्षा नहीं की, उन्होंने सदैव लोक की रक्षा तथा उसका रंजन किया। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में राम इसी कारण परम पुरुषोत्तम हैं, और राम के इस स्वरूप की अपने 'मानस' में अभिव्यक्ति करनेवाले तुलसी श्रेष्ठ कवि। तुलसी इसी कारण हिंदी के कवियों में श्रेष्ठ हैं कि उन्होंने राम के लोक-रक्षक तथा लोक-रंजक दोनों स्वरूपों की व्यंजना परमोत्कृष्ट रूप में की। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में सूर उतने श्रेष्ठ नहीं हैं, जितने कि तुलसी, क्योंकि सूर ने कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना उतनी अधिक नहीं की जितनी कि उनके लोक-रंजक स्वरूप की; इस कारण उनमें एकांगिता आ गई। वे कृष्ण के इन दोनों स्वरूपों की प्रतिष्ठा में सामंजस्य नहीं ला सके। उनकी दृष्टि कृष्ण के लोक-रंजक स्वरूप पर ही गई, लोक-रक्षक-स्वरूप पर नहीं, यदि सूर चाहते तो दोनों की व्यंजना समरूप में कर सकते थे, पर उन्होंने ऐसा किया नहीं। इसी कारण आचार्य शुक्ल सूर को तुलसी के समकक्ष नहीं बिठाते। उनकी दृष्टि में सूर कुछ निम्न श्रेणी में आते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि सूर में जीवन की विविधता का उतना चित्रण नहीं है, जितना कि तुलसी में। और

आचार्य शुक्ल लोकपक्ष की विविधता के चित्रण के पक्षपाती हैं—काव्य में। सूर के पक्ष में यहाँ यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जितना क्षेत्र अपने काव्य के लिए लिया है, उन्हें उसी क्षेत्र में देखना चाहिए। जितना लोकपक्ष उनके काव्य में आया है, उसका उतना ही ग्रहण वे अलम् समझते थे। जिस रूप में उनका काव्य वर्तमान है, उसे उसी रूप में देखना उचित होगा। लोकपक्ष वा धर्म के सिद्धांत को आरोपित करके उनकी विवेचना अधिक संगत न होगी।

तुलसी और सूर भक्त कवि थे और राम तथा कृष्ण उनके भगवान्। इन लोगों ने इनके लोक-रक्षक तथा लोक-रंजक स्वरूपों का चित्रण किया। आचार्य शुक्ल का कथन है कि भगवान् के इन दोनों स्वरूपों का चित्रण भक्ति की परंपरा में प्राप्त है, उस भक्ति की परंपरा में जो वेद-शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा चलाई गई थी।

**शील, शक्ति, सौंदर्य**

तुलसी और सूर की आलोचनाओं में आचार्य शुक्ल की दृष्टि एक और सिद्धांत पर है, जो संभवतः तुलसी के राम को देखकर स्थापित हुआ है, वह है भगवान् वा पुरुषोत्तम में शील, शक्ति और सौंदर्य की अभिव्यक्ति का सामंजस्य। सगुण भक्त कवियों की आलोचना में आचार्य शुक्ल की दृष्टि भगवान् के इन तीन गुणों की उपासना वा अभिव्यक्ति पर सदैव रही है। वे जिस भक्ति-काव्य में इन गुणों का वर्णन देखते हैं और अनुपाततः देखते हैं, उसे वे अनुपात से ही श्रेष्ठ काव्य और उसके रचयिता को श्रेष्ठ कवि मानते हैं। तुलसी ने अपने राम में इन तीनों की अभिव्यक्ति को चरमावस्था तक पहुँचा दिया है, अतः वे श्रेष्ठ कवि हैं—आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार। सूर के भगवान् कृष्ण में इन तीनों में से केवल एक की ही अत्यधिक व्यंजना दिखाई पड़ती है, केवल सौंदर्य की—शील की भी व्यंजना है पर उतनी नहीं; अतः सूर को तुलसी की अपेक्षा वे निम्न श्रेणी का कवि मानते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन तीनों गुणों द्वारा भगवान् के अंतः तथा बाह्य दोनों सौंदर्यों का परिचय मिलता है। शील मन का गुण वा धर्म है, शक्ति शरीर का, पर अगोचर, और सौंदर्य शरीर का ही, पर गोचर। भगवान् के ये अंतर्बाह्य सौंदर्य वा गुण भक्तों के लिए परमाकर्षण के विषय

होते हैं, ये ही उनकी भक्ति के आधार हैं। भगवान् प्रेम और श्रद्धा के पात्र इन गुणों के कारण ही बनते हैं। आचार्य शुक्ल ने भक्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को दृष्टि में रखकर इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, जो तुलसी के राम में पूर्णतः विद्यमान है। आचार्य शुक्ल के इस सिद्धांत की परिमिति भक्ति-काव्य तक ही समझनी चाहिए, इसमें भी वे काव्य जिनमें भक्ति की पूर्ण व्यंजना है। सभी भक्त कवियों के भगवान् में ये स्वरूप न मिलेंगे।

**सगुण और निर्गुण-मार्गी कवि**

आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं में उनकी दृष्टि सगुणमार्गियों की ओर सदैव सुरुचिपूर्ण है, वे सर्वत्र इनका समर्थन करते हैं। निर्गुणमार्गियों की ओर उनकी रुचि अच्छी नहीं प्रतीत होती। वे सगुणमार्गियों को निर्गुण-मार्गियों की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाते हैं। यहाँ भी आचार्य शुक्ल की दृष्टि लोकपक्ष पर है, क्योंकि सगुणमार्ग सर्वजनसुलभ है। इस शाखा के कवियों में विनय की अधिकता है और उनका मार्ग भी सर्वजनसुलभ, सरस तथा सरल है। निर्गुण पक्षियों की उन्होंने उनकी ज्ञान-दंभता, अभिव्यंजना-शैली में अस्पष्टता तथा रूखेपन, ज्ञान की अधिकता आदि के कारण सर्वत्र कटु आलोचना की है, जो कुछ लोगों को खटकती है। उनके अनुसार यदि आचार्य शुक्ल उन कवियों के समय के आस-पास होते और उनकी आलोचना करते, जिससे उसका उन पर ( निर्गुणमार्गी कवियों पर ) वा जनता पर प्रभाव पड़ता तो यह बात उन्हें फबती, जैसा कि तुलसी ने यत्र-तत्र किया है। निर्गुण साहित्य भी परिस्थितिवश प्रस्तुत हो गया है और जो साहित्य प्रस्तुत हो गया है उसकी आलोचना वा विवेचना आलोचक द्वारा परिस्थिति को दृष्टि में रखकर सहानुभूतिपूर्वक ही होनी चाहिए। सगुण-मत के महत्त्व की स्थापना के लिए कहीं भी निर्गुण-कवियों का प्रसंग आने पर उनकी कटु आलोचना करना उचित प्रतीत नहीं होता। पर, हम पर यह विदित है कि आचार्य शुक्ल के सिद्धांत तुलसी के काव्य वा विचार पर ही मुख्यतः टिके दिखाई पड़ते हैं और तुलसी ने निर्गुणिएँ संत कवियों को खूब फटकारा है, अतः आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा किया, यह अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि आचार्य शुक्ल तुलसी के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हैं। लोक-धर्म के सिद्धांत के मूल में तुलसी के विचार ही निहित समझने चाहिए।

आचार्य शुक्ल ने दो ऐसे कवियों पर—जायसी और सूर पर—आलोचनाएँ लिखी हैं, जो प्रधानतः प्रेम के ही कवि हैं। प्रेम के संबन्ध में भी उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक है ! वे उसी प्रेम को सच्चा मानते हैं जो स्वभाविक है और जिसकी क्षेत्र-सीमा अधिक से अधिक लोगों को अपने अंतर्गत ले सकती है। कहना न होगा कि प्रेम-संबंधी उनके विचार पर भी लोकधर्म के प्रभाव की झलक दिखाई पड़ती है। वे काव्य में संकुचित वा ऐकांतिक प्रेम-वर्णन के पक्षपाती नहीं हैं। जायसी तथा सूर के प्रेम-वर्णन में इसी ऐकांतिकता तथा तुलसी के प्रेम-वर्णन में व्यापकता के कारण ही वे सूर तथा जायसी की अपेक्षा तुलसी के प्रेम-वर्णन को अच्छा समझते हैं। काव्यगत प्रेम-वर्णन के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त सदैव ऐसा ही लक्षित होता है। प्रेम वा शृङ्गार के खुले सम्भोग-पक्ष तथा उसके अतिशयोक्तिपूर्ण वा विरह के ऊहात्मक वर्णन को वे अच्छा नहीं मानते। रीतिकालीन कवियों द्वारा किए गए उपर्युक्त प्रकार के प्रेम-वर्णन का वे कभी समर्थन नहीं करते।

**प्रेम-वर्णन का सिद्धान्त**

आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक आलोचनाओं का विवेचन करते हुए हमने देखा है कि वे चमत्कारवादी नहीं हैं, इसी कारण वे अलंकार को काव्य में प्रधानता नहीं देते। अलंकार की ओर विशेष रुचि न होने के कारण आचार्य शुक्ल चमत्कारवादी केशवदास के प्रति सर्वत्र अरुचि प्रकट करते हैं और जहाँ-जहाँ प्रसंग आता है वे उन्हें हृदयहीन आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। पर वस्तुतः केशवदास उतने अधिक निन्दा के पात्र नहीं हैं, जितना कि आचार्य शुक्ल समझते हैं। केशवदास आलंकारिक सम्प्रदाय (स्कूल) के थे, अतः उन्हें आलंकारिकों की दृष्टि से ही देखना उचित प्रतीत होता है, कम से कम इतनी सहानुभूति तो उनके प्रति होनी ही चाहिए। पर आचार्य शुक्ल अपनी रुचि वा सिद्धान्त के अनुसार केशव को सर्वत्र अत्यन्त निम्न कोटि का कवि ठहराते हैं। केशव के प्रति आचार्य शुक्ल के विचार देखकर हमें अंगरेज समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड का स्मरण हो आता है, जो शैली के विषय में कठोर साहित्यिक धारणा रखता था और इसी कारण जिसे 'शैली के प्रति दृष्टिहीन' ( शैलीज ब्लाइण्ड ) कहा जाता है।

**केशवदास**

**प्रबंध-काव्य की उच्चता**

आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचनाओं के सम्बन्ध में एक बात और यह कहनी है कि उन्होंने प्रबन्ध-काव्य को मुक्तक वा गीति-काव्य की अपेक्षा सर्वत्र उच्चतर माना है। इसी कारण वे प्रबन्धकार कवि को मुक्तककार कवि की अपेक्षा उच्चतर मानते हैं।

व्यावहारिक आलोचनाएँ प्रस्तुत करते समय आचार्य शुक्ल की दृष्टि मुख्यतः इन्हीं सिद्धान्तों वा रुचियों पर लक्षित होती है। उनकी सभी आलोचनाओं में जिसके अन्तर्गत हम उनका 'इतिहास' भी ले सकते हैं, हमें ये ही सिद्धान्त सन्निविष्ट मिलेंगे। यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक आलोचनाएँ वा साहित्य-सम्बन्धी विचार भी उनकी व्यावहारिक आलोचनाओं में प्रेरणा देते हैं। उन्होंने अनेक काव्य-सम्बन्धी विचारों को लेकर ही व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखी हैं। अभिप्राय यह कि व्यावहारिक आलोचना तथा सैद्धान्तिक आलोचना दोनों के सिद्धान्तों से प्रेरित होकर उन्होंने आलोच्य का विवेचन किया है।

**तुलसीदास की आलोचना**

आचार्य शुक्ल की तुलसी, जायसी तथा सूर पर तीन प्रसिद्ध व्यावहारिक आलोचनाएँ हैं, इसी सम्बन्ध में इनके विषय में दो शब्द कह देना अतिप्रसङ्ग न होगा।

'गोस्वामी तुलसीदास' विवेचनात्मक आलोचना है। इसमें आलोचक की दृष्टि कवि की विशेषताओं को उद्घाटित करने के लिए सर्वत्र विवेचना पर रही है। उसने कवि द्वारा मानोविकारों पर अधिकार दिखाने के लिए मनोविकारों का विवेचन, पूर्वापर परिस्थितियों की तुलना करके उसका ( कवि का ) साहित्य में स्थान निर्धारित करने के लिए शुद्ध इतिहास का विवेचन और कवि के काव्य-पक्ष पर विचार करने के लिए यथास्थान काव्य के सैद्धांतिक पक्ष का विवेचन किया है। आचार्य शुक्ल की विवेचनात्मक आलोचना की प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट और सुगम है।

तुलसी की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए आचार्य शुक्ल ने कहीं-कहीं अन्य कवियों के गुण-दोषों का निर्देश तुलसी के प्रायः गुणों के साथ किया है, जिसके द्वारा तुलनात्मक समीक्षा का आभास-सा मिलता है।

'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ के 'वक्तव्य' से स्पष्ट है कि आलोचक की दृष्टि कवि की विशिष्टताओं पर ही है। अतः जहाँ कहीं कवि में कुछ दूषण भी हैं, उनको उसने ( आलोचक ने ) अपनी तर्कशक्ति द्वारा भूषण बना दिया है, पर ऐसे स्थल एकाध ही हैं। जैसे, तुलसी के 'बाह्य दृश्य-चित्रण' पर विचार करते हुए आलोचक ने तुलसी के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण को संस्कृत-कवियों से प्राप्त परंपरा का अनुगमन बतलाकर उसकी प्रशंसा की है। पर जहाँ कवि के प्रकृति-चित्रण में अर्थग्रहण मात्र है, या जहाँ उन्होंने प्रकृति-चित्रण करते हुए भी नीति और उपदेश पर ध्यान रखा है, उसे आलोचक ने हिंदी-कवियों की परंपरा का बाध्य होकर पालन करना बतलाया है। वह उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। तुलसी की विशेषताओं को प्रत्यक्ष करने के लिए अन्य कवियों के मत्थे यह दोष मढ़ना उचित नहीं जँचता। यदि तुलसीदास चाहते तो सर्वत्र संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण प्रस्तुत कर सकते थे, उनमें यह शक्ति भी थी, पर सर्वत्र वे ऐसा नहीं करना चाहते थे। उनकी दृष्टि यत्र-तत्र उपदेश की ओर विशेष थी। फिर, तुलसी ने काव्य के क्षेत्र में पूर्ण संयम का पालन करके खुले शृंगार आदि का चित्रण नहीं किया। यदि वे चाहते तो क्या परंपरा से विमुख होकर इस क्षेत्र में भी शुद्ध रुचि का परिचय नहीं दे सकते थे? इसी प्रकार जहाँ तुलसी में भरती के अलंकार हैं वहाँ यह कहकर उन्हें बचाया गया है कि "उन्होंने अलंकार की भद्दी रुचि रखनेवालों को भी निराश नहीं किया…।"

अंत में हम इस बात का निर्देश करना चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल की व्यावहारिक आलोचना के सिद्धान्तों का संनिवेश तुलसी की आलोचना में प्रधानतः तथा स्पष्टतः हुआ है। इन सिद्धान्तों का उल्लेख हम कर चुके हैं।

समग्ररूपेण अति संक्षेप में हमने तुलसी की आलोचना पर विचार किया है। हमने देखा है कि यह आलोचना विवेचनात्मक है। उपर्युक्त आलोचना की भाँति जायसी की आलोचना भी विवेचनात्मक है, जिसमें जायसी की आलोचना यथावसर शुद्ध इतिहास, साहित्य के इतिहास, काव्य-शास्त्र, दार्शनिक तत्त्व, भाषा आदि का विवेचन प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने के निमित्त किया गया है। आचार्य शुक्ल ने जायसी की आलोचना

में अलंकारों, दार्शनिक तत्वों तथा भाषा पर सुस्पष्ट, गंभीर तथा विस्तृत विवेचन किया है, जिससे इन विषयों में उनकी पूर्ण अभिज्ञता लक्षित होती है।

तुलसी की आलोचना में हमने देखा है कि आचार्य शुक्ल की प्रवृत्ति मनोभावों वा मनोविकारों के विश्लेषण की ओर विशेष रहती है, जो काव्य के मुख्य आधार होते हैं। उनमें मनोविकारों के सरल तथा जटिल दोनों रूपों में प्रवेश की बड़ी तीव्र शक्ति हैं, जिसका दर्शन हम जायसी की आलोचना में भी करते हैं। उदाहरणार्थ जायसी के 'वियोग-पक्ष' तथा 'प्रेम-तत्व' का विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

व्यावहारिक आलोचना के जिस आदर्श पर तुलसी की आलोचना प्रस्तुत की गई है उसी आदर्श पर जायसी की आलोचना भी; अर्थात् जायसी की आलोचना में भी आचार्य शुक्ल की दृष्टि उनके आलोचना के आदर्श काव्य में लोक-पक्ष की अधिक से अधिक नियोजना तथा शक्ति, शील और सौंदर्य पर रही है। लोक-पक्ष की दृष्टि से 'पदमावत' उतनी खरी नहीं उतर पाई है इसका निर्देश आलोचन ने कई स्थलों पर किया है। शक्ति, शील तथा सौंदर्य की चर्चा इस आलोचना में बहुत कम हुई है—एक प्रकार से हुई ही नहीं है इसमें इसकी आवश्यकता भी नहीं थी।

तुलसी की आलोचना में हमें यथास्थान तुलनात्मक समीक्षा भी मिलती है। जायसी की आलोचना में भी स्थान-स्थान पर समान तथा असमान बातों को दृष्टि में रखकर जायसी तथा तुलसी के काव्यों का निर्देश किया गया है। जायसी की आलोचना में आचार्य शुक्ल ने शेली, ब्राउनिंग, वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेजी के कवियों के तथा जायसी के समान भावों को भी एक साथ रखकर उन पर विचार किया है।

आलोचना-विषय के सजाव की दृष्टि से जायसी की आलोचना को देखने से एक विशेष बात लक्षित होती है, जो आचार्य शुक्ल की अन्य दोनों आलोचनाओं में नहीं दिखाई पड़ती। वह है आचार्य शुक्ल द्वारा यथाशक्ति जायसी के आलोचनविषय को संबद्ध रूप में रखना। तुलसी की आलोचना में ऐसा जान पड़ता है कि वह तुलसी पर लिखे गए विभिन्न निबंधों का संग्रह है;

अर्थात् एक निबंध दूसरे निबंध से उतना संबद्ध नहीं है । सूर की आलोचना तो बहुत छोटी है, फिर भी उसमें सम्बन्ध-निर्वाह है । जायसी की आलोचना के विषय यथाशक्ति सभी एक दूसरे से संबद्ध रखे गए हैं, वे जायसी पर लिखे गए विभिन्न लेखों के संग्रह नहीं प्रतीत होते । जायसी की आलोचना के पाठकों पर यह बात स्पष्ट हो गई होगी । तो, जायसी की आलोचना के विषयों का सजाव-क्रम पूर्वापर संबद्ध है, जो तुलसी की आलोचना में नहीं मिलता, यद्यपि वह एक स्वतन्त्र आलोचना है ।

जायसी की आलोचना में आचार्य शुक्ल की दृष्टि अन्य दोनों आलोचनाओं से कहीं अधिक कवि के गुण-दोषों के विवेचन पर रही है । उन्होंने गुणों तथा दोषों दोनों का निर्देश स्पष्ट रूप से बिना किसी संकोच के किया है ।

तुलसी तथा जायसी की आलोचना की भांति 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका के रूप में लिखी गई सूर की आलोचना एक प्रकार से स्वतन्त्र आलोचना के रूप में नहीं है, यही कारण है कि इसमें सूर की आलोचना उतना विस्तार नहीं है जितना कि उपर्युक्त स्वतन्त्र आलोचनओं में ।

सूर की आलोचना में आचार्य शुक्ल की दृष्टि सूर की प्रायः सभी विशेषताओं को थोड़े में बताने पर है, अतः उसमें उन्होंने सूर को पूरे ढंग से ऐतिहासिक, सामाजिक तथा साहित्यिक विवेचन करके नहीं देखा है, जैसा कि तुलसी तथा जायसी की आलोचना में किया गया है । इसका अर्थ यह नहीं है कि यह विवेचनात्मक आलोचना नहीं है, यह भी विवेचनात्मक आलोचना ही है, पर इसमें विवेचना कवि द्वारा वर्णित विषय की ही विशेष है, उसके काव्य को स्पष्ट करने के लिए, उसके महत्व को प्रदर्शित करने के लिए शुद्ध इतिहास तथा साहित्य के इतिहास का विवेचन करके उस पर ( कवि पर ) विचार बहुत ही कम किया गया है । काव्य के सिद्धांत-पक्ष की विवेचना इसमें एकाध ही स्थान पर है । इस प्रकार की विवेचना तुलसी तथा जायसी की आलोचना में विशेष है।

आलोचना का जो प्रतिमान (स्टैंडर्ड) आचार्य शुक्ल ने तुलसी तथा जायसी की आलोचना में स्थापित किया था, यथा, काव्य में लोक-पक्ष की स्थापना,

उसमें जीवन की अनेकरूपता का चित्रण तथा उसमें शक्ति, शील और सौंदर्य की वर्णना उसी के अनुसार उन्होंने सूर की आलोचना भी की है। सूर में इन तीनों तत्वों की कुछ-कुछ न्यूनता पाई जाती है, इनका पूर्ण स्फुरण नहीं मिलता; सूर के काव्य में लोक-पक्ष की कमी है, उसमें समाज तथा परिवार का जो चित्रण है वह व्यापक नहीं है। सूर के काव्य में वात्सल्य तथा शृंगार के चित्रण की ही प्रधानता है, उसमें केवल सौंदर्य का ही वर्णन है।

सूर की आलोचना आचार्य शुक्ल ने दो पक्षों में विभाजित करके की है—हृदय-पक्ष तथा कला-पक्ष। हृदय-पक्ष के अंतर्गत उन्होंने कवि द्वारा वर्णित भावों, विभावों की मार्मिक छान-बीन की है, जिसके द्वारा उनकी भावों के तह तक पहुँचनेवाली पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है। तात्पर्य यह कि हृदय-पक्ष पर विचार करते हुए उन्होंने सूर द्वारा वर्णित संयोग तथा वियोग पक्ष के भावों का विवेचन किया है। कला-पक्ष के अंतर्गत सूर के कवि-कर्म पर विचार किया गया है, जो बहुत ही संक्षिप्त है, पर उनकी विशेषताओं का उद्घाटन उससे अवश्य हो जाता है।

सूर की इसी आलोचना के अंतर्गत एक स्थान पर आचार्य शुक्ल ने सूर तथा तुलसी की प्रमुख-प्रमुख प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखकर अत्यंत संक्षिप्त तुलनात्मक आलोचना की है, जो बड़ी चुस्त और तुलनात्मक आलोचना की आदर्शिका है। अन्य स्थलों पर भी यथावसर तुलना के लिए अन्य कवियों के गुण दोष कहे गए हैं, यथा, केशव, संत कवि तथा जायसी आदि के।

सूर की आलोचना में 'भ्रमरगीत' पर भी एक छोटी-सी आलोचना है, जिसमें सूर द्वारा वर्णित विरहगत मानसिक दशाओं का बड़ा अच्छा स्पष्टीकरण है।

अंत में वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांतों के संक्षिप्त निर्देश के पश्चात् सूर के काव्य में उसकी नियोजना का स्पष्टीकरण है।

सूर की आलोचना में सूर के गुणों और दोषों का भी निर्देश मात्र है, उन पर जमकर आलोचना नहीं की गई है, ऐसा करने का अवसर भी नहीं था। पर जो कुछ है उसी से सूर के विषय में प्रायः सभी बातें अवगत हो जाती हैं।

ाचार्य शुक्ल के ालोचक रूप ी विशेषताएँ

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों ढंग की ालोचनाओं पर विचार किया। इससे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में साहित्य-संबंधी उनकी जो धारणाएँ और मान्यताएँ थीं, उन्हीं के अनुसार उन्होंने आलोच्य साहित्य को देखा और उस पर अपनी संमति प्रकट की। आचार्य शुक्ल की इस क्षेत्र में सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने साहित्य-संबंधी जो सिद्धांत एक वार स्थापित कर लिए थे, उनका पालन आदि से अंत तक ़िया। उन्होंने अपनी साहित्यिक धारणाओं में कभी चंचलता ( फिकिलनेस ) ़हीं आने दी। एक सत्समालोचक की यह सब से बड़ी विशेषता है। यह ़ान दूसरा है कि उसके सिद्धान्त अन्यों की दृष्टि में कैसे हैं। उसने अध्ययन, ़नन और चिंतन से जो कुछ निर्धारित किया है, वह उसे लोगों के संमुख ़ख देता है और उसी को दृष्टि में रखकर जीवन-पर्यंत कार्य करता है। ़ाचार्य शुक्ल में हम यह विशेषता पाते हैं। उन्होंने जो आलोचन दृष्टियाँ ़िश्चित कर ली थीं, उन्हीं के अनुसार सचाई के साथ ( सिंसियर्ली ) वे सदैव ़ाहित्य को देखते रहे। अपने सिद्धांतों का इस सचाई के साथ व्यवहार, ़नके पालन में आदि से अंत तक यह तत्परता हमें कम ही आलोचकों में ़िलेगी। एक अलोचक ने मैथ्यू ऑर्नल्ड के लिए यह कहा है कि उन्होंने ़ाहित्य-सिद्धांत निर्धारित तो किए, पर यह बात दूसरी है कि वे उनका पालन ़दैव या सर्वत्र नहीं कर सके *। किन्तु आचार्य शुक्ल के लिए कोई ऐसा नहीं कह सकता। उन्होंने जिन साहित्य-सिद्धांतों की निर्धारणा की उनका पालन सदैव और सर्वत्र किया।

आलोचना की दृष्टि से आचार्य शुक्ल में हमें एक और विशेषता लक्षित होती है, जो सामान्यतया सभी आलोचकों में नहीं मिलती। वह यह कि उन्होंने साहित्य-सिद्धांत भी निर्धारित किए और व्यावहारिक आलोचनाएँ भी प्रस्तुत की। देखा यह जाता है कि कुछ आलोचक अपनी शिक्षा-दीक्षा, अध्ययन,

---

* He (Mathew Arnold) laid down principles, if he did not always keep the principles he laid down.—Herbert Paul.

चिन्तन आदि द्वारा सिद्धांत तो निर्धारित कर देते हैं, पर व्यावहारिक आलोचनाएँ नहीं प्रस्तुत कर पाते। कुछ आलोचकों में इसके विपरीत शक्ति का दर्शन मिलता है। इसके दो कारण हो सकते हैं, या तो दोनों प्रकार की आलोचनाओं को प्रस्तुत करने के लिए उन्हें समय न मिलता हो अथवा उनमें किसी एक को प्रस्तुत करने की शक्ति न हो। प्रायः दूसरी विशेषता न रहने के कारण ही आलोचकों का पूर्ण स्वरूप नहीं लक्षित होता। पर आचार्य शुक्ल में हमें दोनों शक्तियों की अवतारणा मिलती है। वे सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के आलोचक थे। सिद्धांत-निर्धारण की शक्ति के कारण वे पर-प्रत्यय आलोचक नहीं हो पाए हैं, वे अपर वा आत्म-प्रत्यय आलोचक ही हैं। जो लोग उन्हें पर-प्रत्यय आलोचक मानते हैं, वह उनका कोरा भ्रम है।

अब हमें आचार्य शुक्ल की आलोचन-शैली देखनी है। यह हम पर विदित है कि आचार्य शुक्ल विश्लेषणात्मक आलोचन-प्रणाली के पक्षपाती हैं और उनकी व्यावहारिक आलोचनाएँ भी विश्लेषणात्मक

आलोचना-शैली—हैं। अतः उनकी आलोचन-पद्धति वा शैली भी विश्लेषण-बुद्धि और हृदय का पूर्ण ही होगी। विश्लेषण के लिए जिस सुलझी विद्या-बुद्धि

'समन्वय

की अपेक्षा होती है आचार्य शुक्ल में वह विद्यमान थी।

हम 'उपक्रम' में ही इसका निर्देश कर चुके हैं कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि सदैव बुद्धिवादिनी रही है अर्थात् उनमें बुद्धि-पक्ष की प्रधानता थी, जो समर्थ समालोचक के लिए पूर्णतया अपेक्षित होती है। पर, कोरी बुद्धि का उपयोग तो नीरस तर्क की ही सर्जना कर सकता है, उसके द्वारा तो सरसता का संनिवेश साहित्य में नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में हृदय की भी आवश्यकता पड़ती है। बिना हृदय के सरसता की आशा व्यर्थ ही समझनी चाहिए। और आचार्य शुक्ल का क्षेत्र साहित्य का था, जिसके राज्य का सम्राट् हृदय होता है। 'उपक्रम' में हम इसका भी निर्देश कर चुके हैं कि आचार्य शुक्ल में बुद्धि-पक्ष की स्थिति के साथ ही हृदय-पक्ष भी वर्तमान था। अभिप्राय यह कि समालोचना वा व्याख्या में—जो 'बुद्धिबलपेक्षा' होती है—बुद्धि की आवश्यकता तो पड़ती ही है; उसमें हृदय का भी तिरस्कार

नहीं किया जा सकता—समालोच्य साहित्य के रचयिता के हृदय तक पहुँचकर विवेचन को सरस बनाने के लिए। तो, आचार्य शुक्ल में बुद्धि तथा हृदय दोनों का समन्वित रूप वर्तमान था। इसी कारण उनकी आलोचन-शैली कहीं भी रूखी या लकड़ चीरती हुई-सी नहीं प्रतीत होती। उन्होंने समालोच्य की विवेचना में बुद्धि का उपयोग तो किया, पर हृदय को भी उसके (बुद्धि के) साथ ही रखा। यह बात उनकी सभी आलोचनाओं में मिलेगी। इसी कारण उनकी आलोचन-शैली में सरसता मिलती है।

आलोचना का प्रमुख लक्ष्य है विवेच्य साहित्य की विशेषताओं का उद्घाटन। इसके लिए विवेचना की स्पष्टता अपेक्षित है। आचार्य शुक्ल इस स्पष्टता की अवतारणा के लिए अनेक शैलियों का आश्रय ग्रहण करते हैं। वे विवेच्य विषय को स्पष्ट करने के लिए यदि उसका (विषय का) विभाजन हो सकता है तो ऐसा करके उसके एक-एक विभाग को लेकर सुस्पष्ट विवेचन कर डालते हैं, जिसमें किसी भी प्रकार का उलझाव नहीं रह जाता। जैसे, सूर के कवि-कर्मविधान का विश्लेषण करने के लिए आचार्य शुक्ल ने उसके दो पक्ष—विभाव तथा भाव-पक्ष—करके और इनमें से एक एक को लेकर क्रमशः विवेचन किया है। ऐसे ही स्थलों पर वे प्रायः 'सारांश यह कि', 'तात्पर्य यह कि' का प्रयोग करते हैं।

**विवेचन की स्पष्टता**

विवेचन या सिद्धांत की स्पष्टता प्रस्तुत करने के लिए वे अन्य शैलियों का भी आश्रय लेते हैं। इस स्थिति में यह शैली सुविधाजनक होती है कि पहले विवेच्य विषय पर सामान्य या साधारण बातों का निर्देश कर लिया जाय तब विशिष्ट बातों पर विचार किया जाय। आचार्य शुक्ल की आलोचना-शैली में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। वे आलोच्य के विषय में सामान्य बातें कह लेते हैं, तब विशिष्ट पर विचार करते हैं। 'पदमावत की प्रेम-पद्धति' पर विचार करते हुए उन्होंने पहले भारतीय प्रेम-पद्धतियों का उल्लेख किया, पुनः उनकी तुलना फारसी की मसनवियों की प्रेम-पद्धति से की—यह सब 'पदमावत' को दृष्टि में रखकर हुआ है। इसके पश्चात् 'पदमावत' में वर्णित रत्नसेन, पद्मावती तथा नागमती के प्रेम का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार सूरदास की आलो-

चना में उन्होंने पहले सूर के विषय में 'सामान्य' बातें कह ली हैं, तब उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियों पर विचार किया है। इस शैली द्वारा होता यह है कि आलोच्य वा विवेच्य के विषय में प्रमुख तथा सामान्य बातें ज्ञात हो जाती है, तब उसकी अन्य गौण तथा विशेष बातों के समझने में सुविधा होती है।

आलोचना में स्पष्टता के संधान के लिए ही आचार्य शुक्ल विषय की दुरूहता का स्पष्टीकरण यत्र-तत्र स्वयं संभाव्य प्रश्नों की अवतारणा कर उनके उत्तर के द्वारा कर देते हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल देखिए—"फिर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ का काव्य में प्रयोजन क्या है? वाच्यार्थ के बाधित, व्याहत या अनुपपन्न होने पर लक्षणा और व्यंजना के सहारे योग्य और बुद्धिग्राह्य अर्थ प्राप्त करने का प्रयास क्यों किया जाता है?" इस प्रश्नों का उत्तर वे आगे देते हैं—"इसका अभिप्राय यही है कि···"।—(इंदौरवाला भाषण, पृ० १४)।

आलोचक के कर्तव्य की इति आलोच्य कवि वा काव्य में वर्णित बातों के 'कु-सु' पर विचार कर लेने में ही नहीं है। आलोच्य के 'कु-सु' का निर्देश तो बड़ी हल्की आलोचना है। आलोचक को स्वयं काव्य-शास्त्र तथा आलोच्य में वर्णित काव्य के सम्बन्ध से आए अन्य शास्त्रों की विवेचना करके उसकी (आलोच्य की) विशेषताओं की विवृति करनी पड़ती है आचार्य शुक्ल की आलोचना-शैली ऐसी है, वे इस शैली को ग्रहण करके आलोच्य की पूर्ण विवेचना प्रस्तुत करते हैं। अपनी आलोचनाओं में आचार्य शुक्ल काव्य-सिद्धान्त वा शास्त्र पर यथावसर सर्वत्र विचार करते गए हैं। जायसी और तुलसी की आलोचना करते हुए उन्होंने अलंकारों का जो विवेचन किया है उसे काव्य-शास्त्र के विवेचन के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इस विवेचन के अवलोकन से विदित होता है कि अलंकार के विषय में उनका ज्ञान बड़ा विस्तृत, गम्भीर तथा सुस्पष्ट था। आचार्य शुक्ल में तथ्य के ग्रहण की बड़ी पैनी दृष्टि थी जो चिया बुद्धि से ही विशेषतः सम्बद्ध है। इस पैनी दृष्टि के कारण ही वे प्राचीन आचार्यों द्वारा अविवेचित विषयों पर भी स्वतन्त्र रूप से विचार करते हुए पाए जाते हैं। जैसे, उन्होंने तुलसी के काव्य में 'उदासीनता' भाव तथा आश्चर्य के संचारी 'चकपकाहट' का निर्देश कर उसकी पूरी विवेचना की है।

काव्य-शास्त्र का विवेचन

भिप्राय यह कि उन्हें तथ्यग्राहिणी पैनी दृष्टि प्राप्त थी, जिसके सहारे उन्होंने
नि-नवीन शास्त्रीय तत्वों का उद्घाटन किया, जो उनकी विद्वत्ता का
द्योतक है। इस प्रकार की विवेचना द्वारा उनकी आलोचन-शैली में बड़ी
गंभीरता आ गई है। आचार्य शुक्ल तो गंभीर व्यक्ति थे ही। उन्होंने इसी शक्ति
के बल पर प्राचीन तथा नवीन और देशी तथा विदेशी बड़े-बड़े आचार्यों के
साहित्य वा काव्य-संबंधी सिद्धांतों की आलोचना की है। इसका प्रमाण 'काव्य
में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद'
तथा अन्य निबंधों में मिल सकता है। इनको देखने से आचार्य शुक्ल की
तथ्य-ग्रहण की निर्मल दृष्टि तथा विवेचन की तीक्ष्ण बुद्धि का पता चलता है।

यह तो काव्य-शास्त्र की विवेचना की बात हुई। उन्होंने काव्य के संबंध
में आए अन्य शास्त्रों की भी विवेचना अपनी आलोचनाओं में की है। जैसे,

**अन्य शास्त्रों का विवेचन**

उनकी आलोचनाओं में यथावसर यत्र-तत्र काव्य को स्पष्ट करने के लिये दार्शनिक तत्वों का विवेचन आया है, जिसमें उलझाव का नाममात्र नहीं है, 'उसका बड़ा स्पष्ट विवेचन है। तनिक भी ध्यान से अवलोकन करने पर,
गंभीर विषय होने पर भी, वे सरलतापूर्वक बोधगम्य हो जाते हैं। इसके द्वारा
आचार्य शुक्ल का दर्शन-ज्ञान भी स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है। उदा-
हरणार्थ जायसी की आलोचना में 'मत और सिद्धांत' के अंतर्गत किया हुआ
दार्शनिक विवेचन देखा जा सकता है, जिसमें आलोचक ने सूफियों के
दार्शनिक तत्वों तथा उन्हीं से संबद्ध ईसाई, मूसाई तथा यूनानी दार्शनिक तत्वों
का सूक्ष्म, पर स्पष्ट विवेचन किया है; और साथ ही इन सब मतों वा तत्वों के
संमुख भारतीय दार्शनिक तत्वों को भी रखा है। इस प्रकार यह दार्शनिक
विवेचन तुलनात्मक हो गया है, जिसका प्रस्तुत करना आचार्य शुक्ल ऐसे
स्पष्ट द्रष्टा और अध्ययनशील व्यक्ति का ही काम था।

आचार्य शुक्ल की इस प्रकार की आलोचन-शैली को देखने से विदित
होता है कि आलोचनाओं में उनकी दृष्टि आलोच्य के व्यावहारिक वा साधारण
पक्ष ( एक्स्टेंसिव एलिमेंट ) पर तो है ही, आलोच्य में आये विषयों की गंभीर
विवेचना ( इंटेंसिव एलिमेंट ) पर भी उनका ध्यान है। उन्होंने आलोचनाओं

में व्यवहारि पक्ष (एक्स्टेंसिव एलिमेंट) तथा विवेचनात्मक पक्ष (इंटेंसिव एलिमेंट) दोनों का समन्वय किया है।

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की आलोचन-शैली के अंतर्गत आए शास्त्र-विवेचन पर विचार किया है। शास्त्र-विवेचन तथा अन्य विषयों के विवेचन में भी आचार्य शुक्ल की पद्धति ऐसी दिखाई पड़ती है कि

**शास्त्र-विवेचन की पद्धति**

वे पहले सूत्र रूप में कुछ कह जाते हैं उसके पश्चात् उसकी व्याख्या करते हैं। निबंधों में तो उनकी यह शैली स्पष्टतः लक्षित होती है। जहाँ व्याख्या विस्तृत हो जाती है, और वे समझते हैं कि पाठक को इसे स्पष्ट रूप में ग्रहण करने में कठिनाई उपस्थित हो सकती है, वहाँ व्याख्या के अंत में 'सारांश यह कि', 'तात्पर्य यह कि' आदि कहकर विषय को पुनः सूत्र रूप में कह देते हैं। जब विषय गहन और विस्तृत होता है तब भी वे उसकी पूरी व्याख्या वा समीक्षा करके पश्चात् अंत में सूत्र रूप में उसका निर्देश उपर्युक्त पद्धति पर ही करते हैं। पाठकों के सम्यक् बोध तथा सुविधा के लिये तो यह है ही, तार्किकों की संस्कृत में मिलनेवाली यह देशी पद्धति भी है। यथा 'गोस्वामी तुलसीदास' में 'लोकधर्म' शीर्षक लंबे निबंध के अंत में उसका सारांश दे दिया गया है।

आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं को देखने से विदित होता है कि उनमें उनकी दृष्टि आलोच्य के गुण-दोषों पर सम रूप से गई है। वे न आलोच्य रचनाकार की प्रशंसामात्र करना चाहते हैं और न निंदामात्र। कवि की विशेषताओं का उन्होंने उद्घाटन तो किया ही है,

**गुण और दोष पर समान दृष्टि**

उसके द्वारा लिखी गई खटकनेवाली बातों को भी उन्होंने निःसंकोच संमुख रखा है। जैसे, सूर तथा तुलसी के दोषों पर भी उनकी दृष्टि गई है। दोष-निर्देश के संबंध में आचार्य शुक्ल की यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे दोषों का निर्देश करने के पश्चात् यदि कवि में दोष आ जाने का केवल कवि ही कारण नहीं होता, साहित्यिक परंपरा वा अन्य बातें कारण-स्वरूप होती हैं, तो वे उसमें दोष के आ जाने के कारण का भी उल्लेख करते हैं। आचार्य शुक्ल में इस प्रकार की आलोचन-पद्धति सर्वत्र मिलेगी।

आचार्य शुक्ल किसी रचनाकार द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण कार्य के उद्घाटन

**ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति**

के लिए, उसके गुण-दोष-विवेचन के लिए और साहित्य में उसके स्थान की निर्धारणा के लिए उसकी ऐतिहासिक परिस्थिति को स्पष्ट रूप से चित्रित करते हैं। इस ऐतिहासिक परिस्थिति के अन्तर्गत वे शुद्ध इतिहास, साहित्य के इतिहास, तत्कालीन समाज, धर्म आदि का स्पष्टीकरण करते हैं। जैसे, 'तुलसी की भक्ति-पद्धति' पर विचार करते हुए उन्होंने वीरगाथा-काल के पश्चात् की भारतीय परिस्थिति का—इतिहास, साहित्य, धर्म—समाज आदि की दृष्टि से—दिग्दर्शन किया है। जायसी की आलोचना में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। आलोचन के इसी प्रकार को ऐतिहासिक आलोचना ( हिस्टोरिकल क्रिटिसिज्म ) कहते हैं। इस प्रकार की आलोचन-पद्धति द्वारा, रचनाकार द्वारा, साहित्य में किए गए कार्य की स्पष्ट झलक मिल जाती है।

साहित्य की किसी धारा को स्पष्ट करने के लिए उसके तत्वों पर विचार भी वे ऐतिहासिक दृष्टि से ही करते हैं। यथा, उन्होंने भक्ति-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, सन्तों तथा सूफियों के रहस्यवाद का स्वरूप-निर्धारण उनके सम्प्रदाय के इतिहास को दृष्टि में रखकर किया। उन्होंने इनकी परिभाषा नहीं दी है प्रत्युत इनका इतिहास दिया है, जिससे इनका स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है और इनके इतिहास का परिचय भी मिल जाता है।

**मनोभावों का आधार**

साहित्य के मूल में निहित मनोभाव वा मनोविकार के आधार पर आचार्य शुक्ल की आलोचनाएँ विशेष रूप से स्थित है। मनोभावों के विवेचन की ओर उनकी रुचि से सभी लोग परिचित हैं, भावों पर लिखे मनोविज्ञान-मिश्रित उनके साहित्यिक निबन्ध इसके उदाहरण हैं। हिन्दी-साहित्य में मनोविकारों के विवेचन की ओर जितनी प्रवृत्ति इनकी पाई जाती है उतनी और किसी साहित्यकार की नहीं। आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं में पुरुषोत्तम वा ईश्वर में सौंदर्य, शक्ति, शील की नियोजना का सिद्धांत मनोविकारों के आलंबन पर ही स्थित है, जो पूर्ण रूपेण उपयुक्त प्रतीत होता है। जायसी की आलोचना में भी उनकी दृष्टि प्रेम, क्रोध आदि मनोविकारों के विश्लेषण की ओर गई है। काव्य-सिद्धान्त तथा काव्य-प्रक्रिया को स्थिर करने के लिए भी वे मनोविकारों का विवेचन वा मनो-

वैज्ञानिक विवेचन करते हैं। 'कविता क्या है ?', 'काव्य में रहस्यवाद' आदि प्रबंधों में यह बात देखी जा सकती है। उनकी आलोचनाओं में मनोविकारों के विवेचन को देखने से विदित होता है कि मानव तथा मानवेतर प्राणियों के स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के मनोविकारों की स्थिति तथा उनके विकास को अवगत करने और उनका विवेचन करने की बड़ी पैनी दृष्टि आचार्य शुक्ल में थी। मानवेतर प्राणियों के मनोविकार भी उनकी आँख से नहीं बच सके हैं। इसका एक उदाहरण देखिए—"द्रुम चढ़ि काहे न टेरत कान्हा, गैयाँ दूरि गई। धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दई। 'जे वृषभान दई' कहकर सुर ने पशु-प्रकृति का अच्छा परिचय दिया है। नए खूँटे पर आई हुई गाएँ बहुत दिनों तक चंचल रहती हैं और भागने का उद्योग करती हैं। इसी से वृषभानु की दी हुई गाएँ चरते समय भी भाग खड़ी होती हैं और दूसरी गाएँ भी स्वभावानुसार उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं।"

**कवि की प्रकृति आदि की खोज**

किसी कवि की जीवनी के अभाव में आलोचक उसकी कृतियों द्वारा ही उस की मनोवृति, स्वभाव, प्रकृति आदि की झलक प्राप्त कर लेता है। पर ऐसा करने के लिए सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता होती है। आचार्य शुक्ल में यह दृष्टि थी और इसका उद्योग अपनी आलोचनाओं में उन्होंने यथार्थ रूप में किया है। कवि की प्रकृति आदि की खोज के पश्चात् उसकी आलोचना में सरलता होती है, इसी कारण इस शैली का अवलंब ग्रहण किया जाता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल ने कवि के शील, स्वभाव आदि को जानने के लिए ही उसकी रचना का सहारा लिया है, उसकी शारीरिक बनावट आदि जानने के लिए नहीं।

**हृदय तथा कला-पक्ष दोनों पर दृष्टि**

आचार्य शुक्ल की आलोचना-शैली को देखने से विदित होता है कि उनकी दृष्टि रचनाकार के हृदय-पक्ष तथा कला पक्ष दोनों पर रहती है। वे किसी रचनाकार को सामाजिक, राजनीतिक या ऐतिहासिक विवेचना के पश्चात् देखते हैं; उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों का निर्देश करते हैं, उसके हृदय-पक्ष की आलोचना करते हैं, और इन सबको करने के साथ ही वे उसके कला-पक्ष की भी

विवेचना करते हैं। इस प्रकार उनकी आलोचना कहीं भी एकांगिनी नहीं हो पाई है। आधुनिक आलोचकों की प्रवृत्ति अधिकतर यह पाई जाती है कि वे साहित्यकार की प्रवृत्तियों की ही—उसके हृदय-पक्ष की ही—विवेचना अधिक करते हैं, और कला-पक्ष की कम। पर आचार्य शुक्ल में ऐसी प्रवृत्ति नहीं प्राप्त होती है, जिसके कारण उन की आलोचनाएँ पूर्ण प्रतीत होती हैं।

ऊपर हम विवेच्य विषय की स्पष्टता के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा गृहीत कई प्रकार की आलोचन-शैलियों को देख चुके हैं। तुलनात्मक शैली का ग्रहण भी इस स्पष्टता के लिए ही समझना चाहिए। उच्च, सम वा निम्न वस्तु अथवा व्यक्ति की तुलना वा उसका भेद किसी वस्तु वा व्यक्ति से कर देने से उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने बराबर ऐसा किया है। जैसे, 'पदमावत' की 'प्रेम-पद्धति' को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने मसनवियों में वर्णित प्रेम-पद्धति का निर्देश किया है, जो 'ऐकांतिक' लोकबाह्य और आदर्शात्मक (Idealistic) होता है।' तुलना को लेकर आचार्य; शुक्ल के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि वे तुलना के लिए अपनी आलोचनाओं में—सूर और जायसी की—प्रायः तुलसी को संमुख रखते हैं और तब दूसरे कवि पर (सूर वा जायसी पर) अपनी संमति प्रकट करते हैं। जैसे, सूर के काव्य में लोकपक्ष की कमी, जीवन की अनेकरूपता की कमी तथा जीवन की गम्भीर समस्याओं से तटस्थता का उल्लेख वे तुलसी में इन तत्वों की स्थिति का ध्यान दिलाकर करते हैं।

**तुलना**

आचार्य शुक्ल की प्रकृति तथा उनके साहित्य की गंभीरता किसी पर अप्रकट नहीं है, साथ ही उनके हास्य-व्यंग्य तथा विनोद की प्रकृति से भी कोई अपरिचित नहीं है, जिसका पुट उनकी रचनाओं में प्राप्त है। उनकी गम्भीर आलोचनाओं में भी हास्य और व्यंग्य की शिष्ट झलक मिलती है। आचार्य शुक्ल हास्य-व्यंग्य-विनोद की नियोजना अपनी आलोचनाओं में बड़े ही उपयुक्त स्थलों पर करते हैं। देखा यह जाता है कि प्रायः गम्भीर विवेचन के पश्चात् ही वे इसके एकाध छींटे मार देते हैं, जिससे पाठकों का बुद्धि-श्रम दूर हो जाय और वे पुनः

**हास्य, व्यंग्य तथा विनोद**

गम्भीर विवेचन के अध्ययन में लगने योग्य हो जायँ। नीचे के उदाहरण में देखें कि किस प्रकार वे प्रेम के गम्भीर विवेचन के पश्चात् व्यंग्य का एक छींटा मारते हैं—फारसी कवियों के प्रेम वर्णन पर—"सुनि कै धनि जारी अस कया। तन भा मयन, हिये भइ मया॥ यही 'माया' या सहानुभूति प्रेम की पवित्र जननी हो जाती है। सहसा साक्षात्कार द्वारा प्रेम के युगपत् आविर्भाव में उक्त पूर्वापर क्रम नहीं होता इसलिए उसमें प्रेमी और प्रिय का भेद नहीं होता। उसमें दोनों एक दूसरे के प्रेमी और एक दूसरे के प्रिय साथ-साथ होते हैं। उसमें यार की संगदिली या बेवफ़ाई की शिकायत—निष्ठुरता के उपालंभ—की जगह पहले तो नहीं होती, आगे चलकर हो जाय तो हो जाय।" ध्यान देने की बात यह है कि हास्य-व्यंग्य-विनोद की उत्पत्ति के लिए वे उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग करते हैं।

आचार्य शुक्ल की आलोचन-शैली में कुछ स्थल ऐसे प्राप्त हैं, जहाँ वे हास्य-व्यंग्य-विनोद के निमित्त किसी कवि की बातों को अपनी वाणी में प्रस्तुत करते हैं, जो बातें बड़ी प्रसिद्ध होती हैं; और जिन्हें पढ़ते ही ज्ञात हो जाता है कि ये बातें अमुक कवि ने कही हैं, और आलोचक उन्हीं पर व्यंग्य करके उन्हें अपने शब्दों में उद्धृत कर रहा है। विहारी की विरहिणी नायिकाओं का अपने शब्दों में वर्णन इस प्रकार की शैली का उदाहरण है। निम्नलिखित प्रसंग में पद्माकर द्वारा वर्णित शरद की सुखदायक सामग्रियों की सूची का उल्लेख भी इसी शैली का उदाहरण है—"दूरारूढ़ प्रेम में प्रिय के साक्षात्कार के अतिरिक्त और कोई ( सुख आदि की ) कामना नहीं होती। ऐसा प्रेम प्रिय को छोड़ किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं होता। न उसे सुराही चाहिए, न प्याला; न गुलगुली गिलमें, गलीचा।" आचार्य शुक्ल द्वारा इस शैली के प्रयोग में किसी कवि का संदर्भ छिपा रहता है, अतः इसे संदर्भात्मक शैली कहा जा सकता है। इसी शैली के अंतर्गत हम आचार्य शुक्ल की वह शैली भी ले सकते हैं, जिसमें वे किसी की बातों का उल्लेख नहीं करते, प्रत्युत किसी के विचारों का निर्देशमात्र करके 'कुछ लोगों' या ऐसे लोगों आदि पदों का उल्लेख कर देते हैं। निम्नलिखित उदाहरण में 'ऐसे लोगों' का प्रयोग मिश्रबंधुओं के लिए करके उन पर व्यंग्य कसा गया है—"आश्चर्य ऐसे लोगों पर होता है जो 'देव'

कवि के 'छल' नामक एक और संचारी ढूँढ़ निकालने पर वाह वाह का पुल बाँधते हैं और देव को एक आचार्य मानते हैं।'

आचार्य शुक्ल की आलोचन-पद्धति में यह बात लक्षित होती है कि वे उस विषय या कवि पर सम्यक् विवेचन वा अपनी संमति का प्रकाश यथास्थान अवश्य करते हैं जिस विषय वा कवि पर साहित्य-क्षेत्र में कुछ भ्रम फैला रहता है वा विवाद चलता रहता है। तुलसी को कुछ लोग रहस्यवादी कवि मानते हैं, इस पर आचार्य शुक्ल कहते हैं—"तुलसी पूर्ण रूप में इसी भारतीय भक्तिमार्ग के अनुयायी थे अतः उनकी रचना को रहस्यवाद कहना हिन्दुस्तान को अरब या विलायत कहना है।"

विवाद पर संमति-प्रकाश

आलोचना और निबंध दोनों में वे संसार के प्रचलित प्रधान विषम विचारों की टीका भी करते चलते हैं। निबंध में इसे वैयक्तिक रुचि ( पर्सनल टच ) कहेंगे और आलोचना में भी इसके लिये यही बात कही जा सकती है। साम्यवाद की विषमताओं पर वे अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं—"अल्पशक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति तुष्ट करनेवाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है। परिस्थिति-विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो, उसे हमारे यहाँ के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं।" रूस पर ही वे एक टिप्पणी और कसते हैं—"उनका ( गोस्वामी जी का ) लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकांड-तांडव रूस में हो रहा है।"

विषम विचारों की टीका

आलोचना की एक यह शैली भी है कि किसी काव्य के कुछ अंशों को प्रसंगानुकूल उद्धृत करके उसके गुण-दोषों पर विचार उसकी व्याख्या करके करना। प्रायः गुण वा विशेषता दिखलाने के लिये ही ऐसी पद्धति की परिपाटी चल पड़ी है। आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा किया है। 'फिर फिर भूँजेसि तजिउँ न बारू' की रसात्मक विवेचना इस प्रकार की शैली के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।

कभी-कभी आलोच्य काव्य के कुछ अंशों को न लेकर उसके एक-एक शब्द वा एक ही शब्द को लेकर उसकी विशेषता का उद्घाटन करके कवि की कुशलता प्रदर्शित की जाती है। इसके द्वारा आलोचक की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय भी मिलता है। आचार्य शुक्ल ने आलोचना की इस शैली का भी आश्रय लिया है। जायसी की आलोचना में 'संदेसड़ा', 'मया' आदि शब्दों को लेकर उन्होंने जो विवेचना की है वह इसी शैली का उदाहरण है। इससे जायसी द्वारा इन शब्दों के प्रयोग की उपयुक्तता तथा उनकी काव्य-कुशलता का परिचय तो मिलता ही है, आचार्य शुक्ल की पैनी दृष्टि का भी पता चलता है।

जब से छायावादी कवियों की आलोचना होने लगी है तब से उनकी कुछ आलोचनाओं में प्रायः देखा यह जाता है कि उनमें आलोचक उनकी कविताओं में वर्णित भावों वा विचारों के समर्थन के लिए उनकी आलोच्य में वर्णित आलोच्य पंक्तियों में वर्णित भावों व वारों का अपनी भावों विचारों की भाषा में विवेचन करके तब उन्हें (आलोच्य पंक्तियों को) आलोचना के बाद उद्धृत करते हैं। इस प्रकार की आलोचन-शैली में आलोच्य

उद्धरण

कवि के भावों वा विचारों को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति ही निहित रहती है। यह बात दूसरी है कि इस शैली का दुरुपयोग कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। यह ढंग भी अपने छोटे रूप में पहले से ही मिलता है, जिसका उपयोग या दुरुपयोग इधर अधिक होने लगा है। आलोचना की यह शैली (जिसका दुरुपयोग नहीं किया गया है) आचार्य शुक्ल में भी मिलती है, जिसका उदाहरण 'शेष स्मृतियाँ' की 'प्रवेशिका' में देखा जा सकता है। इसमें आचार्य शुक्ल ने आलोच्य गद्यखंडों में वर्णित भावों वा विचारों के समर्थन के लिए उनमें वर्णित भावों वा विचारों की विवेचना अपने शब्दों में करके तब उन्हें उद्धृत किया है।

छायावाद युग में आलोचना की एक बड़ी मधुर शैली का प्रसार हुआ, जो अपने छोटे रूप में पहले भी दिखाई पड़ती थी, जिसमें कवि के ही कुछ शब्दों वा वाक्यखंडों को लेकर आलोचक अपने कुछ शब्द (संयोजक शब्द आदि) मिलाकर वाक्य प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा प्रायः कवि की बातों का ही समर्थन होता है।

एक मधुर पद्धति

इस शैली को हम आलोचना की काव्यात्मक शैली ( पोयटिक स्टाइल ) कह सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने भी यत्र-तत्र आलोचना की इस शैली का प्रयोग किया है।। उदाहरणार्थ यह अंश देखें—"प्रेम का क्षीर-समुद्र अपार और अगाध है। जो इस क्षीर-समुद्र को पार करते हैं वे उसकी शुभ्रता के प्रभाव से 'जीव' सज्ञा को त्याग शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं—'जो एहि खीर-समुद महँ परे। जीव गँवाइ, हंस होइ तरे। फिर तो वे 'बहुरि न आइ मिलहिं एहि छारा।' " इस शैली में कुछ-कुछ भावात्मकता का समावेश लक्षित होता है।

यह हम पर विदित है कि आचार्य शुक्ल विवेचनात्मक आलोचना के पक्षपाती हैं।-इस प्रकार की आलोचना प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने यत्र-तत्र ( गद्य की ) भावात्मक शैली का भी उपयोग किया है, जिसके द्वारा उसमें प्रवाह तथा ओज के दर्शन मिलते हैं। इस प्रकार की शैली 'शेष स्मृतियाँ' की 'प्रवेशिका' में विशेषतः दृष्टिगत होती है। जैसे यह गद्य-खंड—"उत्तरोत्तर सुख की इच्छा यदि मनुष्य के हृदय में घर न किए हो तो शायद उसे दुःख के इतने अधिक और इतने कड़े धक्के न सहने पड़ें! जिसे संसार अत्यन्त समृद्धिशाली, अत्यन्त सुखी समझता है उसके हृदय पर कितनी चोटें पड़ी हैं कोई जानता है? बाहर से देखनेवालों को अकबर के जीवन में शान्ति और सफलता ही दिखाई पड़ती है। पर हमारे भावुक लेखक की दृष्टि जब फ़तेहपुर सिकरी के लाल-लाल पत्थरों के भीतर घुसी तब वहाँ अकबर के हृदय के टुकड़े मिले।" कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल की भावात्मक शैली में भी एक प्रकार का गांभीर्य है, वह फालतू योजना नहीं प्रतीत होती।

भावात्मक पद्धति

आचार्य शुक्ल ने तुलसी तथा जायसी की आलोचना मे क्रमशः 'शील-निरूपण और चरित्र', तथा 'स्वभाव-चित्रण' का विवेचन किया है, जो पाश्चात्य-आलोचन-शैली का प्रभाव-स्वरूप प्रतीत होता है। क्योंकि चरित्र-चित्रण ( कैरेक्टराइजेशन ) की विशेष प्रवृत्ति उधर से ही आई है, जिसका आजकल साहित्य-क्षेत्र में बड़ा बोलबाला है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि

पाश्चात्य-आलोचना-पद्धति

आचार्य शुक्ल द्वारा जो चरित्र-निरूपण उनकी आलोचनाओं में है उसका प्रतिमान ( स्टैंडर्ड ) भारतीय ही है, पाश्चात्य नहीं।

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की आलोचना-शैली की विवेचना की है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अनेक शैलियों का ग्रहण आलोच्य विषय वा रचनाकार की स्पष्टता को दृष्टि में रखकर ही किया है, जो आलोचक का प्रधान कर्तव्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि उन्होंने आलोच्य की स्पष्टता के लिए काव्य, इतिहास, मनोविकार आदि का विवेचन भी प्रस्तुत किया है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि आलोच्य के सभी पक्षों—भाव तथा कला—की विशेषताओं के उद्घाटन की ओर उनकी दृष्टि सदैव रही है, उन्होंने अपनी आलोचना को एकांगिनी नहीं बनने दिया है।

## रस-सिद्धांत

**रस-मीमांसा**

साहित्य के सभी अंगों के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं, उनके समुचित व्यवहार तथा उनकी प्रतिपादन-पद्धति का विवेचन हम देख चुके। इसके द्वारा आचार्य शुक्ल की महत्ता तथा उनके साहित्यिक व्यक्तित्व ( लिटरेरी पर्सनालिटी ) का सम्भवतः पूर्ण परिचय मिल गया होगा। अपनी साहित्यिक धारणाओं का निर्धारण, स्पष्टीकरण और प्रतिपादन आचार्य शुक्ल ने जिस अधिकार और सामर्थ्य के साथ किया है, उसे देखकर निःसंकोच उन्हें किसी देश और काल के समर्थ समालोचकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। भारतीय समीक्षकों ने काव्य वा साहित्य का परम लक्ष्य रसानुभूति माना है और उस पर अनेक दृष्टियों से विचार किया है। अभारतीय समीक्षक भी प्रस्थानभेद से अन्ततः इसी लक्ष्य तक पहुँच रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने भी रस पर अपने ढंग से विचार कर उसके विषय में कुछ मौलिक वा उपज्ञात ( आरिजिनल ) सिद्धान्त-स्थापना की है। इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का यह अधिकारपूर्ण कार्य हिन्दी को भारतीय साहित्य की चिन्तन परम्परा से जोड़ता है। रस-मीमांसा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की मौलिकता से तात्पर्य रसानुभूति के विषय में

उनके विचार, उसके आलंबन वा सीमा के विस्तारप्रसार तथा तत्सम्बन्धी अन्य बातों से है । रसानुभूति में सहायक उसके ( रस के ) अवयवों—आश्रय, आलंबन, अनुभाव, उद्दीपन, आदि—को उन्होंने भी माना है । अभिप्राय यह कि रस के विषय में आचार्य शुक्ल का आधार तो प्राचीन ही है, पर उसकी प्रक्रिया, प्रसार आदि पर उनके विचार कुछ नवीन हैं ।

आचार्य शुक्ल उन समीक्षाकारों में से हैं जो साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता मानते हैं और उसे दर्शन, विज्ञान आदि बुद्धि से संबद्ध विषयों के या तो समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं या उनसे बढ़कर घोषित करते हैं ।

**काव्य और दर्शन** साहित्य वा काव्य का सम्बन्ध प्रधानतः हृदय से है और दर्शन का बुद्धि से । एक भावक्षेत्र की वस्तु है, जिसका आधार है हृदय और दूसरा ज्ञानक्षेत्र की, जिसका आधार है बुद्धि । काव्य और दर्शन के चरम लक्ष्य की एकता के कारण वे इन्हें एक ही श्रेणी में रखते हैं । वे कविता को एक साधना मानते हैं, जो हृदय को मुक्तावस्था तक पहुँचाती है और इस साधना को 'भावयोग' कहते हैं तथा इसे ज्ञानयोग और कर्मयोग के समकक्ष रखते हैं, क्योंकि अंतिम दोनों योगों का लक्ष्य भी कविता की भाँति अंततः मुक्ति ही निरूपित किया जाता है ।—( देखिए चिंतामणि-पृ० १९३ ) । उनकी धारणा है कि जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता समझी जाती है उसी प्रकार काव्य की चरम सीमा भी आश्रय और आलंबन की एकता ही है । अभिप्राय यह कि जो ज्ञानक्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है वही भावक्षेत्र में आश्रय और आलंबन, दोनों अपनी-अपनी परिमिति में रहकर अंततः एक ही लक्ष्य तक पहुँचते हैं अतः लक्ष्य की दृष्टि से काव्य और दर्शन एक ही हैं ।—( देखिए गोस्वामी तुलसीदास पृ० ९८ ) इस प्रकार काव्य वा साहित्य तथा दर्शन की एकता का प्रतिपादन करके आचार्य शुक्ल ने साहित्य का पक्ष स्पष्ट कर दिया है । कहना न होगा कि उन्होंने इनकी एकता की स्थापना उन दार्शनिकों वा ज्ञानियों की इस व्यवस्था के कारण ही की है जो काव्य को दर्शन वा ज्ञान-क्षेत्र के लक्ष्य में बाधक समझते हैं । काव्य पढ़ने का निषेध कई दार्शनिकों, ज्ञानियों वा धर्माचार्यों, ने किया है, इसे सभी जानते हैं । वे इसे केवल विलास की वस्तु समझते हैं ।

पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, दोनों का लक्ष्य सात्त्विक है । यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यही है कि आचार्य शुक्ल लक्ष्य की दृष्टि से दर्शन और काव्य को एक मानते हैं । दर्शन पर तो हमें विचार करना नहीं है, विचार करना है केवल काव्य पर, जिसका चरम लक्ष्य है रसानुभव, जो आश्रम और आलंबन की एकता का मुख्य विषय है ।

**रस का क्षेत्र काव्य**

**परिचित आलंबन की आवश्यकता**

भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने काव्य—विशेषतः दृश्यकाव्य—को लेकर ही रस-मीमांसा की है । इसका एक कारण तो यह है कि वे काव्य के अंतर्गत ही प्रायः साहित्यमात्र का ग्रहण कर लेते थे । दूसरा कारण यह है कि वर्तमान गद्य-युग के पूर्व भारत में काव्य का ही निर्माण प्रधानतः होता रहा; अतः आचार्यों के संमुख लक्ष्य-रूप में काव्य ही था । रस-निरूपण करते हुए आचार्य शुक्ल ने भी काव्य को ही लक्ष्य में रखा है । वस्तुतः बात यह है कि काव्य की संक्षिप्त परिमिति में रसावयवों की योजना, उसकी परिपक्वता के स्पष्ट निर्देश तथा प्रभावात्मकता के कारण उसे ही इस कार्य की सिद्धि के लिए दृष्टि-पथ में रखा जाता है । अभिप्राय यह है कि रस का संबंध काव्य से ही माना जाता रहा है और इस विषय में साहित्यकारों की धारणा अब भी ऐसी ही है । काव्य ही वह भूमि है जहाँ पहुँचने पर रसानुभूति होती है । प्रश्न उठता है, उस काव्य-भूमि का स्वरूप क्या है, जो रसानुभूति का आधार है । काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल की सदैव यही धारणा रही है कि वह ऐसी साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है । शेष सृष्टि से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य कवि ( जो काव्य-रचना-काल में उसका—शेष सृष्टि का—द्रष्टामात्र रहता है ) के अतिरिक्त मानव तथा मानवेतर अन्य प्राणियों और पदार्थों से युक्त अनेक रूप एवं व्यापारमय जगत् से है, इन्हीं के साथ कर्ता या श्रोता के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा तथा उसके निर्वाह की स्थापना होती है । आचार्य शुक्ल कृत काव्य की परिभाषा के अंतर्गत आए 'शेष सृष्टि' पद के भीतर मानव का ग्रहण कर लेना आवश्यक है । इस अनेक रूप-व्यापारमय 'शेष सृष्टि' के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह करनेवाला मानव

का हृदय भी अनेक कोमल और परुष भावों का आश्रय है। यदि सृष्टि में अनेक रूप व्यापार हैं तो हृदय में भी अनेक भाव, जो उससे संबंध-स्थापन के मूल कारण हैं। सृष्टि के अनेक रूप-व्यापारों के साथ मानव-हृदय के अनेक भावों के तादात्म्य वा संबंध का रहस्य क्या है। इस विषय में आचार्य शुक्ल का कथन है कि मानव आदिम युगों से अनेक रूप-व्यापारमय जगत् के संपर्क में रहता चला आ रहा है, अतः उनके साथ उसके हृदय में तादात्म्य की भावना वासना के रूप में उसकी ( मानव की ) वंश-परंपरा से ही स्थित है। यही कारण है कि जब आदिम युगों से परिचित सृष्टि के रूप-व्यापार काव्य में आलंबन के रूप में चित्रित होते हैं तब अनेक भावों का आश्रय उसका हृदय उनके साथ वंश-परंपरागत साहचर्य-भावना वा रागात्मक संबंध के जगने के कारण तादात्म्य का अनुभव करता है, उनमें रमता है, ऐसी स्थिति में कुछ क्षण तक वह अपनी सत्ता भूल जाता है, अनुभूति वा भावमात्र का ही अनुभव वा ज्ञान ( परसेप्शन ) उसे रह जाता है और किसी वस्तु-व्यापार का ज्ञान नहीं। इस विवेचना का अभिप्राय यह कि रसानुभूति का संबंध काव्य से है और इसकी सिद्धि के लिए उसमें मानव के सुपरिचित आलंबन ही आने चाहियें, अन्यथा रस की परिपक्वता में पूर्णता का संनिवेश न हो पाएगा। आलंबन जितने ही परिचित होंगे रस का अनुभव उतना ही पूर्ण होगा।

रसानुभूति के लिए सामान्य (जनरल) उपादान—आश्रय और आलंबन क्या हैं, इनका परिचय उपर्युक्त विवेचन से प्राप्त हो गया होगा। कवि वा साहित्यकार इन्हीं की सहायता से रसानुभव करता है। अब देखना यह है कि कवि अपनी कला द्वारा इन अवयवों वा उपादानों को किस रूप में उपस्थित करता है, जिससे रसानुभूति होती है, अर्थात् रसात्मक प्रतीति और कवि-कर्म का क्या संबंध है, अब इसे देखना चाहिए।

**रस-प्रतीति और कवि-कर्म**

काव्य-कला तथा कल्पना के घनिष्ट संबंध का प्रतिपादन साहित्य-मीमांसक बहुत दिनों से करते चले आ रहे हैं। इनका संबंध उतनी ही दूर तक समझना चाहिए जहाँ तक कल्पना काव्य के साधन के रूप में ग्राह्य हो। काव्य-कला तथा कल्पना के घनिष्ठ संबंध से हमारा

**कल्पना**

तात्पर्य कल्पनावादियों द्वारा प्रतिपादित मत से नहीं है, जो इसको ही लेकर एक अतिवाद ( एक्स्ट्रीमिज्म ) की स्थापना करना चाहते हैं। यह हमें विदित है कि आचार्य शुक्ल भी कल्पना को काव्य के प्रमुख साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं। रसात्मक प्रतीति की भूमि कविता ही है, अतः इसके लिए भी कल्पना की अपेक्षा होती है, ऐसी कल्पना की जो भाव-प्रेरित और मार्मिक रूप-विधायिनी होती है, कोरी ही कोरी और निराली दुनिया खड़ी करनेवाली नहीं। रसात्मक प्रतीति में और अन्यत्र भी कल्पना का जो स्वरूप आचार्य शुक्ल स्थिर करते हैं वह यही है। यहीं इसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है कि रसानुभूति की सृष्टि करने के लिए काव्यकार कवि में और उसका ग्रहण वा आस्वादन करने के लिए पाठक वा श्रोता में भी कल्पना की स्थिति वांछनीय है। पूर्ण वा सच्ची रसानुभूति के लिए कवि की विधायिनी कल्पना की समानधर्मिणी श्रोता वा पाठक की ग्राहिका कल्पना की भी आवश्यकता है। आचार्य शुक्ल की भी ऐसी ही धारणा है।

मुनिवर भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति की मान्यता स्वीकार की है*। यहाँ इससे हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि रसानुभूति की सृष्टि में

आश्रय तथा आलंबन;
अनुभाव तथा उद्दीपन

ये तीन अवयव जुड़ते हैं, जिनमें प्रथम दो प्रधान हैं। विभाव के अंतर्गत आश्रय तथा आलंबन और उनकी चेष्टाएँ अर्थात् उद्दीपन आते हैं। अनुभाव के अंतर्गत भाव के आश्रय की चेष्टाएँ आती हैं। अभिप्राय यह कि रस-निष्पत्ति वा रसानुभूति के लिए कवि को आलंबन और उद्दीपन तथा आश्रय और अनुभाव का विधान करना पड़ता है। विभाव अर्थात् आश्रय और आलंबन के अंतर्गत 'शेष सृष्टि' के अनेक रूप और व्यापार आते हैं। आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव की व्यंजना वा उनका प्रकटीकरण दो रूपों में दिखाई पड़ता है, एक तो आश्रय में भावोत्पत्ति के फलस्वरूप उसकी आंगिक चेष्टाओं के रूप में, जिसका क्षेत्र अति परिमित है; और दूसरे उसमें भावोत्पत्ति के फल-स्वरूप वाचिक

* विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

रूप में, जिसकी सीमा—वाणी की अनंतता के कारण—अति विस्तृत है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि विभाव के इन सभी रूपों वा अवयवों के विधान के लिए कवि में कल्पना की आवश्यकता होती है ( देखिए चिंतामणि, पृ० ३६०—३६९ ), क्योंकि काव्य-रचना-काल में विभाव कवि की आँखों के संमुख उपस्थित नहीं रहता, वह इनका विधान इनके अंतःसाक्षात्कार की सहायता से, जिन्हें पहले देख और सुन चुका रहता है, कल्पना द्वारा ही करता है। रूप-व्यापार-विधान में भी उसे कल्पना का साहाय्य ग्रहण करना पड़ता है और वाणी-विधान में भी। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि इस विधान में कल्पना की प्रधानता के कारण ही भारतीय प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति का प्रतिपादन किया है; "रूपों और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे संबद्ध वास्तविक भावानुभूति की बात अलग ही रखी" गई।—( देखिए चिंतामणि, पृ० ३३३ )। आचार्य शुक्ल प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृत रूप-विधान में भी रसानुभूति मानते हैं, जिन पर यथास्थान विचार किया जायगा।

रसानुभूति और कल्पना के रहस्य के साथ ही एक बात और अवलोकनीय है। वह यह कि रसात्मक बोध की प्रक्रिया में भाव तथा ज्ञान दोनों के समन्वित कार्य की अपेक्षा होती है, केवल कल्पना की ही आवश्यकता नहीं पड़ती।

**रस-बोध में भाव तथा ज्ञान का समन्वित कार्य**

बात यह है कि रस-बोध के लिए प्रधान आवश्यक अवयव आलंबन की योजना है, जिसको पहले ज्ञानेंद्रियाँ ही उपस्थित करती हैं और तत्पश्चात् इनके द्वारा उपस्थित आलंबन-सामग्री को लेकर कल्पना वा भावना इनका रसात्मक विधान करती है। इस प्रकार आलंबन के मार्मिक विधान में ज्ञान और भाव—बुद्धि और हृदय—दोनों का योग रहता है। आचार्य शुक्ल का मत है—"भावों के लिए आलंबन आरंभ में ज्ञानेंद्रियाँ उपस्थित करती हैं; फिर ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।"—( काव्य में रहस्यवाद; पृ० ७७, और देखिए चिंतामणि, पृ० २१३ )। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विदित

होगा कि हमारे सभी कार्यों का प्रथम प्रयास ज्ञानात्मक ही होता है। जब हम किसी कार्य में—चाहे वह ज्ञानात्मक हो चाहे भावात्मक—बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है। अतः रसात्मक आलंबन के विधान में प्रथमतः ज्ञानेंद्रियाँ ही प्रवृत्त होती हैं और तब हृदय का व्यापार आरंभ होता है। रसानुभूति में ज्ञान की भी आवश्यकता के कारण ही इस क्षेत्र में दार्शनिकों ने भी अपनी धारणाओं के अनुसार कार्य किया है, और इसे वे पूर्णता की ओर ले गए हैं।

रसानुभूति में आलंबन-विधान का रूप

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि रसानुभूति में विभाव-पक्ष की ही प्रधानता है और इसको प्रस्तुत करने के लिए ज्ञान और कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। आलंबन के विषय की चर्चा भी हम कर चुके हैं। अब देखना है कि रसानुभूति के लिए कवि आलंबन का विधान किस रूप में करे, वह कैसा आलंबन खड़ा करे कि रसानुभूति हो। आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांतों की विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि वे काव्य का लक्ष्य बिंब-ग्रहण कराना मानते हैं, अर्थ-ग्रहण कराना मात्र नहीं। और बिंब वा मूर्ति जब होगी तब विशेष व्यक्ति वा वस्तु की ही होगी, सामान्य वा जाति मात्र की नहीं। बात यह है कि कवि को प्रभावात्मकता वा मार्मिकता, जो रसानुभूति के स्तर तक पहुँचानेवाला तत्त्व है, उत्पन्न करने के लिए काव्य में चुने हुए रूप-व्यापारों की योजना करनी पड़ती है। चुनाव करते समय उसके संमुख जाति वा सामान्य रहता तो है, पर वह उसमें से व्यक्ति वा विशेष का ही ग्रहण करता है। इसे यों कहें कि उसके काव्य के रूप-व्यापार व्यक्ति वा विशेष के रूप में आकर जाति वा सामान्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति मात्र के चित्रण के लिए न उसके पास समय और स्थान ही रहता है और न इसकी आवश्यकता ही पड़ती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि जाति वा सामान्य के सिद्धांत आदि की स्थापना तो तर्क और विधान का काम है, काव्य का नहीं। रसानुभूति के लिए आलंबन प्रस्तुत करने में भी कवि काव्य की बिंब-ग्रहण-प्रणाली से ही काम लेता है: वह आलंबन-रूप में विशेष का ही चित्र उपस्थित करता है।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से व्यक्ति-रूप में आलंबन की प्रतिष्ठा के विषय

**आलंबन का आरोप और इसका महत्त्व**

में दो बातें और कहनी हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जिनमें केवल भावों का ही प्रदर्शन या चित्रण होता है। आचार्य शुक्ल इन्हें 'भाव-प्रदर्शक' काव्य कहते हैं। आधुनिक युग के प्रगीत मुक्तक ( लीरिक्स ) इस प्रकार के काव्य के अच्छे उदाहरण हैं, जिनमें प्रायः भाव की ही व्यंजना की जाती है, विभाव का चित्रण बहुत ही कम रहता है। ऐसे काव्य का अध्ययन करते समय, आचार्य शुक्ल कहते हैं, श्रोता वा पाठक अपनी ओर से आलंबन का आरोप कर लेता है। कहना न होगा कि श्रोता वा पाठक द्वारा आलंबन का आरोप अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल व्यक्ति-रूप में ही होगा। कभी-कभी होता यह है कि "पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती है।···कहने की आवश्यकता नहीं कि वह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति की ही होगी।"—( चिन्तामणि, पृ० ३१२ )। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल का काव्य को लेकर बिंबग्रहणवाला सिद्धान्त रस-निरूपण में भी पूर्णतः घटित होता है। इस विवेचन से एक और बात लक्षित होती है, वह यह कि रस के अवयवों की नियोजना में आलम्बन का बड़ा महत्त्व है। आचार्य शुक्ल की भी इस विषय में यही धारणा है, वे केवल इसी के चित्रण द्वारा भी रसानुभूति मानने को तैयार हैं। उनका कहना है—"मैं आलम्बन मात्र के विशुद्ध वर्णन को श्रोता में रसानुभव ( भावानुभव सही ) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )।

**रस-प्रक्रिया—भट्ट लोल्लट का मत**

रस के सभी प्रधान अवयवों पर विचार करने के पश्चात् अब विचार इस पर करना है कि इनके द्वारा रसानुभूति का रहस्य क्या है। रसानुभूति के साधक के रूप में ये क्यों और कैसे उपस्थित होते हैं, अर्थात् रस की प्रक्रिया क्या है। रस-निष्पत्ति वा अनुभूति की प्रक्रिया के विषय में मुनिवर भरत ने केवल इतना ही कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से इसकी सृष्टि होती है। इतने से ही विषय का परिपूर्ण उद्घाटन न होने के कारण उनके

पश्चात् कई आचार्यों ने, जिनकी संख्या ग्यारह है, अपनी-अपनी धारणाओं के अनुकूल इस पर विचार किया। इन ग्यारह आचार्यों में से चार—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनव गुप्तपादाचार्य—के मत विचारणीय हैं। भट्ट लोल्लट की दृष्टि से रस की स्थिति अनुकार्य वा पात्र में होती है जिसके रूप-रंग, वेश-भूषा, कार्य-कलाप की वर्णिका (रोल) में अभिनेत रंग-मंच पर उपस्थित होता है। दर्शक अनुकार्य का अनुकरणकर्ता अभिनेत में उसके (अनुकार्य के) रूप व्यापार की नियोजना देख कर उसे (अभिनेत की) ही अनुकार्य के रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार अनुकार्य के भावों की 'उत्पत्ति' अभिनेता में हो जाती है। दर्शक इस अवस्था में चमत्कृत हो जाता है, यद्यपि रस की स्थिति अनुकार्य में होती है, जो अभिनेता के रूप में उपस्थित रहता है। भट्ट लोल्लट का यह मत 'उत्पत्तिवाद' के नाम से प्रचलित है। इस मत का यह पक्ष कि श्रोता, दर्शक वा पाठक में रस की स्थिति नहीं है, ठीक नहीं। भारतीय तथा अभारतीय सभी शिष्ट साहित्य-मीमांसकों की यह मान्यता है कि रसानुभव दर्शक को होता है। पर उत्पत्तिवाद द्वारा यह अवश्य अवगत होता है कि दर्शक को हृदय है और वह—चमत्कार रूप में ही सही—आलंबन-रूप अभिनेता द्वारा कुछ न कुछ प्रभावित अवश्य होता है। 'रस की स्थिति अनुकार्य में होती है, अभिनेता जिसका प्रतिनिधि है'—इसका अर्थ यदि यह लिया जाय कि अभिनय के समय अनुकार्य के रूप, गुण, शील, क्रिया-कलाप आदि की अवतारणा (उत्पत्ति) अभिनेता की पटुतावश उसमें (अभिनेता में) स्वतः हो जाती है, और वह अनुकार्य के रूप में—(दृश्य) काव्य में वर्णित आलंबन के रूप में—उपस्थित होता है, जिसे देख दर्शक चमत्कृत होकर अपने हृदय का रंजन करता है, और 'रंजन' से 'रमना' का अर्थ गृहीत हो, तो इस मत में विशेष आपत्ति की सम्भावना नहीं प्रतीत होती। इस स्थिति में 'रस की स्थिति अनुकार्य में है' का तात्पर्य यह होगा कि वह रस का कारण है।

आचार्य शंकुक ने भी रस-निष्पत्ति के विषय में अपना मत स्थापित किया और यह 'अनुमितिवाद' कहलाया। उन्होंने भी यह प्रतिपादित किया कि रस

आचार्य शुक्ल का मत

की स्थिति अनुकार्य में ही होती है, पर अभिनेता द्वारा उसके अनुकरण से रस की 'उत्पत्ति' नट में नहीं होती, प्रत्युत अनुमान से दर्शक उसे ( अभिनेता को ) ही नायक वा अनुकार्य मानकर चमत्कृत हो आनन्दित होता है । भट्ट लोल्लट और शंकुक के मत में अंतर यही प्रतीत होता है कि एक रस की उत्पत्ति अभिनेता में मानते हैं और दूसरे 'अनुमिति' से अभिनेता को नायक के रूप में ग्रहण करते हैं । दोनों ही रस की स्थिति अनुकार्य में प्रतिपादित करते हैं । दर्शक में रस की स्थिति दोनों ही नहीं स्वीकार करते । दर्शक के पक्ष में दोनों की धारणाएँ समान हैं । अनुमितिवाद के विषय में विचार करने पर विदित होगा कि इसमें दर्शक का पक्ष कुछ अधिक आया, उसमें अनुमान करने की शक्ति मानी गई और तत्पश्चात् चमत्कृत और आनंदित होने की । पर बाधा यह उपस्थित होती है कि रस की स्थिति उसमें नहीं मानी गई, क्योंकि कुशल दर्शक अनुमान से भी रस-कोटि के कुछ निकट पहुँच सकता है । इस वाद के अनुकार्य-पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उत्पत्तिवाद की भाँति रस का मूल वही ( अनुकार्य ही) है, अंतर केवल इतना ही है कि नट की कला द्वारा अनुकार्य के भाव आदि की अवतारणा (उत्पत्ति) उसमें ( नट में ) होती है और इस वाद में उसके (कला के) प्रदर्शन पर अनुकार्य का उसमें ( नट में ) अनुमान । उत्पत्ति की प्रक्रिया लघु और अनुमिति की विस्तृत प्रतीत होती है । पर सूक्ष्मतः दोनों का लक्ष्य प्रस्थान-भेद होते हुए भी एक ही निर्धारित किया जा सकता है । दोनों का लक्ष्य आलंबन-रूप अनुकार्य को अनुकर्ता में स्थापित करके दर्शक में चमत्कार द्वारा आनंद की अनुभूति का प्रतिपादन करना है ।

रसवाद के यथार्थ स्वरूप की स्थापना इनके पश्चात् के दोनों आचार्यों—भट्ट नायक और अभिनव गुप्तपादाचार्य—ने की । इन्होंने यह स्थापित किया

भट्ट नायक अभिनव गुप्तपादाचार्य तथा आचार्य शुक्ल का मत

कि रस की स्थिति अनुकार्य में नहीं दर्शक, श्रोता वा पाठक में होती है, जो बुद्धि-संगत तथ्य है । यह तो स्पष्ट है कि सभी रस-मीमांसकों के संमुख लक्ष्य-रूप में दृश्यकाव्य था । भट्ट नायक ने रस-निष्पत्ति वा रसानुभूति की प्रक्रिया की पूर्णता के लिए तीन वृत्तियाँ वा शक्तियाँ मानीं, जिनके

नाम है—अभिधा, भोजक और भोग । अभिनव गुप्तपादाचार्य ने भट्ट नायक की अन्तिम दो वृत्तियों की कल्पना का विरोध यह कहकर किया कि इनको मानने की आवश्यकता क्या है, जब कि इनका काम पहले से ही मानी हुई व्यंजना नामी वृत्ति से चल जाता है । अभिधा वृत्ति द्वारा काव्य के अर्थ का ज्ञान श्रोता, पाठक वा दर्शक को हो जाता है । इस वृत्ति की सहायता से आगे बढ़ने पर काव्य में ऐसी वृत्ति की स्थापना होती है जिसके द्वारा वह श्रोता, पाठक वा दर्शक के भोगने वा ग्रहण करने योग्य हो जाता है, इसे उन्होंने 'भोजक वृत्ति' नाम दिया । कहने की आवश्यकता नहीं की इन दोनों वृत्तियों का संबंध काव्यगत कवि-कर्म से है, जिसके अंतर्गत उसके हृदय तथा कला-पक्ष दोनों की संस्थिति समझनी चाहिए, और जिनका लक्ष्य काव्य की पूर्णता होती है । यहीं इसका भी निर्देश कर दें कि रस-सिद्धांत के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का कुछ-कुछ वैसा ही पक्ष है, जैसा कि आचार्य भट्ट नायक का । अतः यद्यपि आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त वृत्तियों की स्थापना नहीं की है, तथापि कवि-कर्म के विषय में उनके जो मत हैं, जिनका निर्देश उनके काव्य-सिद्धांत की विवेचना करते हुए भी किया गया है और रस-सिद्धांत की प्रक्रिया की विवेचना करते हुए भी, वे भट्ट नायक की 'भोजक वृत्ति' के अंतर्गत रखे जा सकते हैं, क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है । वस्तुतः भट्ट नायक द्वारा मान्य 'भोजक वृत्ति' का साधन सफल कवि-कर्म ही है ।

भट्ट नायक की 'भोग वृत्ति' का संबंध श्रोता, पाठक वा दर्शक से है, यह काव्य के सुनने, पढ़ने वा देखने पर उसके हृदय में जगती है, और वह काव्य के भोग करने योग्य बन जाता है । भोग वृत्ति को मानने के कारण भट्ट नायक का मत 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है । अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत 'व्यक्तिवाद' वा 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है । इसका कारण यह है कि उनके मत के अनुसार अपनी शक्ति और वृत्ति द्वारा काव्य श्रोता, पाठक वा दर्शक में वासना-रूप में स्थित भाव को जगाकर उनकी व्यक्ति वा अभिव्यक्ति कर देता है, और वह रस का अनुभव करता है । श्रोता, पाठक वा दर्शक को दृष्टि में रखकर विचार करने पर हमें भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य के सिद्धांतों में कोई विशेष अंतर नहीं लक्षित होता । यह तो स्पष्ट है कि दोनों रस

की स्थिति श्रोता, पाठक वा दर्शक में मानते हैं। भट्ट-नायक कहते हैं कि भोग-वृत्ति के द्वारा रसानुभूति होती है, जो श्रोता, पाठक वा दर्शक में काव्य के सुनने, पढ़ने वा देखने पर जगती है; अर्थात् काव्य इस वृत्ति को जगाता है। कहना न होगा कि जो वृत्ति जगती है उसका अस्तित्व श्रोता, पाठक वा दर्शक में अवश्य है, तभी वह जगती है! अभिप्राय यह कि इस वृत्ति का जगना वस्तुतः भाव के जगने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो रसानुभव की प्रथम श्रेणी मानी जा सकती है। आचार्य शुक्ल का भी यही पक्ष है। वे हृदय को अनेक भावात्मक मानते हैं, और काव्य द्वारा इनका उद्बुध होना। तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल यद्यपि इन दोनों आचार्यों की भाँति वृत्ति आदि की स्थापना नहीं करते पर श्रोता, पाठक वा दर्शक का भाव-संपन्न तथा काव्य को ग्रहण करने योग्य अवश्य मानते हैं। श्रोता, पाठक वा दर्शक से उनका तात्पर्य ऐसे ही व्यक्ति से है जो भावुक है और रसानुभव के योग्य है। अभिनव गुप्तपादाचार्य का कथन है कि काव्य उन वासनाओं को जगाता वा अभिव्यक्त कर देता है जो हृदय में सोई हुई वा अव्यक्त रहती हैं*। ध्यानपूर्वक विचार करने पर विदित होगा कि भुक्तिवाद में दर्शक आदि की भोग वृत्ति का जगना और अभिव्यक्तवाद में वासना का जगना वा अभिव्यक्त होना सूक्ष्मतः एक है, दोनों मतों में जगना भाव (वा उसका मूल रूप वासना) ही है और इसको जगानेवाला है काव्य। अतः इस दृष्टि से दोनों मत एक ही लक्ष्य पर पहुँचे हैं। यदि अभिव्यक्तिवाद में काव्य द्वारा वासना अभिव्यक्त होती है तो भुक्तिवाद में भी इसके द्वारा भोग वृत्ति (वा भाव) जगती है अर्थात् वह सब काल में जगी नहीं रहती, काव्य के प्रदर्शन, श्रवण वा पठन से ही जगती है। आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं।

---

* अँगरेज समीक्षक एबरक्रांबी का भी इस विषय में यही मत है—

"But an audience does not go into a theatre in a state of pity and fear. Every one is liable to these emotions, but they are not present unless they are provoked—Lascelles Abercrombie M. A.'s *Principles of Literary Criticism*, p. 109.

स्त्री तथा पुरुष के स्वाभावतः पारस्परिक आकर्षण के कारण ही प्रेम वा शृंगार काव्य का आधिक्य सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रेम वा शृंगार के अतिरिक्त अन्य भावों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आलंबन मनुष्यमात्र के भावों का पात्र हो सके। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि रौद्रारस की अनुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आश्रय का आलंबन सभी के क्रोध का आलंबन स्वभावतः हो, प्रत्युत इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी (आलंबन की) क्रूरता, अन्याय, उसका अत्याचार आदि इस रूप का हो कि मनुष्यमात्र के क्रोध का आलंबन वा पात्र बन सके।—(देखिए वही) यहाँ आलंबन में आकर्षण की नैसर्गिकता की आवश्यकता नहीं है, आवश्यक है उसमें ऐसे कर्म की स्थापना की जो मनुष्यमात्र के भाव का विषय हो सके, चाहे आलंबन अपरिचित ही क्यों न हो। रसानुभूति के उपर्युक्त साधारणीकरण के लिए एक और बात का होना अत्यावश्यक है, वह है आलंबन का औचित्य, अर्थात् आश्रय की भाव-व्यंजना ऐसे पात्र के प्रति हो जो वस्तुतः सभी श्रोता, पाठक वा दर्शक के भाव का आलंबन हो सके। आलंबन ऐसा न हो कि आश्रय के भाव का पात्र बन जाय और किसी श्रोता आदि के भाव का न बन सके। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए, तो 'साधाणीकरण' न होगा, अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा; उस भाव में लीन न होगा।"—(इंदौरवाला भाषण, पृ० २७ और देखिए, चिंतामणि, पृ० २०१)। इस विवेचन का अभिप्राय यह कि रसानुभूति के उपर्युक्त साधारणीकरण के लिए आलंबन की उपयुक्तता भी आवश्यक है।

अब विचारणीय यह है कि रसानुभूति का स्वरूप क्या है। इस विषय में प्राचीन साहित्य-मीमांसकों और आचार्य शुक्ल में मत-वैभिन्न्य ज्ञात होता है।

**रसानुभूति का स्वरूप—प्राचीन आचार्यों तथा आचार्य शुक्ल में मत वैभिन्न्य**

प्राचीन आचार्यों ने रसानुभूति को 'आनंदमय', ब्रह्मानंद सहोदर', 'लोकोत्तर' आदि रूपों में प्रतिपादित किया है। आचार्य शुक्ल की धारणा यह है कि रसानुभूति का इस रूप में ग्रहण केवल 'अर्थवाद के रूप में' है। काव्यानुभूति वा रसानुभूति की प्रतिष्ठा वा गौरव की

स्थापना के लिए इसे ये विशेषण दिए गए हैं। इस विषय में उनका अपना मत यह है कि काव्यानुभूति वा रसानुभूति वस्तुतः "जीवन के भीतर की ही अनुभूति है" ( देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८१–८२ ) ; उससे बाहर वा परे की नहीं। "इसलिए यह धारणा कि शब्द, रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं।"—( वही, पृ० ८ )। इस विषय में आचार्य शुक्ल की धारणा सर्वत्र ऐसी ही रही है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने इसे लोकानुभूति वा जीवन की अनुभूति के समान ही ग्रहण किया है तथापि वे भी इसके साथ 'उदात्त और अवदात' विशेषण जोड़ते हैं। इस उद्धरण से रसानुभूति के विषय में आचार्य शुक्ल की सारी मान्यताएँ स्पष्ट हो जायँगी—"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अंतर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।"—( चिंतामणि, पृ० ३४४ )। अभिप्राय यह कि रसानुभूति है तो जीवन की अनुभूति के सदृश ही, पर उसमें कुछ वैशिष्ट्य अवश्य है। प्रतीत ऐसा होता है कि जिसे आचार्य शुक्ल उदात्त और अवदात कहते हैं प्राचीन मीमांसकों ने उसी को महत्त्व देने के लिए लोकोत्तर आदि के रूप में ग्रहण किया। पर आचार्य शुक्ल के पक्ष की स्पष्टता के लिए यहाँ एक बात का निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। आरंभ में ही हम कह चुके हैं कि काव्य तथा रस का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक स्थान पर काव्य के विषय में आचार्य शुक्ल ने कहा है—"मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है, यही हमारा पक्ष है।"—( काव्य में रहस्यवाद, पृ० ३७ )। इस प्रकार रस का संबंध भी, उनकी दृष्टि से, इसी कोश से है। यह मनोमय कोश क्या है। वेदांत-शास्त्रियों की धारणा है कि मनुष्य में पाँच कोशों की स्थिति है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल तृतीय और पंचम कोश से है। पंच ज्ञानेंद्रिय ( बाह्यकरण ) और मन ( अंतःकरण ) को मोनोमय कोश कहते हैं। यही कोश अविद्या-रूप है और इसी से सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है। सत्त्वगुणविशिष्ट परमात्मा के आवरक ( आच्छादक ) का नाम आनंदमय कोश है। जो रस-मीमांसक वस्तुतः रस को ब्रह्मानंद-सहोदर, आनंद-

मय, लोकोत्तर आदि रूप में ग्रहण करते हैं उनकी धारणा के अनुसार रस की पूर्ण अनुभूति इसी आनन्दमय कोश में होती है। पर आचार्य शुक्ल की दृष्टि से रस की पूर्ण अनुभूति मनोमय कोश में ही हो जाती है आनन्दमय कोश तक पहुँचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह बात काव्य-संबंधी उनके ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। मनोमय कोश में ही रस की सिद्धि हो जाने के कारण ही वे रसानुभूति को 'प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति' से भिन्न अनुभूति नहीं स्वीकार करते।

**रसानुभूति वा रस-दशा का स्वरूप**

मूलतः रसानुभूति वा रस-दशा क्या है, अब इसे देखें। कवि वाणी द्वारा काव्य को श्रोता, पाठक वा दर्शक तक पहुँचाता है—किसी न किसी उद्देश्य से ही। यदि विचार किया जाय तो विदित होगा कि उसके उद्देश्य के मूल में यही भावना निहित रहती है कि श्रोता, पाठक वा दर्शक का हृदय उसके काव्य से प्रभावित हो, कुछ न कुछ प्रभाव ग्रहण करे। रसानुभूति वा सौंदर्यानुभूति आदि इस प्रभाव के ही उच्च वा निम्न रूप वा उसकी मात्राएँ (डिग्रीज) हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से भी मन का किसी भाव में रमना और हृदय का उससे प्रभावित होना ही रसानुभूति है।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद पृ० ५७)। रस-दशा के विषय में आचार्य शुक्ल ने मुख्यतः तीन बातें कही हैं। एक तो यह कि वे इस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं, जिसमें व्यक्ति अपने-पराये के भेद-भाव से छूटकर अनुभूति मात्र रह जाता है वा काव्य द्वारा उपस्थित भाव का ही अनुभव करता है और किसी वस्तु का नहीं।—(देखिए चिंतामणि पृ० १९२ और इंदौरवाला भाषण, पृ० ४१)। इस विषय में दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि रस-दशा वा रसानुभूति की अवस्था में व्यक्ति-हृदय लोक-हृदय में लीन हो जाता है। इस अवस्था को वे 'भाव की पवित्र भूमि' वा 'पुनीत रसभूमि' कहते हैं। व्यक्ति-हृदय का लोक-हृदय में लीन होने से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है मनुष्यमात्र के लिए सामान्य आलंबन में श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय का लीन होना। जिस सामान्य आलम्बन में मनुष्यमात्र का हृदय लीन होता है उसी में एक श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय का लीन होना ये लोक-हृदय में व्यक्ति-हृदय का लय होना

मानते हैं, और इस अवस्था की अनुभूति को रस-दशा की अनुभूति स्वीकार करते हैं।—( देखिए चिंतामणि, पृ० ३०८—३०९ और काव्य में रहस्यवाद, पृ० २, ६० )। विचार करने पर ज्ञात होता है कि रस दशा को हृदय की मुक्तावस्था मानना तथा लोक हृदय में व्यक्ति हृदय का लीन होना स्वीकृत करना सूक्ष्मतः एक ही बात है, क्योंकि दोनों अवस्थाओं में लोक के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की भावना का परिहार या त्याग अपेक्षित है। अँगरेज समीक्षक रिचर्ड्स भी सौन्दर्य ग्रहण (एस्थेटिकरिस्पांस) की अवस्था को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। उनका भी कथन है कि इस दशा में लोकगत वैयक्तिक सम्बन्ध का त्याग हो जाता है*।

* With the preliminary disavowal of undue certainty we may proceed. The equilibrium of opposed impulses, which we suspect to be the ground-plan of the most valuable aesthetic responses, brings into play far more of our personality than is possible in experiences of a more defined emotion. We cease to be orientated in one definite direction; more facts of the mind are exposed and, what is the same thing, more aspe-ts of things are able to effect us. To respond, not through one narrow channel of interest, but simultaneously and coherently through many, is to be *'disinterested'* in the only sense of the word which concerns us here. A state of mind which is not disinterested is one which sees things only from one standpoint or under one aspect. At the same time since more of our personality is engaged the independence and individuality of other things becomes greater. We seem to see *'all round'* them, to see them as they really are; we see them apart from any one particular interest which they may have for us. Of course without some interest we should not see them at all, but the less any our particular interest is indispensable, the more *'detached'* our attitude becomes. And to say we are *'impersonal'*, is merely a curious way of saying that one personality is more *'completely'* involved.

—I. A. Richards's *Principles of Literary Criticism*, P. P. 251-252.

रस-दशा के सम्बन्ध में तीसरी बात कहने के पूर्व आधुनिक काल में प्रचलित एक साहित्यिक वाद के विषय में कुछ निदेश कर देना आवश्यक है। इस युग में पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत सौन्दर्यवाद ( एस्थेटिसिज्म ) की प्रचुर विवेचना हुई और इसका प्रचार भी खूब रहा। हिन्दी-साहित्य में भी इसके विषय में चर्चा प्रायः हुआ करती है। सौन्दर्यानुभूति ( एस्थेटिक एक्स्पीरियंस ) के विषय में आचार्य शुक्ल ने जो विवेचना की है उससे विदित होता है कि वे इस अनुभुति को भी रसानुभुति के रूप में ही ग्रहण करते हैं सौन्दर्य रूप-व्यापार, कर्म आदि को देखकर 'अन्तस्सत्ता' की उनमें 'तदाकारपरिणति' को वे सौदर्न्यानुभूति कहते हैं—"कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकारपरिणति सौन्दर्य की अनुभुति है।"—(चिन्तामणि, पृ० २२४—२२५ )। कहना न होगा कि हमारी सत्ता पर उन रूप रंगमयी वस्तुओं का अधिकार कर लेना उनके द्वारा हमारा प्रभाविस होना ही है और तदाकारपरिणति उनमें लीन होना वा रमना। अतः सौन्दर्यानुभुति की अवस्था रसदशा के समान ही होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि आचाय शुक्ल ने रस-दशा के विषय में मुख्यतः तीन बातें कही हैं, पर मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है, उनका लक्ष्य एक ही है।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि से हम इस पर विचार कर चुके हैं कि रसानुभूति का काव्यानुभूति जीवनगत प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति के अतिरिक्त और किसी प्रकारकी अनुभूति नहीं होती। हाँ उसका स्वरूप दुःखात्मक भावों की इस अनुभूति से उदात्त और अवदत अवश्य होता है।

रसानुभूति दुःखमय

इस दुःख की रसात्मकता

इस स्थिति में विचारणीय यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दु खमय होगी अथवा आनन्दमय, क्योंकि जीवन में ये भाव प्रतिकूलवेदनीय ही होते हैं। इस विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति जीवन की अनुभूति के समान दुःखमय ही होती है, क्योंकि

करुणरस के काव्य वा नाटक पढ़ने वा देखने पर आँसू का आना मनोविज्ञान की दृष्टि से दुःखानुभूति का ही लक्षण ( सिम्टम ) है। उनका कथन है कि ऐसी अवस्था में "यह कहना कि 'आनन्द में भो तो आँसू आते हैं' केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं।"—( देखिए चिन्तामणि, पृ॰ ३४१–४२ )। अभिप्राय यह है कि वे काव्यगत दुःखात्मक भावों की अनुभूति दुःखमय ही मानते हैं। बेनिडीटो क्रोसे की भी यही धारणा है कि काव्यगत भावों की अनुभूति सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों होती है। ( देखिए इन्दौरवाला भाषण, पृ० ४०–४१ ) आचार्य शुक्ल का कथन यह है कि काव्यगत दुःख की अनुभूति दुःखात्मक तो अवश्य ही होती है, पर "हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"—( चिन्तामणि, पृ॰ ३४२ )। यहाँ रसात्मक से तात्पर्य "भोग्य" से है। इस विषय में भी आचार्य शुक्ल का पक्ष बड़ा सटीक प्रतीत होता है। बात यह है कि परिस्थितिवश दुःखात्मक तथा सुखात्मक दोनों प्रकार के भावों में लीन होनेवाले व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं। कुछ व्यक्तियों का यह कहना है कि 'मुझे रोने दो, रोने में ही सुख मिलता है' का तात्पर्य यही है कि दुःख भी उन्हें परिस्थिति विशेष में अनुकूलवेदनीय प्रतीत होता है, और इसका कारण है उसमें उनकी तन्मयता।

**कवि की रसोन्मुख अवस्था**

यह हमें विदित है कि रस की स्थिति श्रोता, पाठक वा दर्शक में होती है। उसमें रस की अनुभूति के लिए ग्राहक कल्पना की भी आवश्यकता है, इसे भी हम देख चुके हैं। कवि में विधायक कल्पना होती है और वह अपनी भावुकता ( इसे हम इस स्थान पर काव्य-रचना की चाह के रूप में प्रयोग करना चाहते हैं ) के कारण इस कल्पना को रूप-विधान की ओर प्रवृत्ति करके काव्य प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "......कवि अपनी स्वभावगत भावुकताकी जिस उमंग में रचना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहें तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।"—( काव्य मे रहस्यवाद, पृ० ७९ )।

अभिप्राय यह कि प्रस्तुत हो जाने पर काव्य रसात्मक तो होता ही है, उसकी रचना के समय कवि भी रसोन्मुख अवस्था में रहता है। वस्तुतः काव्य-रचना की उमंग में उसमें तन्मयता ही रसोन्मुखता है, जिसे हम पूर्ण रस-दशा तो नहीं कह सकते, पर इस अवस्था में भी कुछ क्षण ऐसे आया करते हैं जिनमें रसात्मकता का आभास अवश्य मिला करता है।

रसानुभूति की प्रक्रिया पर शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिए। 'रस' को भारतीय प्राचीन आचार्यों ने व्यंग्य कहा है। इन आचार्यों का पक्ष यह है कि काव्य में जिन भावों और वस्तुओं की व्यंजना व्यंजक वाक्य में रस होती है वे भाव वा वस्तु श्रोता, पाठक वा दर्शक को रस-भूमि पर पहुँचाते हैं। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि "व्यजना में अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता।"—(काव्य में रहस्य वाद, पृ० ६९) अर्थात् किसी काव्य द्वारा ध्वनित यह तथ्य कि 'अमुक करुणा, क्रोध वा प्रेम कर रहा है' रस नहीं है प्रत्युत काव्यमयी वाणी ही सब कुछ है, उक्ति ही सब कुछ है, जो रसानुभूति कराती है।—(देखिए काव्य में रहस्य वाद, पृ० ६८–६९)। आचार्य शुक्ल व्यंजक वाक्य को ही काव्य भी मानते हैं, काव्य पर विचार करते हुए हम इसे भी देख चुके हैं। आचार्य शुक्ल की यह मान्यता यों भी व्यक्त की जा सकती है कि काव्य-शरीर ही काव्य की आत्मा का अनुभव कराता है, उसकी आत्मा तक पहुँचने की मार्ग उसका शरीर ही है। जहाँ तक उनकी इस धारण का सम्बन्ध है कि 'उक्ति ही कविता है' वहां तक वे भारतीय समीक्षा के 'रीतिवाद' के निकट प्रतीत होते हैं जिसका प्रतिपाद्य यह है कि 'रीति ही काव्य की आत्मा है'—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। पर हमें इसे भी नहीं भूल जाना चाहिए कि वे रीति को काव्य की आत्मा नहीं मानते, प्रत्युत रस को मानते हैं। आचार्य शुक्ल भी रसवादियों की ही श्रेणी में आते हैं। अभिप्राय यह कि वे काव्य की रीति के समर्थक तो हैं; पर उसे ही उसकी आत्मा नहीं स्वीकार करते। उनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रस ही है।

अब विचारणीय यह है कि 'रस व्यङ्ग्य होता है' अथवा व्यञ्जना में अर्थात् व्यञ्जक वाक्य में रस होता है' जिस (प्रथम) पक्ष का आचार्य शुक्ल

ने विरोध किया है उसमें तथा उनके पक्ष में हमें कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि उन्होंने काव्य में जिस उक्ति का प्रतिपादन किया है, उसका विरोध प्राचीन रसवादी वा ध्वनिवादी करते नहीं दिखाई पड़ते। वे भी काव्य-कला को तो स्वीकार करते ही हैं, इसी के द्वारा रस की व्यंजना होती है, अर्थात् व्यंजक काव्यमय वाक्यों से रस, जो व्यंग्य है, की प्रतीति होती है। ध्यानपूर्वक विचार करने पर विदित होता है कि रसवादी सम्प्रदाय भी आचार्य शुक्ल की भाँति ही काव्य की उक्ति की मान्यता अस्वीकार नहीं करता, वह काव्यगत भाव की व्यंजना को रस मानता है, जो उक्ति द्वारा साध्य है। 'रस व्यंग्य है' इसका अर्थ आचार्य शुक्ल यह लेते हैं कि काव्य में जिस भाव की व्यंजना होती है वही भाव रस है, काव्य में शृंगार की व्यंजना हुई, तो प्रेम भाव रस हुआ। इस पक्ष के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि काव्य में वर्णित प्रेम का अनुभव पाठक, श्रोता वा दर्शक उसकी व्यंजना होने पर प्रेम भाव के ही रूप में करता है, क्योंकि रस रूप में प्रेम-भाव का व्यंग्य होना रस वा काव्य-संभार वा उपकरण के द्वारा श्रोता, पाठक वा दर्शक पर इस भाव के समन्वित प्रभाव ( टोटल इंप्रेसन ) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यंजक वाक्यों की रस-रूप में अनुभूति भी इसी प्रभाव के ढंग की ही होती है। इस प्रकार हमें विदित होता है कि जिस रसवाद का आचार्य शुक्ल ने विचार किया है वह भी विचारणीय है।

**व्यंजना की प्रक्रिया**

ऊपर काव्यानुभूति की चर्चा के साथ रस वा भाव-व्यञ्जना और वस्तु-व्यञ्जना की बात आई है। यहाँ इसे भी देख लेना चाहिए कि इन व्यञ्जनाओं की प्रक्रिया क्या है, क्योंकि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने पर ही व्यंजना होती है। बोध की जिस प्रक्रियावश वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचा जाता है, उसे दृष्टि में रखकर व्यंजना के दो रूप निर्धारित किए गए हैं—संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम। वस्तु-व्यंजना संलक्ष्यक्रम की प्रक्रिया से और भाव-व्यंजना असंलक्ष्यक्रम की प्रक्रिया से होती है। व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट (जो नैयायिक थे) ने व्यंजना पर विचार करते हुए कहा है कि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया अनुमान द्वारा होती है। विचार करने पर विदित होता है कि वस्तु-व्यंजना में महिम

भट्ट द्वारा प्रतिपादित अनुमान का कोटि-क्रम सटीक उतरता है, पर भाव-व्यंजना में यह लागू नहीं होता, क्योंकि भाव वा रस की व्यञ्जना में श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को सुन, पढ़ वा देखकर अनुमान करने के पश्चात् उसका ( भाव वा रस का ) अनुभव नहीं करता, इसमें अनुमान का कोटि-क्रम नहीं लक्षित होता, क्योंकि इसकी व्यजना की प्रक्रिया बड़ी ही तीव्र गति से अपना कार्य-सम्पादन करती है। श्रोता, पाठक वा दर्शक काव्य को सुनने, पढ़ने वा देखने के साथ ही तुरत व्यंजना की कोटि पर पहुँच जाता है। उसके मन में अनुमान की प्रक्रिया होती तो है पर इतनी तीव्रगति से कि उसका पता नहीं चलता। इसी से भाव-व्यंजना असंलक्ष्यक्रम व्यजना के अन्तर्गत रखी गई है*। आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है कि वस्तु-व्यंजना में तो अनुमान की प्रक्रिया उचित प्रतीत होती है, पर भाव-व्यंजना में नहीं।—( देखिए इंदौरवाला भाषण, पृ० १० )। वस्तुतः बात यह है कि वस्तु-व्यजना मे जैसे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचा जाता है वही बात भाव-व्यजना वा रस व्यजना में नहीं होती। भाव-व्यजना में हृदय किसी तथ्य के बोध से चमत्कृत नहीं होता, प्रत्युत उस भाव वा रस में लीन होता है। अतः भाव-व्यजना वस्तु-व्यजना की भाँति अनुमानाश्रित नहीं।

**रस की कोटियाँ**

रस वा रसानुभूति का सत्स्वरूप सर्वतः पूर्ण ( अब्सोल्यूट ) मानना चाहिये। उसमें भेद करके उसकी श्रेणी ( डिग्री ) स्थापित करना उसकी पूर्णता और अखंडता से छेड़खानी करना ही होगा। ज्ञान के क्षेत्र में जैसे ब्रह्म अखंड और पूर्ण ( इंडिभिजिबल ऐंड अब्सोल्यूट ) है वैसे ही साहित्य वा काव्य के क्षेत्र में रस वा रसानुभूति को भी अखंड और पूर्ण स्वीकार किया जा सकता है। प्रतीत ऐसा होता है कि इसी अखंडता और पूर्णता की मान्यता के कारण ही प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने इसकी श्रेणियाँ नहीं स्थापित कीं। इसकी अनुभूति की इस पूर्णता और अखंडता को ही हम इसका महत्त्व मानते हैं, क्योंकि

* इस विषय में विशेष अभिज्ञता के लिए देखिए—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श', पृ० १३५—१३७।

यह स्वतः अपने में पूर्ण है । यद्यपि वस्तुस्थिति ( रीयलिटी ) यह है तथापि काव्य वा साहित्य के पठन-पाठन द्वारा विदित होता है कि रस की पूर्ण अनुभूति के अतिरिक्त हमें कुछ अनुभूतियाँ ऐसी भी होती हैं जो इससे ( रसानुभूति से ) निम्न श्रेणी में रखी जा सकती हैं । आचार्य शुक्ल ने इसी अनुभव के आधार पर रस की श्रेणियाँ नियत की हैं । उनकी तो यह धारणा है कि "दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण-ग्रंथों की रस-पद्धति के भीतर ही, सूक्ष्मता से विचार करने से, मिलती हैं…( १ ) जिस भाव की व्यंजना हो उसी में लीन हो जाना । ( २ ) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन तो न होना; पर उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना ।"—( देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५९–६० ) । द्वितीय प्रकार की अनुभूति वा प्रभाव को वे मध्यम कोटि में रखते हैं । कहना न होगा कि भाव-व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से यह अनुमोदन काव्य-प्रशंसा ( पोयटिक अप्रेसिएशन ) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो श्रोता, पाठक या दर्शक की काव्य के प्रति मुग्धता का परिणाम होता है ।

रस की कोटियाँ स्थापित करने के लिए आचार्य शुक्ल की दृष्टि में कई कारण उपस्थित थे । उनका कथन है कि यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय

**भाव की क्षणिक दशा**

तो भाव की तीन दशाएँ निर्धारित होती हैं—क्षणिक दशा, स्थायी दशा और शील-दशा । उनका मत है कि "किसी भाव की क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति होती है" और इसकी अनुभूति मुक्तक रचनाओं में की जाती है । आचार्य शुक्ल भाव की क्षणिक दशा का संबंध मुक्तक रचनाओं से ही जोड़ते हैं ।

भाव की स्थायी दशा के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि वह "अनेक अवसरों पर एक ही आलंबन के प्रति होती है ।" इसकी स्थिति वे

**भाव की स्थायी और शील-दशा**

प्रबंध-काव्यों में बतलाते हैं । शील दशा के विषय में उनका कथन है कि वह "अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति होती है ।" इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण में होती है ।—( देखिए इंदौरवाला भाषण पृ० ८४–८५ ) । भाव की शील-दशा की अनुभूति को आचार्य शुक्ल रसानुभूति की मध्यम कोटि

मानते हैं, जिस पर प्राचीन भारतीय समीक्षकों ने विचार नहीं किया है। आचार्य शुक्ल की इस पर अपनी मौलिक विवेचना है।

हमें यह विदित है कि रसानुभूति के लिए आचार्य शुक्ल और प्राचीन समीक्षक भी श्रोता, पाठक या दर्शक का काव्य-वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलंबन के साथ उनका साधारणीकरण आवश्यक रस की मध्यम कोटि बतलाते हैं । इस स्थिति में की गई रसानुभूति तो उत्तम कोटि की होगी । आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि इसके अतिरिक्त एक मध्यम कोटि की भी रसानुभूति होती है जिसमें "किसी भाव की व्यंजना करनेवाला; कोई क्रिया वा व्यापार करनेवाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता ( या दर्शक ) के किसी भाव का - जैसे, श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलंबन होता है।" – ( चिंतामणि, पृ० ३१४ ) । रस की इस स्थिति में श्रोता, पाठक वा दर्शक के हृदय में उस भाव का उद्बोधन नहीं होता जिस भाव की व्यंजना आलंबन-रूप में आया पात्र किसी अन्य पात्र के प्रति करता है; अर्थात् श्रोता, पाठक वा दर्शक का हृदय आलंबन के रूप में चित्रित पात्र के हृदय से भिन्न स्थिति में वर्तमान रहता है । इसे यों कहिए कि आलंबन के साथ साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य रस की इस कोटि में नहीं होता; श्रोता, पाठक वा दर्शक किसी दूसरे ही भाव का अनुभव करता है और आलंबन व्यंजना करता है किसी दूसरे ही भाव की. । "ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा।"—( चिंतामणि, पृ० ३१४ ) ।

यह हम देख चुके हैं कि रसानुभूति के लिए आश्रय के साथ श्रोता, पाठक वा दर्शक का तादात्म्य तथा आलंबन के साथ उसका साधारणीकरण आवश्यक है । प्रत्यक्षतः तो नहीं पर परोक्षतः रस की मध्यम दशा में भी यह बात देखी जाती है । यह तो स्पष्ट है कि रस की इस कोटि में भी भाव-व्यंजना करनेवाले पात्र के प्रति श्रोता, पाठक वा दर्शक का कोई भाव अवश्य उद्बुद्ध रहता है; अर्थात् काव्य में वर्णित भाव का आश्रय श्रोता, पाठक वा दर्शक

का आश्रय नहीं होता, प्रत्युत वह उसका आलंबन हो जाता है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि ऐसी स्थिति में "तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलंबन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबस रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है।"—( चिन्तामणि; ३१५ )। आलंबन और आश्रय की इस प्रकार स्थापना के पश्चात् साधारणीकरण और तादात्म्य की प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती दिखाई पड़ती। इतने विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि रस की मध्यम कोटि की अनुभूति का सम्बन्ध काव्यगत पात्रों के चरित्र-चित्रण वा शील-निरूपण से ही विशेष है। कुपात्र जब सुपात्र के प्रति ऐसे भाव की व्यंजना वा कार्य-व्यापार ( हरकत ) करता है जैसे का वह ( सुपात्र ) पात्र नहीं होता तब कुपात्र के प्रति विरोधी भाव तथा सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव का उद्बोधन श्रोता, पाठक या दर्शक के हृदय मे होता है। ऐसी स्थिति में जब काव्यगत तीसरा पात्र आकर कुपात्र के प्रति विरोधी भाव की व्यजना कर सुपात्र के प्रति अनुकूल भाव की व्यञ्जना करता है तब श्रोता, पाठक या दर्शक को 'अपूर्व तुष्टि' होती है। यह तुष्टि ही रस की मध्यम कोटि है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से रस की इस कोटि के विषय में एक बात और कहनी है, वह यह कि इसमें "श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है"; और रस की उच्च कोटि की अनुभूति में वह "...अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।"—(चिंतामणि, पृ० ३१६ )। आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित रस की मध्यम कोटि की अनुभूति पर सम्यक् रूप से विचार करने पर स्पष्टतः विदित हो जाता है कि उनका पक्ष सटीक है और इस अवस्था मे भी रस की-सी ही अनुभूति होती है—पर अनुभूति की मात्रा कुछ कम रहती है। इस अवस्था में काव्य हृदय पर ऐसा प्रभाव डालता है जिसके द्वारा उसका ( हृदय का ) अपूर्व प्रसादन वा तुष्टि होती है। वस्तुतः रस की इस कोटि का सम्बन्ध हृदय की तुष्टि से ही समझना चाहिए।

आचार्य शुक्ल रस की एक निकृष्ट दशा की भी मान्यता स्वीकार करते जान पड़ते हैं, जिसके अन्तर्गत वे चमत्कारवादियों के कुतूहल को रखना चाहते हैं।

**रस की निकृष्ट कोटि**

उनका कथन है—"चमत्कारवादियों के कुतूहल को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।"—( इन्दौरवाला भाषण, पृ० ८६ )।

रस-विषयक सभी सामान्य ( कॉमन और जनरल ) विषयों की विवेचना हम प्रस्तुत कर चुके हैं। इन्हें दृष्टि-पथ में रखकर अब 'रसात्मक बोध के विविध रूप' पर विचार करना है।

**स्मृत और प्रत्यक्ष रूप-विधानों द्वारा भी रस-प्रतीति**

रसानुभूति का क्षेत्र काव्य और प्रत्यक्ष है, इसका निर्देश आरंभ में हो चुका है, और यह भी हमें विदित है कि काव्य हमारे संमुख मूर्ति, चित्र वा रूप ही रखता है—'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'—का तात्पर्य यही है काव्यगत इस मूर्ति, चित्र वा रूप का आधार क्या है, इसका मूल क्या है विचार करने पर विदित होता है कि काव्यगत चित्रों वा रूपों के आधार 'देखी सुनी बहु लोक की बातें' ही हैं। हम ज्ञानेंद्रियों द्वारा किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष किए हुए विषयों को ही काव्य में उपस्थित करते हैं। देखना यह है कि इन्हें किन रूपों में उपस्थित करते हैं। अब यह तो स्पष्ट है कि काव्यगत रूप-विधान का मूलाधार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष विषय ही है। प्रायः होता यह है कि जब कवि इन प्रत्यक्ष विषयों या रूपों का विधान करने बैठता है तब उसे इन्हें काव्य में उपस्थित करने के लिए काव्य के दो प्रधान साधनों का अवलम्ब लेना पड़ता है। वे साधन वा उपकरण हैं—स्मृति और कल्पना। कभी वह किसी देश-काल में प्रत्यक्ष किए हुए वा अनुभूत रूपों को स्मृति के सहारे काव्य में ज्यों का त्यों रख देता है और कभी इन्हें अपनी कल्पना द्वारा कुछ घटा-बढ़ा कर प्रत्यक्ष से कुछ भिन्न वा नवीन रूप में चित्रित करता है। इन उपकरणों के आधार पर प्रस्तुत रूपों की प्रक्रिया को हम 'स्मृत रूप विधान' और 'कल्पित रूप विधान' कह सकते हैं; और जिस प्रत्यक्ष के आधार पर ये दो रूप-विधान हुए हैं उसको 'प्रत्यक्ष रूप-विधान'। स्मरण यह रखना चाहिए

कि स्मृति और कल्पित रूपविधानों का संबंध अभ्यंतर से है और प्रत्यक्ष रूप-विधान का वाह्य से। भारत के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों की धारणा यह है कि इनमें से केवल कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति होती है। आचार्य शुक्ल की मान्यता वा सिद्धांत ( थीयरी ) यह है कि कल्पित रूप-विधान द्वारा रसानुभूति तो होती ही है स्मृत और प्रत्यक्ष रूप विधानों में भी यह शक्ति होती है कि वे रस-प्रतीति करा सकें। प्राचीन आचार्यों ने केवल कल्पित रूप-विधान में ही रसानुभूति क्यों मानी है, इस पर विचार हो चुका है।

'प्रत्यक्ष' से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय चक्षु-विषयक रूप से ही नहीं है प्रस्तुत इसके ( रूप के ) अंतर्गत अन्य ज्ञानेंद्रियों के विषय शब्द, गंध, रस और स्पर्श भी हैं। कवि-गण इनकी भी योजना अपने काव्य में किया करते हैं।

**प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूतियों द्वारा रसानुभूति**

प्रत्यक्ष रूप-विधान में रसात्म बोध कराने की शक्ति होती है वा उनके द्वारा रसानुभूति होती है; इस विषय मे आचार्य शुक्ल का प्रतिपाद्य यह है कि "जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलंबनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलंबनों के संबंध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलंबनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का होता है।"—( देखिए चिंतामणि, पृ० ३३७-३३८ )। हम पहले ही पर इस विचार कर चुके हैं कि आचार्य शुक्ल जीवन की प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूति तथा काव्यगत रसानुभूति में कोई अंतर नहीं स्वीकार करते, ऐसी स्थिति में जगत् और जीवन के वास्तविक वा प्रत्यक्ष लोक-सामान्य आलंबनों के उपस्थित होने पर रस-दशा की भाँति दर्शक के व्यक्तित्व का कुछ क्षणों के लिए उसमे ( आलंबन में ) लय हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। "अतः इस प्रकार की प्रत्यक्ष वा वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अंतर्गत मानने में कोई बाधा नहीं।"—( चिंतामणि, पृ० ३३७ )।

जिस प्रकार जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति को आचार्य शुक्ल रसात्मक बोध के समकक्ष प्रतिष्ठित करते हैं उसी प्रकार उनका प्रतिपाद्य यह भी है कि जीवन में

**स्मृति द्वारा रसानुभूति**

घटित वास्तविक स्मरण या स्मृति, जो किसी काव्य में वर्णित नहीं होती, भी रसात्मक अनुभूति उत्पन्न करने में समर्थ होती है। उनकी धारणा है कि अतीत में प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं के वास्तविक स्मरण द्वारा भी कभी कभी हम हृदय की उस स्थिति में पहूँचते हैं जहाँ केवल शुद्ध भाव का ही अनुभव होता है, जहाँ हम अपने-पराये भेद-भाव से छूटे रहते हैं।

स्मृति के दो रूप हमारे संमुख आते हैं, एक विशुद्ध स्मृति और दूसरी प्रत्यक्षाश्रित स्मृति वा प्रत्यभिज्ञान। साहित्य-ग्रंथों में 'स्मरण' संचारी भाव माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्थायी भाव के सम्बन्ध से आए स्मरण की अनुभूति रसकोटि की होगी, किसी भूली बात का स्मरण वा कहीं रखी हुई वस्तु का स्मरण रसात्मक न होगा। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि प्रायः रति, हास और करुण से संबद्ध स्मरण ही रसात्मक बोध उत्पन्न करने की शक्ति रखता है। वे कहते हैं—"प्रिय का स्मरण बाल्यकाल या यौवन-काल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण ऐसा ही होता है।"—(चिंतामणि, पृ० ३४६)। रति हास और करुणा के आलंबनों के अतिरिक्त अन्य भावों के आलंबनों के स्मरण में भी आचार्य शुक्ल रसात्मकता स्वीकार करते हैं। पर इस स्थिति में ऐसे आलंबन का होना आवश्यक है जो किसी व्यक्ति विशेष की भाव-सत्ता से नहीं, प्रत्युक्त संपूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से संबद्ध हो।

अपनी प्रिय वस्तु और व्यक्ति की स्मृति तो 'मधु में लिपटी हुई' आती ही है, जिस वस्तु और व्यक्ति से हमारा संबंध अतीत में रुचिकर और घनिष्ठ नहीं होता देश-काल के व्यवधान के कारण उनकी स्मृति भी माधुर्य लिए हुए आती है। 'इस माधुर्य का रहस्य क्या है ?' आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जो हो हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारी यह काल-यात्रा, जिसे जीवन कहते हैं, जिन जिन रूपों के बीच से होती चली आती है, हमारा हृदय उन सबको पास समेटकर अपनी रागात्मक सत्ता के अंतर्भूत करने का प्रयत्न करता है। यहाँ से वहाँ तक वह एक भाव-सत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है।"—(चिंतामणि, पृ० ३४७)।

यह तो सत्य है कि प्रिय वस्तु और व्यक्ति का स्मरण या उनकी स्मृति मधुमय होती है। कल्पनाशील व्यक्ति स्मृति की प्रवणता के कारण कभी-कभी अतीत से संबद्ध वस्तु-व्यक्ति को अंतःपट पर लाकर उनसे मिलन का-सा रसात्मक अनुभव करता हुआ उसमें लीन रहता है। प्रश्न यह है कि अरुचिकर वा अप्रिय वस्तु-व्यक्ति की स्मृति मधुमय होती है अथवा नहीं। अप्रिय, अरुचिकर वा ऐसी वस्तुएँ जिनसे हमारा विशेष संबंध अतीत काल में नहीं रहता उनका स्मरण देश काल के व्यवधान पड़ने पर रसात्मक अवश्य होता है और इसका कारण प्रतीत होता है उनसे देशकालगत विरह के कारण हल्का अवसाद, जो ( अवसाद ) परिस्थितिवश अवदात वा प्रिय लगता है। अतीत में जिन व्यक्तियोंसे हम 'चिढ़ते या लड़ते झगड़ते थे' उनमें से उन्हीं की स्मृति का अनुभव हम रससिक्त रूप में करते हैं जिनका संबंध हमसे इस रूप में होते हुए भी प्रिय का-सा अपरिहार्य और स्वाभाविक वा 'हेतुज्ञानशून्य' होता है। शत्रु का स्मरण हमें मधुर नहीं लगता। यहाँ हम उन व्यक्तियों की चर्चा नहीं कर रहे हैं जो ऋषि मुनिवत् होते हैं, सांसारिकों की बात कह रहे हैं। देश-काल के व्यवधान के कारण शुद्ध हृदयवाला व्यक्ति शत्रु की स्मृति का अनुभव भी रसात्मक रूप में कर सकता है यदि वह ( शत्रु ) करुणा वा हास का आलंबन बने। यहाँ इसका ध्यान अवश्य रहना चाहिए कि स्मरणकर्ता विशुद्ध हृदयवाला व्यक्ति हो।

**प्रत्यभिज्ञान द्वारा रस-बोध**

स्मृति के दूसरे रूप प्रत्यभिज्ञान में भी—जो प्रत्यक्ष के आधार पर स्थित रहता है, जिनमें प्रत्यक्ष का अंश न्यून रहता है और स्मरण का अंश अत्यधिक—काव्य की भाँति ही रसात्मक बोध कराने की तीव्र शक्ति होती है। किसी वस्तु और व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर उनसे संबद्ध अतीत के अनेक व्यक्ति, व्यापार, भाव, विचार आदि का स्मरण हो आता है, यही प्रत्यभिज्ञान वा पहचान है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया द्वारा रस-संचार का विधान वक्ता और कविगण भी किया करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रायः सुख-समृद्धि के पश्चात् दुःख दारिद्र्य, दैन्य आदि की दशा के आधार पर प्रत्यभिज्ञान का विधान विशेष कारुणिक होता है।

ऊपर रसात्मक विशुद्ध स्मृति और प्रत्यभिज्ञान की विवेचना हुई है, जिनमें रसात्मकता का प्रधान कारण अतीत में प्रत्यक्षीभूत वस्तु, व्यक्ति, व्यापार आदि होते हैं। आचार्य शुक्ल 'स्मृत्याभास कल्पना' में भी रस-

**स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रस-संचार**

संचार करने की शक्ति स्वीकार करते हैं। यह स्मृत्याभास कल्पना है क्या ? इससे आचार्य शुक्ल का अभिप्राय है उस प्रकार की कल्पना का "जो स्मृति वा प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।"—(चिंतामणि, पृ० ३५०)। इस प्रकार से प्रयुक्त स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का संबंध अतीत में देखे वस्तु-व्यक्तियों से नहीं, प्रत्युत या तो भूतकाल में सुने या पढ़े गए वस्तु-व्यक्तियों से अथवा अनुमान द्वारा पूर्णतः निश्चित वस्तु व्यक्तियों से होता है। अभिप्राय यह कि इस प्रकार के रसात्मक बोध में भूतकाल की प्रत्यक्षीभूत बातों का आधार नहीं लिया जाता, इनमें ऐसी बातों का आधार होता है जो या तो कहीं सुनी गई हैं वा पढ़ी अथवा जो पूर्णतः अनुमित हैं। इस प्रकार के रसात्मक बोध की प्रक्रिया में कल्पना का प्रमुख हाथ होता है, यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए। स्मृति द्वारा रस-संचार होता है, यह तो हमें विदित है। आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार "अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की-सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का सा रूप ग्रहण करती है।"—( चिंतामणि, पृ० ३५०–३५१ )। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि से स्मृति और अतीत की कल्पना में, भावुकों के लिए, कोई भेद नहीं है, दोनों का प्रभाव उन पर समान रूप से पड़ता है। स्मृतिस्वरूपा स्मृत्याभास कल्पना के मार्मिक प्रभाव का कारण वे यह बतलाते हैं कि वह सत्य के आधार पर स्थित है। यहाँ 'सत्य' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य 'केवल वस्तुतः घटित वृत्त' से ही नहीं प्रत्युत 'निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त' से भी है। कहना न होगा कि इस 'निश्चयात्मकता से प्रतीत वृत्त' का आधार वह 'विश्वास' होता है जिसके मूल में परंपरा से सुनी और पढ़ी बातें निहित रहती हैं। पर निश्चयात्मकता में सर्वथा विपरीत प्रमाणों द्वारा धक्का लगने पर सजीव कल्पना न जागरित होगी। स्मृतिस्वरूपा कल्पना जगने के लिए यह आवश्यक है कि चाहे आप्त वचन वा इतिहास द्वारा अपुष्ट

वृत्त ही हो, पर कल्पना के आश्रय को उस पर विश्वास होना चाहिए। ऊपर हम देख चुके हैं कि स्मृत्याभास कल्पना का आधार दो वस्तुएँ होती हैं, एक तो सुनी या पढ़ी बातें, जिनका संबंध आप्त वचन वा इतिहास से होता है और दूसरा शुद्ध अनुमान।

आचार्य शुक्ल के इस पक्ष का निर्देश हम कर चुके हैं कि स्मृत्याभास कल्पना द्वारा भी रसात्मक अनुभूति होती है। इतिहास ( आप्त शब्द वा वचन )

**इतिहासाश्रित स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति**

के आधार पर स्थित इस कल्पना में भी यह ( रसात्मक अनुभूति ) निहित है। इतिहास वस्तुतः अतीत मानव तथा उसके जीवन में घटित अनेक क्रिया कलापों का संग्रह ही है। जैसे एक व्यक्ति का अतीत से संबंध होता है वैसे ही इतिहास का संबंध समष्टिगत मानव से है। इतिहास को पूर्णतः ( एज ए होल ) ग्रहण करने से विदित होता है कि वह अतीत के अनेक नर-जीवन का समष्टि रूप है, जैसा कि व्यक्तिगत अतीत नर जीवन का संबंध व्यष्टि से होता है। हमें यह भी विदित है कि अतीत की स्मृति रसात्मक होती है, अतः अतीत से संबद्ध इतिहास के संकेत पर चलती स्मृत्याभास कल्पना में भी रस-संचार की शक्ति की मान्यता आचार्य शुक्ल द्वारा अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होती। जैसे अतीत की स्मृति में मानव-हृदय को लीन करने की शक्ति होती है वैसे ही इतिहास पर आश्रित स्मृति की समानधर्मिणी कल्पना में भी समष्टि रूप में अतीत नर-जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता है।

कभी-कभी यह कल्पना प्रत्यभिज्ञान का रूप धारण करके भी मार्मिकता की सृष्टि करती है। जैसे इतिहास के व्यक्ति, वस्तु, व्यापार आदि को कल्पना

**प्रत्यभिज्ञानाश्रित स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रस-संचार**

में लाकर हम उनमें लीन होते हैं, वैसे ही किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थल का दर्शन कर हम उस स्थल के व्यक्ति, वहाँ घटित घटनाओं आदि का कल्पना के साहाय्य से स्मरण करके उनमें लीन होते हैं और रस को अनुभव करते हैं। इस प्रत्यभिज्ञान द्वारा रसानुभूति के लिए सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन, गहरी भावुकता तथा तीव्र कल्पनाशक्ति अपेक्षित है, जिसके द्वारा

अधिक ऐतिहासिक ब्योरे का मूर्तविधान होगा, जिनमें तादात्म्य की क्षमता होती है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि "आप्त वचन या इतिहास के संकेत पर चलनेवाली कल्पना या मूर्त भावना अनुमान का भी सहारा लेती है।"—(चिंतामणि, पृ० ३५३)।

इतिहास पर आधृत स्मृत्याभास कल्पना और प्रत्यभिज्ञानाधृत स्मृत्याभास कल्पना पर विचार हुआ। अब उस स्मृत्याभास कल्पना का विचार करना है जो शुद्ध अनुमान के आधार पर चलती है। यहाँ इसका संकेत शुद्ध अनुमानाश्रित कर देना आवश्यक है कि अनुमान बिना प्रत्यक्ष व्यक्ति, वस्तु आदि के नहीं हो सकता, अतः इस कल्पना में भी स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया अपेक्षित है। किसी अपरिचित ध्वंसावशेष को देखकर भावुक व्यक्ति उसमें घटित अतीत क्रीडा-कलरव हास-विलास, चहल-पहल आदि का अनुभव अनुमानाश्रित कल्पना के आधार पर करता है और उसमें लीन होता है। पहले किसी अपरिचित प्रत्यक्ष वस्तु का दर्शन होता है, फिर इसी प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर अनुमान का सहारा ले कल्पना रूप-विधान करती है, जिसमें हृदय लीन होता है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट है कि अनुमानाश्रित प्रत्यभिज्ञानरूपा कल्पना रस-संचार के उपयुक्त है। आचार्य शुक्ल कहते हैं कि इस प्रकार खड़े "रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलंबन होते हैं उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई सम्बन्ध नहीं अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।"—(चिंतामणि, पृ० ३५३)।

ऊपर 'स्मृत रूप-विधान' की रसात्मकता का विवेचन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध प्रधानरूपेण अतीत से ही है। प्रश्न उठता है कि क्या अतीत वृत्त में रसात्मकता की स्थिति है? आचार्य शुक्ल कहते हैं—हाँ। उनके मत्यनुसार अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकर्षण है, वह मुक्ति लोक है, जहाँ मानव अनेक बंधनों से छूटकर अपने विशुद्ध रूप में विचरता है। और हम यह देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल हृदय की मुक्तावस्था को ही रसानुभूति की अवस्था मानते हैं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष तथा स्मृत रूप-विधान में भी रसात्मक बोध की शक्ति है, जो आचार्य शुक्ल की मौलिक मान्यता है।

रसात्मक बोध के एक और रूप की विवेचना करनी है। आचार्य शुक्ल के प्रकृति-प्रेम की चर्चा हम कई स्थलों पर कर चुके हैं। वे काव्य में यथातथ्य

**प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन द्वारा रस बोध**

संश्लिष्ट प्रकृतिवर्णन के कितने बड़े समर्थक हैं, यह बात किसी पर अप्रकट नहीं है। उनकी धारणा है कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन तथा काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन दोनों में रसात्मक बोध की क्षमता विद्यमान है। यह तो सर्वमान्य है कि आज की नागरिक सभ्यता ग्राम, वन, पर्वत आदि प्रकृति की विभूति में बसकर इस रूप में दिखाई पड़ रही है। अभिप्राय यह कि आज के नगर-निवासियों के पूर्वज कभी ग्राम, वन, पर्वत पर निवास करते थे, जहाँ प्रकृति का साम्राज्य तब भी छाया रहता था और वह ( साम्राज्य ) अब भी किन्हीं रूपों में अक्षुण्ण है। निष्कर्ष यह कि प्रकृति से हमारा साहचर्य बहुत ही प्राचीन है। साहचर्य द्वारा हेतुज्ञानशून्य प्रेम की सृष्टि होती है। अतः प्रकृति से हमारे प्रेम की स्थापना स्वाभाविक है। आचार्य शुक्ल का कथन है कि प्रकृति-प्रेम हमारे अन्तःकरण में वासना के रूप में वंशपरम्परा से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का, हमारे प्रेमभाव का आलंबन होकर, रसानुभूति कराना स्वाभाविक ही है।

ऊपर हमने कहा है कि आचार्य शुक्ल प्रकृति को लेकर दो स्थितियों में रसानुभूति का प्रतिपादन करते हैं, एक प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन मे और दूसरे काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति वर्णन में। प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभूति प्रत्यक्ष रूपविधान में रसानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं। यहाँ इस विषय में यह उद्धरण ही अलम् होगा—"मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत-से ऐसे साधु देखे हैं, जो लहराते हुए हरे-भरे जगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चोकड़ी भरते हुए हिरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों को देख मुग्ध हो गए है। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकंठों ( मोरों ) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृश्यों को

देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है, और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )।

**काव्यगत यथातथ्य-संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण द्वारा रस-बोध**

अब काव्यगत प्रकृति वर्णन में रसात्मक बोध उत्पन्न करने की क्षमता पर विचार करना है। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन में रसानुभुति की प्रक्रिया के अंतर्गत प्रकृति दर्शक के रति-भाव का आलंबन है। प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण जब काव्य में होगा तब भी प्रकृति कवि के रति-भाव का आलंबन रहेगी, क्योंकि वह (कवि) उसके प्रति प्रेम के कारण ही उसका वर्णन करता है; और जब पाठक वा श्रोता इस को पढ़े वा सुनेगा तब उसके लिए भी यह आलंबन ही रहेगी, भाव का आश्रय वह, कवि की भाँति, स्वयं होगा। तात्पर्य यह कि कवि, पाठक और श्रोता तीनों की दृष्टि से प्रकृति आलंबन ठहरती है। यहीं उन विषयों का भी समाधान हो जाना चाहिए जो प्रकृति को आलंबन के रूप में ग्रहण करने पर उठ सकते है। पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब रसानुभूति के लिए विभावपक्ष—आश्रय और आलंबन—के पूरे चित्रण की आवश्यकता साहित्य-शास्त्र में उल्लिखित है तब केवल आलंबन के चित्रण द्वारा रसानुभूति कैसे होगी। इस विषय में आचार्य शुक्ल का कथन यह है कि प्रकृति को लेकर विभाव, अनुभाव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यन्जना भी हो सकती है, पर "मैं आलंबनमात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव ( भावानुभव सही ) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )। उनका मत है कि यदि ऐसा न माना जायगा तो 'नायिका भेद' और 'नखशिख' के सैकड़ों ग्रंथों की रचना व्यर्थ समझनी पड़ेगी, जिनमें आलंबन वा उसके किसी अंग मात्र का ही वर्णन होता है। विचार करने पर आचार्य शुक्ल का पक्ष बहुत सटीक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कवि आश्रय के रूप में अपने को स्थित करके उनका वर्णन तो करता ही है श्रोता और पाठक भी उनको पढ़ते समय या तो स्वयं आश्रय बन जाता है अथवा किसी आश्रय की कल्पना कर लेता है। साहित्य-शास्त्र के

ंथों में रस के सभी अवयवों की नियोजना के पश्चात् रस निष्पत्ति की स्थापना का भी कारण है। वह यह कि रस-सिद्धांत की विवेचना करते समय आचार्यों के संमुख दृश्यकाव्य ही थे, जिनमें रस के सभी अवयवों की नियोजना हो सकती है। पर पाठ्य-काव्यों द्वारा भी रसानुभूति होती है जिनमें कभी-कभी आलंबन के चित्रण मात्र से रस-निष्पत्ति हो सकती है, क्योंकि इस अवस्था में पाठक या श्रोता आश्रय का आक्षेप कर लेता है। अतः इस विषय में आचार्य शुक्ल की स्थापना (थीयरी) युक्तिसंगत है।

प्रकृति को आलंबन-रूप में ग्रहण करने में दूसरे विवाद की आशंका यह है कि साहित्य-शास्त्रों में प्रकृति उद्दीपन के रूप में ही गृहीत है, आलंबन के रूप में नहीं, अतः यह सिद्धांत उचित नहीं। ऐसे लोगों का पक्ष यह है कि आलम्बन का चेतनायुक्त या सजीव होना आवश्यक है, जिससे वह आश्रय के भावों का ग्रहण (रिस्पांस) कर सके, और प्रकृति जड़ है। ऐसी स्थिति में रसानुभूति संभव नहीं। आचार्य शुक्ल के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि बीभत्स रस में घृणा का आलम्बन जड़ भी होता है और उसके द्वारा रस-प्रतीति होती है, अतः आलम्बन के जड़त्व को लेकर विवाद उपस्थित करना ठीक नहीं। कहना न होगा कि यह विवाद भी दृश्यकाव्य को ही लेकर है। फिर प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण में जड़ समझी जानेवाली प्रकृति ही, जिसमें पेड़, पौधे आदि आते हैं, उपयोग में नहीं आती, उसमें उसके सजीव प्राणियों का भी चित्रण मिश्रित रहता है। एक बात और। काव्य के क्षेत्र में वस्तुतः जड़ मानी जानेवाली प्रकृति भी प्रायः जड़ के रूप में नहीं गृहीत होती। प्रकृति पर भावनाओं का आरोप कर कवि-गण जो उसे सजीव बना देते हैं, उसकी विवेचना हम काव्य और प्रकृति पर विचार करते हुए कर चुके हैं। लक्षण ग्रंथों में उद्दीपन के रूप में गृहीत प्रकृति भी सर्वत्र जड़ के रूप में ही चित्रित नहीं होती। वह हँसती, बोलती, सुनती, रूठती-सी भी वर्णित होती है। इस प्रकार हमें विदित होता है कि आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित यह मत कि प्रकृत्ति-दर्शन और वर्णन में रसात्मक बोध की क्षमता है विवेचना करने के पश्चात् ठीक उतरता है।

आचार्य शुक्ल ने रस के कुछ अवयवों पर अपने विचार प्रकट किए हैं,

जो हिंदी की परंपरा के विरुद्ध जान पड़ते हैं। पर उनके तद्विषयक विचार संस्कृत के रस-ग्रंथों से मेल खाते हैं। हिंदी के कुछ रस-चिंतकों ने भी ऐसी बातें कही हैं, जो आचार्य शुक्ल के विचारों के अनुकूल पड़ती हैं। आगे हम इन्हीं पर विचार करें। आचार्य शुक्ल 'हाव' और 'अनुभाव' की भिन्नता प्रतिपादित करते हैं—आलंबन और आश्रय की दृष्टि से। हिंदी के लक्षण-ग्रंथों में इन्हें एक माना गया है—आश्रय की चेष्टा के रूप में। आचार्य शुक्ल का पक्ष यह है कि आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव हैं, और हाव नायिका को रमणीयता देने के लिए अलंकार मात्र हैं। नायिका आलंबन हुआ करती है, उसकी मनोमोहकता बढ़ाने के लिए जो अलंकार वा हाव उसके रूपचित्रण में नियोजित किए जायँगे, वे आश्रय के भावों को उद्दीप्त करेंगे। इसलिए हाव का सीधा संबंध आलंबनगत उद्दीपन से है, आश्रयगत अनुभाव से नहीं।—(देखिए काव्य में रहस्यवाद, पृ० ५८—५९ और गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १०१-१०२)। विचार करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य शुक्ल का पक्ष काव्य शास्त्रानुमोदित है। अनुभाव और हाव की पृथक्-पृथक् विवेचना करने से बात स्पष्ट हो जायगी। इस विषय में विचार के पूर्व यह समझ रखना चाहिए कि लक्षण-ग्रंथों में नायिका प्रायः आलंबन मानी गई है और नायक आश्रय। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि इनमें विपर्यय भी हो सकता है और होता है। भानुभट्ट ने इस विपर्यय को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि कटाक्ष आदि आश्रय के हृदयगत भावों को व्यक्त करने के कारण वा साधन हैं, इस दृष्टि से तो ये अनुभाव हैं। पर आश्रय की इन चेष्टाओं को देखकर आलंबन के हृदय के भाव उद्दीप्त होते हैं, ये चेष्टाएँ आलंबन के भावों का विषय बनती हैं, इस दृष्टि से कटाक्ष आदि चेष्टाएँ उद्दीपन हैं।*

**हाव और अनुभाव की भिन्नता**

---

* ननु कटाक्षादयः कथमुद्दीपनविभावा न भवन्ति, दृष्टे कटाक्षादौ कामिनीमनोविकारः परिपूर्णो भवति। अनुभवसिद्धत्वेनापह्नोतुमशक्यत्वात्। किं प्राचीनसंमतिरपि......इत्यादय इति चेत्। सत्यम्, कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपन-विभावत्वम्, तथा चात्मनि रसाऽनुभवकरणत्व

हिंदी में गुलाम नबी ने अपने 'रस-प्रबोध' में इस विषय में ऐसी ही बातें कही हैं॥। अभिप्राय यह कि अनुभाव का संबंध सदैव भाव के आश्रय से होता है, इसमें किसी प्रकार विपर्यय नहीं उपस्थित होता। अनुभाव विषय-भेद से उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया जाय, यह दूसरी बात है। आलंबनकी चेष्टाएँ कभी अनुभाव के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकती। अनुभाव के विषय मे आचार्य शुक्ल यही कहते हैं।

ऊपर हमने देखा कि हाव को आचार्य शुक्ल आलंबन से संबद्ध उद्दीपन के रूप में ग्रहण करते है, जो उसका आलंबन होता है। वे आश्रय से इसका संबंध नहीं स्वीकार करते। अतः वह अनुभाव के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, जैसा कि हिंदी के लक्षणकार कवि मानते हैं। भानुभट्ट हाव के विषय में वैसी ही बातें कहते हैं, जैसी कि आचार्य शुक्ल। उनका कहना है कि स्त्रियों की शृंगारिक चेष्टाएँ हाव हैं। ये स्त्रियों में स्वभावज हैं। पुरुषों में हाव स्वाभाविक नहीं प्रत्युत औपाधिक हैं†। और इसका हम निर्देश कर चुके हैं कि काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में नायिका आलंबन के रूप में गृहीत होती है। अतः हाव आलंबनगत है, अनुभाव से इसका कोई संबंध नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुभाव और हाव की भिन्नता के विषय में आचार्य शुक्ल का विचार युक्तियुक्त और स्पष्ट है।

---

नायकं प्रति कटाक्षादयोऽनुभावाः। ते च दृष्टिगोचरीभूतः कामिनोर्मनोविकार कारयन्तो विषयत्वेनोद्दीपनविभाव इति।—रसतरंगिणी, तृतीय तरंग।

॥ तन विभचारिन विछिति है, ये सब सात्विक भाव।
भावे परगट करन हित गने जात अनुभाव॥
नारी औ नर करत हैं जो अनुभाव उदोत।
ते वै दूजे और को नित उद्दीपन होत॥ ५७५-७६॥

—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श', पृ० २९८ से उद्धृत।

†नारीणां शृंगारचेष्टा हावः। स च स्वभावजो नारीणाम्। ननु विब्बोकविलासविच्छत्तिविभ्रमाः पुरुषाणामपि संभवन्तीति चेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव। नन्वेवं यदि तासां सदैव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम्, उद्दीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यां नायिकानां हावाविर्भावतिरोभावाविति।—रसतरंगिणी, षष्ठ तरंग।

'उत्साह' आलंबन के विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यता यह है कि वह (आलंबन) "कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है।"—(गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ११३)। शास्त्रीय ग्रंथों में युद्धवीर के आलंबन के रूप में विजेतव्य निर्धारित किया गया है, जो शत्रु हुआ करता है। 'उत्साह' के आलंबन के विषय में आचार्य शुक्ल ने धनुषयज्ञ का प्रसंग लेकर विचार किया है, जहाँ धनुष ही विजेतव्य है। उनका कहना है कि धनुष तो शत्रु की भाँति ललकार नहीं रहा है। अतः उत्साह का आलंबन दुष्कर कर्म होता है। जहाँ तक जड़ आलंबन का संबंध है आचार्य शुक्ल का पक्ष बहुत ही ठीक है, पर चेतन आलंबन के उपस्थित होने पर साहित्यग्रंथों के पक्ष की अवमानना भी नहीं की जा सकती। हाँ, उत्साह का भाव जागरित होने पर कुछ कठिन कार्य करने का लक्ष्य अवश्य होता है, यह बात दूसरी है कि कार्य को हाथ में ले लेने पर वह हमारी शक्ति द्वारा सरल प्रतीत हो।

**उत्साह का आलंबन दुष्कर कर्म**

**संचारी भाव का स्थायी भावत्व**

संचारी भावों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने यह कहा है कि एक संचारी भाव दूसरे संचारी भाव का स्थायी बनकर आ सकता है। उनका मत है कि कोई संचारी भाव विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त होकर स्थायी भाव का-सा अनुभव करा सकता है, पर यह ऐसा स्थायी भाव न होगा जो रसावस्था तक पहुँचा सके। उनके कहने का अभिप्राय यह कि संचारियों के इस प्रकार के विधान द्वारा उनके स्थायी भावों की अनुभूति दबकर उन्हीं की अनुभूति होती है। अतः ये स्वतंत्र रूप से अपना कार्य कर रसावस्था के आस-पास तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। रति के संचारी असूया और अमर्ष को वे इसी कोटि में रखते हैं।—(देखिए जायसी-ग्रंथावली, पृ १२४—२५)। साहित्य-ग्रंथों में भी संचारियों की ऐसी विवेचना हुई है। अतः यह न समझना चाहिए कि उन्होंने परंपरा-विरुद्ध कोई बात कही है।

'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' पर विचार करते हुए आचार्य ने कहा है कि किसी प्रबंध-काव्य के प्रधान पात्र या नायक में कोई मूल

बीजभाव

प्रेरक भाव या बीज भाव की स्थिति रहती है जिसकी प्रेरणा से काव्य का कार्य-व्यापार चलता है। इस बीज की प्रेरणा से ही अन्य भावों का भी स्फुरण होता है। प्रधान पात्रगत इस बीज भाव का कार्य वैसा ही है जैसा कि आश्रयगत स्थायी भाव का, जिससे अनेक संचारी भाव संबद्ध हैं। आचार्य शुक्ल की धारणा है कि बीज भाव प्रायः करुणा और प्रेम होता है। बीज भाव वा मूल प्रेरक भाव की प्रेरणा से कोमल और परुष दोनों प्रकार के भावों की अवतारणा काव्य में हो सकती है, और बीज भावों का संबंध यदि लोक के मंगल विधान से होता है तो परुष वा कठोर भाव भी सुंदर प्रतीत होते हैं। जिस पात्र में इस प्रकार के बीज भाव की स्थापना रहती है उसके साथ श्रोता, पाठक या दर्शक का तादात्म्य होता है, वह उससे सहानुभूति रखता है। यहाँ ध्यान यह रखना चाहिए कि बीज भाव को 'व्यापकता' तथा 'निर्विशेषता'—अर्थात् अधिक से अधिक लोक-मंगल की भावना तथा अपनत्व के अधिक से अधिक त्याग—के कारण ही उसमें तादात्म्य उत्पन्न करने की अधिक से अधिक शक्ति होगी। आचार्य शुक्ल ने इस बीज भाव को साहित्य-ग्रंथों में विवेचित स्थायी भाव और अंगी भाव से भिन्न माना है। इसकी भिन्नता पर विचार कर लेना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बीज भाव द्वारा काव्य के उसी लक्ष्य की सिद्धि होती है, जिसकी रस की मध्यम दशा से, अर्थात् बीज भाव का संबंध काव्यगत शील-चित्रण (कैरैक्टराइज़ेशन) से है, जिसके द्वारा, आचार्य शुक्ल के मत्यनुसार, रस की मध्यम कोटि की अनुभूति होती है। और स्थायी भाव की सफल नियोजना द्वारा रस की पूर्ण दशा वा उत्तम दशा की अनुभुति होती है। इस प्रकार लक्ष्य-भेद से स्थायी भाव तथा बीज भाव में भेद प्रतिपादित किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें भेद की विवेचना स्वयं आचार्य शुक्ल ने नहीं की है। अब अंगी भाव और बीज भाव के भेद पर विचार करना चाहिए। अंगी भाव से आचार्य शुक्ल का अभिप्राय साहित्य-शास्त्र में कथित अंजित (वा प्रधान-रूप में व्यंजित) व्यभिचारी वा संचारी भाव से प्रतीत होता है, जो स्वतंत्र-रूप में भी विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से युक्त हो व्यंजित हो सकता है; और जिसकी अनुभूति श्रोता, पाठक वा दर्शक को रस

की पूर्णावस्था तक नहीं पहुँचाती। इसकी विवेचना हम ऊपर कर चुके हैं।
बीज भाव की अनुभूति रस की मध्यम दशा की अनुभूति है, इसे हम देख
चुके हैं, और इस अंगी भाव की अनुभूति रसावस्था तक जा ही नहीं सकती,
अतः अंगी तथा बीज भाव का भेद लक्ष्यदृष्ट्या स्पष्ट है।

आचार्य शुक्ल के रस-सिद्धांत पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि प्रायः ऐसे ही
विषयों पर रही है जिन पर उनकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं। इसका अभिप्राय
यही है कि उनकी उपज्ञात प्रतिभा ( ओरिजिनल जिनियस ) का उद्घाटन
हो जाय।

हिंदी-आलोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल द्वारा किए गए कार्यों की विवे-
चना करते हुए हमारी दृष्टि यथास्थान इस क्षेत्र में उनके ऐतिहासिक महत्त्व,
उनकी उपज्ञात साहित्य-चिंतना-शक्ति, उनकी विषय-
आलोचना के क्षेत्र विधान-विशिष्टता वा पटुता ( एफिसिएंसी ) तथा ऐसी ही
में आचार्य शुक्ल का उनकी अन्य विशेषताओं पर रही है। आचार्य शुक्ल उन
स्थान आलोचकों में थे जो अपना मौलिक प्रस्थान स्थापित
करते हैं, स्थापित प्रस्थान से चलकर सुलझी बुद्धि और
परिष्कृत हृदय द्वारा साहित्य-चिंतना के शिष्ट लक्ष्य तक पहुँचते हैं, और
निर्णीत लक्ष्य को दृष्टि-पथ में रखकर इतना प्रभूत और मान्य ( कन्विंसिंग )
कार्य कर जाते हैं कि साहित्य पर उनकी अमिट छाप पड़ जाती है, अनेक
साहित्यकार उनके अनुगामी हो जाते हैं। आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं ने
हिंदी-साहित्य को मौलिकता तथा आत्मनिर्भरता देकर उसे कितना ऊँचे उठाया,
उसका कितना परिष्कार किया, वह ( हिंदी-साहित्य ) उन ( आलोचनाओं )
से कितना प्रभावित हुआ, यह किसी पर अप्रकट नहीं है। वे इस पर अपनी
अमिट छाप छोड़ गए हैं। हमें विदित है कि हिंदी में आलोचना का शुक्ल
संप्रदाय ( स्कूल ) भी है, जिसका कार्य आचार्य शुक्ल के पथ पर चलकर
उनकी मान्यताओं का प्रतिपादन, समर्थन और विकास करना है। इस संप्रदाय
के प्रमुख और मान्य आलोचकों में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और पं० कृष्णशंकर
शुक्ल का नाम लिया जा सकता है। आचार्य शुक्ल की आलोचना से वे भी
प्रभावित हुए जिनका लक्ष्य उनसे कुछ भिन्न है। मेरा अभिप्राय छायावाद

युग के कुछ शिष्ट आलोचकों से है, जिनके अग्रणी हैं पं० नंददुलारे वाजपेयी। ये लोग भी प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः आचार्य शुक्ल के प्रभाव से नहीं बच सके, और कुछ तो उनका प्रभाव स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। हम कहना यह चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल ने संपूर्ण हिंदी-साहित्य को प्रभावित किया—अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा। यह तो हुआ हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में उनका कार्य। भारत के अन्य साहित्य के आलोचकों को दृष्टि में रखकर जब हम आचार्य शुक्ल पर विचार करते हैं तब विदित होता है कि उनके बीच भी वे एक रत्न की भाँति जगमगा रहे हैं।

---

"In the like mannner the historian of literature must be distinguished from the critic of literature. The task of research among the remains of a literary period is distinct from the task of estimating those remains for what they may be intrinsically worth. A literary historian who may do invaluable work in compiling, shifting, annotating, editing, is often a very poor critic. And, vice versa, the most discriminating literary critic, having neither the inclination nor the industry to master masses of third-rate work is seldom also a first-rate literary historian." [ साहित्य के इतिहासकार और आलोचनाकार में भेद स्थापित करना आवश्यक है। किसी साहित्य-काल की उपलब्ध सामाग्री के अनुसंधान-कार्य और उसके यथार्थ मूल्यांकन में भेद है। साहित्य का इतिहासकार चाहे संकलन, प्रामाणिकता का परीक्षण, टिप्पण और संपादन का अमूल्य कार्य करे फिर भी प्रायः अति निम्नश्रेणी का आलोचक होता है। और, ठीक-इसके विपरीत नीर-क्षीर-विवेकी साहित्यालोचक में निम्न श्रेणी की ग्रंथराशि की परीक्षा वा विवेचना की न तो वृत्ति होती है और न वह उसके लिए श्रम ही करता है फिर भी वह यदा कदा साहित्य का श्रेष्ठ इतिहासकार होता है। ]—आर० ए० स्काट-जेम्स् कृत 'दि मेकिंग आव लिटरेचर', पृ० २४–२५।

**इतिहास और साहित्य इतिहास**

साहित्य के (और विज्ञान के भी) इतिहास प्रस्तुत करने की प्रथा अभी नवीन ही है। इस प्रथा का आरंभ ईसा की उन्नीसवीं शती के अंतिम भाग से हो तो गया था, पर इसका विशेष प्रचलन बीसवीं शती के आरंभ से ही समझना चाहिए, जब यह समझा जाने लगा कि जिस साहित्य का इतिहास नहीं उसका अध्ययन करना संभव नहीं। वस्तुतः बात भी ऐसी ही है, क्योंकि

किसी साहित्य के इतिहास के द्वारा उसके मूल और विकास का सम्यक् बोध हो जाने के पश्चात् उसके विभिन्न कालों, अंगों, विशिष्ट रचनाओं वा रचनाकारों आदि के सम्यक् अध्ययन ( डिटेल्ड स्टडी ) के लिए मार्ग मिल जाता है। इस प्रकार किसी साहित्य का इतिहास उसके रहस्य-भेद के साधन के रूप में सिद्ध होता है। कहना न होगा कि साहित्य के इतिहास का प्रणयन विशुद्ध इतिहास-प्रणयन की शैली के अनुकरण पर ही है। विशुद्ध इतिहास द्वारा किसी देश-काल की अतीत सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक विशिष्ट घटनाओं और व्यक्तियों आदि का परिचय मिलता है और साहित्य के इतिहास द्वारा उक्त परिस्थिति में विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा विनिर्मित अतीत साहित्य का परिचय। इस प्रकार विशुद्ध इतिहास ( प्योर हिस्ट्री ) और साहित्यिक इतिहास ( लिटरेरी हिस्ट्री ) का घनिष्ट संबंध स्थापित होता है, क्योंकि कोई देश और काल अपने साहित्य पर अपनी अमिट छाप वा संस्कार छोड़ जाता है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध सबको विदित ही है। एक बात और। विशुद्ध इतिहास और साहित्यिक इतिहास में साम्य भी है—पर अपने-अपने क्षेत्र में ही। इतिहास जो कुछ होता है सब काल-क्रमानुसार, सुश्रृङ्खलित और सुसंवद्ध। साहित्य के इतिहास में भी किसी साहित्य का परिचय उक्त प्रणाली के अनुसार ही रहता है। वस्तुतः 'इतिहास' शब्द से ही उसमें ( इतिहास में ) उक्त तत्त्वों की संस्थिति का ज्ञान हो जाता है। इतिहास-प्रणयन-पद्धति के विषय में आचार्य शुक्ल ने भी प्रसंगात् ऐसी ही बातें कही हैं—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।"—( इतिहास पृ० १ )। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि साहित्य के इतिहास के विषय में आचार्य शुक्ल के वैसे ही विचार हैं जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं।

साहित्यालोचन तथा साहित्य के इतिहास के संबंधित होने की चर्चा प्रायः सुनी जाती है। यह तो स्पष्ट है ही कि साहित्य के इतिहास के अंतर्गत उसके सभी अंगों—काव्य, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि का इतिहास आता है। यहाँ ध्यान यह रखना चाहिए कि किसी साहित्य के इतिहास में उसकी आलोचना का भी इतिहास ही होगा—उसका सुशृङ्खलित वा सुसंबद्ध परिचय ही होगा। हाँ, यह अवश्य है कि आलोचना के इतिहास द्वारा आलोचक उसका परिचय प्राप्त करके अपनी आलोचना में परिष्कार वा विकास लाने का प्रयत्न करे। पर, इतिहास और आलोचना हैं दो भिन्न वस्तुएँ अवश्य, दोनों की सत्ताएँ भिन्न-भिन्न अवश्य हैं। दोनों की सत्ताएँ भिन्न तो हैं, पर यह भी स्पष्ट है कि दोनों का संबंध भी भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि आलोचना की सामग्री वा आलोच्य विषय वा रचनाकार इतिहास से ही ग्रहण किया जाता है। कोई साहित्य-काल वा उसका रचनाकार जब साहित्य को अपनी देन (कांट्रिब्यूशन) से शोभित करता है, तभी वह आलोच्य बनता है और जिस काल वा व्यक्ति का संबंध इस देन से होगा उसका संबंध साहित्य के इतिहास से भी होगा। गोस्वामी तुलसीदास हिंदी-साहित्य के इतिहास के एक अमूल्य रचनाकार हैं, अतः उनकी आलोचनाएँ प्रभूत रूप में प्राप्त होती हैं। हम कहना यह चाहते हैं कि इतिहास और आलोचन स्वरूपतः दो भिन्न वस्तुएँ हैं तो, पर उनकी अभिन्नता में भी संदेह नहीं किया जा सकता। इतिहास ही उसका आधार होता है।

*साहित्यालोचन और साहित्य का इतिहास*

साहित्य-मीमांसक प्रायः यह कहा करते हैं कि इतिहास में किसी साहित्य-काल की प्रवृत्तियों (टेंडेंसीज) की विवेचना होनी चाहिए उससे संबद्ध व्यक्तित्वों (पर्सनालिटीज) की नहीं। बात भी सिद्धांततः ठीक है। अभिप्राय यह कि इतिहास द्वारा साहित्य की प्रवृत्तियों का परिचय दिया जाय किसी विशिष्ट रचनाकार की आलोचना न दी जाय। आचार्य शुक्ल भी "इतिहास की पुस्तक में किसी की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।"—(इतिहास, वक्तव्य, पृ० ७) के पक्षपाती हैं। पर देखा

*साहित्यिक इतिहास में प्रवृत्ति और व्यक्तित्व*

यह जाता है कि भारतीय तथा अभारतीय सभी साहित्यिक इतिहासकार साहित्य की प्रवृत्तियों का निर्देश तो करते ही हैं, रचनाकारों की संक्षिप्त आलोचना भी प्रस्तुत करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय तथा अभारतीय साहित्य के कुछ इतिहास ऐसे हैं जिनमें रचनाकारों की संक्षेप में जितनी प्रौढ़ (मास्टर्ली) आलोचनाएँ मिलती हैं उतनी और किसी पुस्तक में नहीं। इस कथन की प्रामाणिकता रिकेट (आर्थर काम्टन रिकेट) द्वारा प्रणीत 'अँगरेजी साहित्य का इतिहास' (ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर) से सिद्ध हो सकती है। आचार्य शुक्ल ने भी अपने इतिहास में इस शैली का ग्रहण किया है। अभिप्राय यह कि साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में साहित्य की आलोचना भी प्राप्त होती है—यद्यपि सिद्धांततः ऐसी योजना आवश्यक वा अनिवार्य नहीं है।

आजकल ऐतिहासिक आलोचना (हिस्टोरिकल क्रिटिसिज्म) का बड़ा मान है। इस आलोचना का केवल यह अभिप्राय नहीं कि साहित्य की आलोचना में शुद्ध इतिहास का ही उपयोग हो, प्रत्युत यह भी कि इसमें साहित्य के इतिहास का भी साहाय्य लिया जाय। इस विवेचन का अभिप्राय यही दिखाना है कि साहित्य के इतिहास तथा उसकी आलोचना का घनिष्ठ संबंध है, दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

**ऐतिहासिक आलोचना और साहित्यिक इतिहास**

यहाँ विशुद्ध इतिहास और साहित्यिक इतिहास की एकता, इतिहास का स्वरूप तथा आलोचना और उसके सम्बंध पर विचार आचार्य शुक्ल कृत 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' के विवेचन की सुविधा के लिए ही किया गया है। हिंदी-साहित्य में आचार्य शुक्ल के इस इतिहास का बड़ा महत्त्व है। हिंदी-साहित्य का यह सर्वप्रथम वास्तविक इतिहास है। और यद्यपि इसके प्रकाशित होने के पश्चात् अनेक साहित्य-चिंतकों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार अनेक इतिहास प्रस्तुत किए—इसी इतिहास की देखादेखी—तथापि इसके अतिरिक्त कोई भी ग्रंथ अब तक उतना प्रामाणिक नहीं सिद्ध हो सका है, जितना कि यह। यह आरंभ से ही साहित्यिकों का समादर समान रूप से पाता चला आ रहा है।

**'हिंदी-साहित्य का इतिहास' का महत्त्व**

आचार्य शुक्ल वाले इतिहास के प्रकाशित होनेके पूर्व हिंदी में तीन ग्रंथ ऐसे थे जिनको लोग हिंदी-साहित्य का इतिहास ही समझते थे, यद्यपि उन्हें सच्चे अर्थ में इतिहास नहीं कहा जा सकता। उनके नाम हैं—श्री शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंहरोज' (सन् १८८३), श्री ग्रियर्सन कृत 'उत्तरी भारत की आधुनिक भाषा का साहित्य' ( माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न-हिंदुस्तान ) ( सन् १८८९ ) और श्री मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु-विनोद' ( सन् १९१३ )। उपर्युक्त रचनाएँ कवि-वृत्त-संग्रह मात्र हैं, इतिहास नहीं। इनमें काल-क्रमानुसार कवियों का परिचय वा वृत्त दिया गया है। प्राप्त रचनाओं के अध्ययन के पश्चात् समय की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं आदि को दृष्टि-पथ में रखकर काल-विभाजन, उनकी ( कालों की ) प्रवृत्तियों का निर्देश आदि इनमें नहीं प्राप्त होते, जो इतिहास-ग्रंथ के लिये आवश्यक तत्त्व हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ में इन सभी बातों पर ध्यान रखा। अतः सच्चे अर्थ में हिंदी में साहित्य का इतिहास सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल का ही प्रकाशित हुआ। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व स्पष्ट है और अब भी यह हिंदी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ इतिहास माना जाता है।

**आचार्य शुक्ल के पूर्व के इतिहास-ग्रंथ**

यह तो स्पष्ट है कि इतिहास का संबंध अतीत से होता है। साहित्य का इतिहासकार जब किसी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करना चाहता है तब उस साहित्य में अतीत काल में प्रणीत विभिन्न शैली की अनेक रचनाएँ उसके संमुख होती हैं, उसके सामने रचनाओं का ढेर लगा रहता है। जिन रचनाओं को लेकर इतिहासकार इतिहास प्रस्तुत करना चाहता है उन्हें वह काल-क्रमानुसार सुसंबद्ध रूप में सजाकर रखता है; पर केवल इतना कर देने से ही इतिहास की रचना नहीं हो जाती, क्योंकि साहित्य के इतिहास पर विशुद्ध इतिहास का भी प्रभाव पड़ता है और विशुद्ध इतिहास में परिस्थिति-वश परिवर्तन उपस्थित होने पर साहित्य के इतिहास में भी प्रायः परिवर्तन की झलक मिलने लगती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि समाज, जिसके

**साहित्यिक इतिहास की रचना का स्वरूप**

आधार पर इतिहास निर्मित होता है, और साहित्य का बड़ा घना संबंध है। इतिहास को देखने से विदित होता है कि विभिन्न कालों की संस्कृतिगत प्रवृत्तियों में मूलतः येन केन प्रकारेण भिन्नता आ ही जाती है—धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों की भिन्नता के कारण। संकृति के अंतर्गत साहित्य भी आता है, इसलिए उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन उपस्थित हो ही जाता है। साहित्य का इतिहासकार, इस प्रकार के विभिन्न कालों में परिवर्तन को दृष्टि में रखकर विवेचन की स्पष्टता तथा सुविधा के लिए साहित्य का—जिसका वह इतिहास प्रस्तुत करता है—कालगत वर्गीकरण करता है। साहित्यिक इतिहास के काल-विभाजन में इतिहासकार की दृष्टि विशुद्ध इतिहास के परिवर्तन पर तो होती ही है, अतीत में प्रस्तुत साहित्य की शैली के परिवर्तन पर भी उसका ध्यान अवश्य रहता है। कहना न होगा कि इतिहास का प्रमुख लक्ष्य साहित्य का प्रवृत्ति-निर्धारण इन्हीं परिवर्तनों के आधार पर होता है। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में लगभग एक सहस्र वर्षों में विनिर्मित हिंदी-साहित्य का काल-विभाजन इन्हीं दृष्टियों से किया है। वह इस प्रकार है—

आदिकाल( वीरगाथा-काल, संवत् १०५० से १३७५ तक )
पूर्वमध्यकाल ( भक्तिकाल, १३७५ से १७०० तक )
उत्तर मध्यकाल ( रीतिकाल, १७०० से १९०० तक )
आधुनिककाल ( गद्यकाल, १९०० से १९८४ तक )

आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर विचार करने के पूर्व उन पद्धतियों को देख लेना अच्छा होगा जिन्हें दृष्टि में रखकर उन्होंने उपर्युक्त प्रकार का काल-विभाजन किया है। किसी भी साहित्य के इतिहास को देखने से विदित होता है कि यद्यपि उसमें किसी विशिष्ट काल में किन्हीं विशिष्ट प्रकार की रचनाओं या प्रवृत्तियों का संनिवेश प्रधानतः रहता है तथापि किन्हीं विशिष्ट प्रकार की प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उसमें अन्य प्रकार की रचनाएँ या प्रवृत्तियाँ भी गौणतः चला करती हैं। हिंदी-साहित्य के इतिहास में भी यह बात पाई जाती है, और आचार्य शुक्ल ने इसे इसकी (हिंदी-साहित्य की)

आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन की पद्धति

'एक विशेषता' माना है।—( देखिए इतिहास, पृ० ७२ ) । हिंदी में वीर, भक्ति और शृङ्गार वा प्रेम की रचनाएँ प्रधानतः और गौणतः आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक होती चली आ रही हैं। साहित्य के इतिहास में इस प्रकार प्रवृत्ति वा तत्त्व की प्राप्ति का कारण साहित्य का मूलाधार मानव-हृदय के भावों की अनेक-रूपता का शाश्वत रूप है। यह बात दूसरी है कि किसी काल विशेष में किसी विशेष प्रकार के भाव की प्रधानता होती है—परिस्थिति विशेष के कारण। साहित्य के काल-विभाजन के मूल में इसी विशेष प्रकार के भाव प्रवृत्ति वा शैली आदि की प्रधानता ही निहित रहती है, आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन का मुख्याधार यही है, इसी पद्धति के अनुसार काल-विभागों का नामकरण हुआ है। उनके द्वारा हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन का दूसरा आधार 'ग्रंथों की प्रसिद्धि' भी है। जिस कालविशेष में एक ही प्रकार के ग्रंथों की अधिकता के कारण उनकी ( ग्रंथों की ) प्रसिद्धि दिखाई पड़ती है उस काल का नामकरण उनकी प्रसिद्धि के आधार पर हुआ है। अर्थात् यदि किसी काल में एक ही प्रकार के अनेक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं और अन्य प्रकार के भी बहुत ग्रंथ हैं पर वे साधारण कोटि के हैं और उनकी प्रसिद्धि नहीं है तो काल-विभाजन में उन पर ( अप्रसिद्ध ग्रंथों पर ) ध्यान नहीं रखा गया है। अभिप्राय यह कि हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन में आचार्य शुक्ल की दृष्टि दो बातों पर रही है, एक तो 'किसी विशेष ढँग की रचनाओं की प्रचुरता' पर और दूसरे 'ग्रंथों की प्रसिद्धि' पर।—( देखिए इतिहास, वक्तव्य, पृ० ३ )। विचार करने पर ज्ञात होता है कि किसी साहित्य के काल-विभाजन में इन पद्धतियों के अतिरिक्त और दूसरे प्रकार की प्रणाली का आधार नहीं लिया जा सकता। अतः आचार्य शुक्ल द्वारा काल-विभाजन का आधार युक्तियुक्त है। उन्होंने ग्रंथों की प्रसिद्धि का जो उल्लेख किया है, वह भी किसी विशेष ढंग, शैली वा प्रवृत्ति की रचनाओं के अंतर्गत ही आ सकता है, क्योंकि इन्हीं विशेष प्रकार के ग्रंथों की प्रसिद्धि उनमें शैली, भाव वा प्रवृत्ति की एकता के ही कारण होगी।

साहित्य-विषयक आचार्य शुक्ल की दृष्टियाँ हमें अवगत हैं। वे उन साहित्यकारों की कोटि मे आते हैं जिनकी धारणा में साहित्य की स्वतंत्र सत्ता

आचार्य शुक्ल के इतिहास में साहित्य का ही इतिहास

है और उसे उसी की दृष्टि से देखना चाहिए। साहित्य के ऊपर अन्य शास्त्र वा विज्ञान का आतंक छा जाय, इसे वे भला नहीं समझते। हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते समय भी उनकी दृष्टि इस बात पर थी। इसी कारण उन्होंने अपने इतिहास में साहित्य-कला के इतिहास के अतिरिक्त चित्र, मूर्ति, संगीत आदि ललित कलाओं का इतिहास नहीं प्रस्तुत किया, साहित्य को इन कलाओं के साथ रखकर नहीं देखा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य का इन कलाओं से वे कोई संबंध नहीं स्थापित करते, वे संबंध स्थापित करते हैं, पर ये कलाएँ साहित्य में आकर साहित्य की होकर रहेंगी, उनकी पृथक् कोई सत्ता न रहेगी, वे ऐसा मानते हैं। काव्य में मूर्ति वा चित्र के विधान पर वे कितना जोर देते हैं, यह हमें विदित है। काव्य तथा संगीत का अभिन्न संबंध भी वे स्थापित करते हैं। वस्तुतः साहित्य के साथ अन्य कलाओं का इतिहास प्रस्तुत करने में सब कुछ बिखरा-बिखरा-सा प्रतीत होता है।

अब आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन पर भी विचार कर लेना चाहिए। अपने सभी काल-विभाजनों के विषय में उन्होंने मान्य प्रमाण उपस्थित कर दिए हैं, और वे ही इस समय प्रामाणिक माने जाते हैं। 'आदिकाल' को आचार्य शुक्ल ने 'वीरगाथा-काल' कहा है। किन आधारों पर उन्होंने काल-विभाजन किया है, इसे हम देख चुके हैं। वीरगाथाओं की रचना के लिए आदिकाल में सारी अनुकूल परिस्थितियाँ उपस्थित थीं, यह बात इतिहासविज्ञों पर अप्रकट नहीं है। उस काल में अन्य ढंग की रचनाएँ भी होती थीं, पर प्रचुरता वीर-काव्यों की ही थी, जिनमें प्रेम भी साथ-साथ चलता था। इस प्रकार हमें विदित होता है कि आदिकाल में वीरगाथाओं की रचना की ही प्रधान प्रवृत्ति थी। अतः 'आदिकाल' को 'वीरगाथा-काल' कहना ही उपयुक्त है।

आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी-साहित्य के विभाजन की उपयुक्तता· वीरगाथा-काल

आचार्य शुक्ल के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि आदिकाल के अन्तर्गत उन्होंने वीरगाथाओं की चर्चा के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों पर भी विचार किया है, पर सकारण ही। हिंदी-भाषा के विकास पर विचार करने से

जान पड़ता है कि इसका आधुनिक स्वरूप क्रमशः विकसित होते हुए प्राप्त हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से विकसित होकर हिंदी अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकी है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त होती हैं—एक तो अपभ्रंश की और दूसरी देशभाषा (बोलचाल) की, जिसे हम हिंदी कह सकते हैं। वीरगाथाएँ इसी में वर्णित हैं। आचार्य शुक्ल ने आदि-काल पर विचार करते हुए अपभ्रंश में लिखी कुछ रचनाओं पर भी विचार किया है; जो सांप्रदायिक हैं और साहित्य की श्रेणी में नहीं आतीं। ऐसा उन्होंने यह दिखलाने के लिए किया है कि हिंदी की एक पीढ़ी पूर्व की भाषा कब से और किस रूप में व्यवहृत हो रही थी, हिंदी-भाषा का स्वरूप जिस (अपभ्रंश) से निकला है। अभिप्राय यह कि हिंदी-भाषा के विकास की झलक दिखाने के लिए ऐसा किया गया है। इस काल में अपभ्रंश भाषा की दो-चार साहित्यिक पुस्तकें भी प्राप्त हैं, पर वीरगाथा-काल की प्रवृत्ति से उनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार देश-भाषा वा हिंदी में भी दो-चार ऐसी पुस्तकें इस काल में मिलती हैं जिनमें शृङ्गार आदि की प्रधानता है, जिनसे इस काल की मुख्य प्रवृत्ति से कोई संबंध नहीं।

आदिकाल पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों की परंपराओं के विषय में कुछ विस्तृत विवेचन किया है। ऐसा करने में दो उद्देश्य निहित हैं एक तो यह कि कबीर को अपना पंथ चलाने के लिए इन सिद्धों तथा योगियों ने मार्ग प्रशस्त कर दिया था। दूसरे यह कि इनकी (सिद्धों और योगियों की) रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आ सकतीं और योग-धारा काव्य वा साहित्य की कोई धारा नहीं है, जैसा कुछ इतिहासकार मानते हैं। हम देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल साहित्य को साहित्य की ही दृष्टि से देखना चाहते हैं, इसी कारण इस विषय में उनकी यह संमति है।

हिंदी-साहित्य के 'पूर्व मध्यकाल' को आचार्य शुक्ल ने 'भक्तिकाल' नाम दिया है, जो बहुत ही स्पष्ट और सुसंगत है। भक्तिकाल की दो धाराओं—निर्गुणधारा और सगुणधारा—तथा इनकी (धाराओं की) दो दो शाखाओं—निर्गुण की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी (सूफी) शाखा, सगुण की रामभक्ति और कृष्णभक्ति

भक्तिकाल

शाखा—का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है।

रीतिकाल

'उत्तर मध्यकाल' को आचार्य शुक्ल ने 'रीतिकाल' कहा है—वर्ण्य प्रस्तुत करने की पद्धति की दृष्टि से। 'रीतिकाल' में लगभग दो सौ वर्षों तक प्रायः एक ही ढंग की रचनाएँ प्रचुर परिमाण में हुई। आचार्य शुक्ल का कहना है कि "रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है?"—( इतिहास, वक्तव्य, पृ० ६ )। यह तो स्पष्ट और सुसंगत है कि इस काल में रीतिकार कवियों की ही प्रधानता थी। रीति से मुक्त होकर स्वच्छन्द रूप से रचना करनेवालों की संख्या बहुत ही कम थी। अतः रीतिकाल नाम वस्तुतः बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है। ऊपर हमने कहा है कि वर्णन-पद्धति की दृष्टि से उत्तर मध्यकाल का नाम 'रीतिकाल' रखा गया है। इधर श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने वर्ण्य को दृष्टि में रखकर 'रीतिकाल' को 'शृंगारकाल' कहा है। उन्होंने ऐसा करके इस काल के उपविभाग भी निर्धारित किए हैं। विचार करने पर यह स्पष्ट लक्षित होता है कि रीति-ग्रन्थों में जो विवेचना हुई है, और जितने उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, प्रायः उन सभी का लक्ष्य शृंगार ही है। रीतिग्रन्थों के अंतर्गत दो प्रकार की रचनाएँ आती हैं—एक तो वे रचनाएँ जिनमें नायिका-भेद या रस-मीमांसा हुई है और दूसरे वे जिनमें अलंकारों की मीमांसा हुई है। कहना न होगा कि इन दोनों प्रकार की रचनाओं में प्रधानतया शृंगार-रस की ही रचनाएँ दिखाई पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के अंतर्गत जो स्वच्छंदतावादी कवि हुए वे भी प्रेम को ही लेकर चलते हैं। इसलिए 'रीतिकाल' को 'शृंगारकाल' कहना वस्तुतः विशेष युक्तियुक्त प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल ने 'रीतिकाल' का कोई उपविभाग प्रस्तुत करने में असमर्थता प्रकट की है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'शृंगारकाल' का उपविभाग भी किया है, जो इस प्रकार है—शृंगारकाल—( १ ) रीतिबद्ध, ( २ ) रीतिमुक्त। रीतिबद्ध—

( १ ) लक्षणवद्ध, लक्ष्यमात्र*। 'शृंगारकाल' का यह उपविभाग उतना ही स्पष्ट है, जितना कि आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित 'भक्तिकाल' का उपविभाग।

'आधुनिक काल' को आचार्य शुक्ल ने 'गद्यकाल' कहा है। यह बात केवल हिंदी-साहित्य पर ही लागू नहीं होती, प्रत्युत भारतीय तथा अभारतीय सभी साहित्यों के लिए कही जा सकती है। वस्तुतः वर्तमान युग गद्य का युग है ही। गद्य के आश्रित सभी प्रकार की रचनाएँ—निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक आदि—इस काल में विकसित रूप तथा प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुई—सभी साहित्यों में और हिंदी में भी। इसलिए 'आधुनिक काल' को 'गद्यकाल' कहना उचित ही है। 'गद्यकाल' का विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने हिंदी गद्य के स्वरूप-विकास पर अच्छा विचार किया है, जो आवश्यक था—हिंदी-गद्य की पूर्व परिस्थिति जानने के लिए।

गद्यकाल

हिंदी-साहित्य के वर्तमान काल में गद्य की प्रधानता तो अवश्य रही; पर कविता भी कुछ कम नहीं लिखी गई; विशिष्टता की दृष्टि से भी आधुनिक हिंदी-काव्य का बड़ा महत्त्व है। अतः आधुनिक काल को गद्य और काव्य के रूप में विभाजित करके ही इतिहासकार विचार करते हैं। वस्तुतः आधुनिक काल में आकर साहित्य की स्पष्टतः दो धाराएँ हो गई—गद्य-धारा और पद्य-धारा। इन दोनों धाराओं में से किसी को कम महत्त्व भी नहीं दिया जा सकता। हिंदी-साहित्य की ऐसी ही परिस्थिति है। अभिप्राय यह कि 'आधुनिक काल' को केवल 'गद्यकाल' कह देने से ही स्पष्टता नहीं आती।

एक साहित्य-मीमांसक ने आधुनिक काल को वर्ण्य विषय की दृष्टि से 'प्रेम-काल' कहा है—गद्य तथा काव्य सभी प्रकार की रचनाओं में प्रेम की प्रधानता देखकर†। प्रेम को वे बड़े ही व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हैं। आधुनिक काल के उपविभागों को क्रमशः 'भारतेंदु-युग', 'द्विवेदी-युग' और 'छायावाद-युग' कहने का भी प्रचलन है। जो भी हो पर आचार्य शुक्ल द्वारा इस युग को

---

* देखिए श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'वाङ्मय-विमर्श' पृ० २८५-२८७।

† वही पृ० ३०८।

'गद्यकाल' कहना असंगत नहीं ठहराया जा सकता।

इस प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा हिंदी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन पर विचार करने से विदित होता है कि यह शुद्ध इतिहास या काल को तथा शैली को दृष्टि में रख कर बहुत ही युक्तिसंगत है। काल-विभाजन करते हुए उनकी दृष्टि सदैव सुस्पष्टता, उपयुक्तता और प्रामाणिकता की ओर रही है।

**आचार्य शुक्ल के इतिहास में राजस्थानी तथा मैथिली-साहित्य का त्याग**

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे उसी हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है जो प्राचीन गद्यकारों और कवियों द्वारा 'भाखा' शब्द से अभिहित किया जाता था, अर्थात् 'भाखा' में प्रस्तुत साहित्य का ही इतिहास उन्होंने लिखा है। 'भाखा' से इतर हिंदी मे निर्मित साहित्य का इतिहास उन्होंने नहीं लिखा, साहित्य-निर्माण की दृष्टि से जिसके अंतर्गत प्रधानतः उसकी दो उपभाषाएँ—राजस्थानी और मैथिली—आती हैं। राजस्थानी और मैथिल हिंदी में विनिर्मित साहित्य को देखने से विदित होता है कि परिमाण तथा विशिष्टता दोनों की दृष्टि से वह बहुत ही अच्छा है। ऐसी स्थिति में हिंदी-साहित्य के इतिहासकार की दृष्टि इन पर भी जानी चाहिए थी और जानी चाहिए। यह तभी संभव है जब हिंदी-साहित्य को कुछ व्यापक रूप में देखा जाय—उसके विस्तार की दृष्टि से। पर हिंदी-साहित्य के इतिहास में इनमें प्रस्तुत हुए साहित्य पर विचार नहीं मिलता। इसका कारण विशिष्ट ( टिपिकल ) हिंदी और उसकी इन दोनों उपभाषाओं की प्रवृत्तियों में भिन्नता ही हो सकती है। विशिष्ट हिंदी के अंतर्गत हम प्रधानतः ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का ग्रहण करते हैं, जिनमें अनेक दृष्टियोंसे अधिक अंशों में साम्य है। खड़ी बोली बोलने वाला ब्रज तथा अवधी को भली भाँति समझ लेता है और ब्रज तथा अवधी का बोलनेवाला खड़ी बोली को। इन भाषाओं के भाषी विचारों के आदान-प्रदान में किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं करते। अभिप्राय यह कि ये तीनों भाषाएँ परस्पर खप जाती हैं। पर राजस्थानी तथा मैथिल हिंदी के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। हिंदी-भाषी प्रांत का सामान्य व्यक्ति इनको नहीं समझ पाता। इसका कारण यह है कि राजस्थानी हिंदी की एक पीढ़ी पूर्व की भाषा अपभ्रंश से

बहुत मिलती-जुलती है। भाषागत उसकी प्रवृत्तियाँ विशिष्ट हिंदी से अनेक रूपों में भिन्न हैं। मैथिल हिंदी के विषय में भी ऐसी ही बात समझनी चाहिए। इस प्रकार इन भाषाओं में निर्मित साहित्य ( केवल ) भाषा की दृष्टि से विशिष्ट हिंदी के साहित्य से भिन्न प्रतीत होता है। इसी कारण प्रायः सभी इतिहासकारों ने इन पर ध्यान नहीं दिया। पर केवल भाषागत वैभिन्य के कारण राजस्थानी और मैथिल हिंदी के उच्च साहित्य को हिंदी-साहित्य के इतिहास में स्थान न देकर उनकी उपेक्षा करना संभवतः हिंदी-भाषा की व्यापकता को कम करना समझा जाय। सामान्य पाठक संभवतः इन साहित्यों को न समझें, पर साहित्य के इतिहास में इनको स्थान देना अपेक्षणीय प्रतीत होता है, क्योंकि इतिहास को पढ़ने-समझनेवाले साहित्य-मर्मज्ञ भी होते हैं। फिर इतिहास में सरल, जटिल जो कुछ प्रस्तुत हो चुका है सभी का उल्लेख होना चाहिए, इतिहास में अतीत का लेखा-जोखा होता ही है—चाहे वह कैसा ही हो। जो पृथ्वीराज की 'रुक्मिणी री वेली' और विद्यापति के गीतों को हिंदी-साहित्य की संपत्ति घोषित करते हुए भी राजस्थानी और मैथिल हिंदी की परंपरा का ग्रहण इतिहास में नहीं करते उनकी बात समझ में नहीं आती।

साहित्य के इतिहासकार की विशिष्ठता इसी में है कि वह जिस साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करे उसकी सभी धाराओं, उसकी सभी प्रवृत्तियों, उसके सभी उल्लेखनीय व्यक्तियों आदि के विषय में ऐसी सुस्पष्ट और रोचक विवेचना उपस्थित कर दे कि उस साहित्य की रूप रेखा साफ-साफ ज्ञात हो जाय। आचार्य शुक्ल की इतिहास लेखनशैली में यह विशेषता बराबर मिलती है, जिसके द्वारा उपर्युक्त सभी तत्वों की सिद्धि हो गई है। सुलझाव या सुस्पष्टता ही उनके इतिहास की विशेषता है, कोई भी ऐसा स्थल इसमें नहीं है, जिसके द्वारा भ्रामकता उपस्थित हो। उन्होंने स्वतः भ्रामक प्रश्नों का उचित समाधान अपने इतिहास में किया है। रोचकता का भी प्रचुर संनिवेश उसमें प्राप्त है।

साहित्य के इतिहास की विशेषताएँ और आचार्य शुक्ल का इतिहास

विवेचन की स्पष्टता के लिए साहित्य के इतिहासकार को शुद्ध इतिहास की कितनी आवश्यकता है, यह आरंभ के विवेचन द्वारा स्पष्ट है। किसी देश

आचार्य शुक्ल के इतिहास में विशुद्ध इतिहास के तत्त्व

और काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों में विनिर्मित साहित्य की प्रवृत्तियों की छान-बीन करके उसके (साहित्य के) स्पष्ट काल-विभाजन के लिए शुद्ध इतिहास का ज्ञान कितना वांछनीय है, यह विज्ञों पर अविदित नहीं है। आचार्य शुक्ल को भारतीय इतिहास का स्पष्ट और सुलझा हुआ ज्ञान था। इतिहास की ओर भी उनकी अभिरुचि साहित्य की अपेक्षा किसी अंश में कम न थी। यह उनके इतिहास से संबद्ध विषयों पर लिखे गए निबंधों द्वारा भली भाँति प्रकट हो जाता है। साहित्य के इतिहास द्वारा भी उनके विषय में यह बात स्पष्टतः कही जा सकती है। अपने इतिहास में कहीं-कहीं तो उन्होंने अध्ययन और विवेचन-शक्ति के बल पर इतिहास के संबंध में कुछ नवीन बातों का भी निर्देश किया है। जैसे, उनकी धारणा है कि जलंधर ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग कर पंजाब की ओर चले गए और वहाँ काँगड़े की पहाड़ियों तथा अन्य स्थलों में भी रमते रहे। उनका यह कथन है कि पंजाब प्रांत के जलंधर नगर का नाम उन्हीं का स्मारक प्रतीत होता है।—(देखिए इतिहास, पृ० १८)। अपने इतिहास तथा अन्य रचनाओं में भी उन्होंने ऐसी ही और ऐतिहासिक वा सांस्कृतिक बातों का निर्देश किया है।

इतिहास में साहित्य की किसी धारा के उद्गम की खोज तथा उसका विकास

इतिहासकार की दृष्टि साहित्य में प्रचलित किसी धारा, परंपरा अथवा प्रवृत्ति के मूल वा उद्गम की खोज पर अवश्य रहती है। वह इसे अवश्य दिखाना चाहता है कि कोई प्रचलित परंपरा कहाँ से और किस रूप में चली है। बिना ऐसा किए इतिहास की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। आचार्य शुक्ल का यह इतिहास देखने से विदित होता है कि उनकी दृष्टि इस परमावश्यक इतिहास-लेखन-प्रणाली की ओर सर्वत्र रही है। कबीर में आई वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपरा की स्पष्ट झलक दिखाने के लिए उन्होंने उक्त दोनों संप्रदायों का कुछ विस्तृत परिचय दिया है। प्रबंध वा चरित्र-काव्य प्रस्तुत करने के लिए दोहा-चौपाई की पद्धति के ग्रहण के मूल को ढूँढ़ने की ओर भी उनकी पैनी दृष्टि गई है।

उन्होंने कहा है कि पुष्पदंत ( सं० १०२९ ) ने 'आदिपुराण' तथा 'उत्तरपुराण' को चौपाइयों में लिखा है। उसी काल के लगभग 'जसहरचरिउ' (यशधरचरित्र) भी चौपाइयों में लिखा गया है। प्रबंध के लिए इसी परंपरा का ग्रहण जायसी, तुलसी आदि कवियों ने भी किया है। ऐसी ही अन्य प्रवृत्तियों आदि के मूल के अन्वेषण की ओर भी उनका लक्ष्य सदा बना रहा है—विशेषतः अपने इतिहास में।

इतिहासकार के कर्तव्य की इति किसी परंपरा वा धारा आदि के मूलान्वेषण के पश्चात् ही नहीं हो जाती। उसे उसका ( परंपरा आदि का ) स्वरूप तथा विकास भी दिखाना पड़ता है। किसी साहित्य-परंपरा का क्या स्वरूप है और उसका विकास किस रूप में हुआ अथवा हो रहा है, इस कार्य की ओर भी आचार्य शुक्ल प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं। किसी परंपरा का विकास दिखाने के लिए उन्होंने उसके कवियों का आलोचनात्मक संक्षिप्त परिचय दिया है। यत्र तत्र-यथा स्थान दर्शन, साहित्य आदि के सिद्धांत-पक्ष की विवेचना उन्होंने किसी परंपरा के स्वरूप की स्पष्टता तथा उसके विकास की व्यापकता दिखाने के लिए ही की है।

**हिंदी साहित्य की पूर्णता पर दृष्टि**

आचार्य शुक्ल ने इतिहास में—और अन्य रचनाओं में भी—साहित्य के जिस क्षेत्र में संतोषप्रद कार्य नहीं हुआ है उसमें कार्य करने के लिए योग्य व्यक्तियों को आमंत्रित भी किया है। कहीं-कहीं उन्होंने साहित्य के किसी विशिष्ट अंग के अन्तर्गत क्या-क्या हो सकता है इसका भी निर्देश कर दिया है। जैसे, उपन्यास-कहानी के अंतर्गत भारत की राजनीतिक परिस्थितियों वा बातों के चित्रण के अतिरिक्त भी और क्या-क्या चित्रित किया जा सकता है इसका एक लंबा ब्योरा उन्होंने इतिहास ( पृ० ६४३—६४४ ) में दिया है। इससे विदित होता है कि उनकी दृष्टि केवल हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने पर ही नहीं थी, प्रत्युत उसकी पूर्णता की ओर भी थी। वे चाहते थे कि हमारा साहित्य सर्वप्रकारेण पूर्ण हो जाय, इसीलिए उसकी त्रुटियों वा अपूर्णताओं पर भी गंभीर दृष्टि रखते थे।

हिंदी-साहित्य तथा उसके आधुनिक युग के साहित्यकारों से आचार्य शुक्ल का संबंध बहुत पुराना था। इतिहास लिखते समय उन्होंने इनके ( साहित्-

आचार्य शुक्ल के इतिहास में वैयक्तिक तत्त्व

कारों के ) तथा अपने बीच में घटित प्रसंगों पर भी दृष्टि रखी है। कहने का अभिप्राय यह कि उनके इतिहास में वैयक्तिक तत्त्व ( पर्सनल एलिमेंट ) का पुट भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है। पर, अपनी वैयक्तिक बातों का सन्निवेश उन्होंने किसी साहित्यिक तथ्य की सूचना देने तथा किसी साहित्यकार के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही किया है। जैसे, एक स्थान पर वे कहते हैं— "काश्मीर के किसी ग्राम के रहनेवाले व्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जंबू में किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो-एक सवैये भी सुनाए थे।"—( इतिहास, पृ० ६९६ )। इसके द्वारा हिंदी-साहित्य की व्यापकता की सूचना मिलती है। ऐसे ही और प्रसंगों का उल्लेख भी इतिहास में मिलता है। साहित्यकारों के स्वरूप का परिचय देने के लिए भी उन्होंने वैयक्तिक तत्त्व का समावेश इतिहास में किया है। जैसे, इस उद्धरण द्वारा विदित होता है कि श्री बालकृष्ण भट्ट वस्तुतः बड़े ही मुहावरेबाज थे—"एक बार वे ( पं० बालकृष्ण भट्ट ) मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा 'भैया! आँख में क्या हुआ है?' उत्तर मिला 'आँख आई है।' वे चट बोल उठे 'भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।'—( इतिहास, पृ० ५६६ ) इतिहास से ऐसे ही अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पर वैयक्तिक तत्त्व की योजना द्वारा इतिहास में बड़ी रोचकता आ गई है। इसका कारण यह है कि आचार्य शुक्ल बड़े गम्भीर व्यक्ति थे, अतः उनके व्यक्तित्व के संबंध में जानने की इच्छा सभी के मन में बनी रहती है, और जब कुछ ऐसी बातों का परिचय किसी को मिलता है तब वे रोचकता का अनुभव करते हैं।

इतिहास के संबंध में विचारणीय प्रायः सभी विषयों की विवेचना हमने ऊपर की है। इससे स्पष्ट लक्षित होता है कि आचार्य शुक्ल इस क्षेत्र में भी— आलोचना-क्षेत्र की ही भाँति—सफल रहे। इतिहासकार के रूप में उनकी सफलता का द्योतन इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि हिंदी-साहित्य के पचासों इतिहासों से उनका इतिहास अत्युत्तम, प्रामाणिक, स्पष्ट और रोचक घोषित किया गया है।

---

# निबंध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के जिस क्षेत्र में कार्य किया उसी को अपनी प्रौढ़ प्रतिभा द्वारा समृद्ध बनाया और उसे नवता प्रदान की। हिंदी-आलोचना-साहित्य में उनके महत्त्वपूर्ण तथा नवीन कार्यों की चर्चा हम कर चुके हैं। उससे स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल उसे (आलोचना-साहित्य को) उन्नति के पथ पर ले गए और उसकी प्रतिष्ठा उन्होंने विस्तृत और उच्च भूमि पर की। हिंदी-आलोचना का उन्होंने एक शिष्ट आदर्श स्थापित किया। हिंदी-निबंध-साहित्य में भी उनका कार्य इसी प्रकार का है। इसे भी उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा समृद्ध किया—नूतन विषयों तथा विधान-पद्धतियों का इसमें संनिवेश कर। हिंदी में निबंध के साहित्यिक और तत्स्वरूप पर जिन दो-चार निबंधकारों की दृष्टि गई उनमें आचार्य शुक्ल को अग्रणी समझना चाहिए। वस्तुतः उनके द्वारा हिंदी में प्रस्तुत किए गए निबंध ही श्रेष्ठ कोटि के ठहरते हैं—निबंध के सच्चे अर्थ में। इस प्रकार उनकी आलोचना की भाँति ही उनके निबंधों का भी बड़ा महत्त्व है। हिंदी-निबंध-साहित्य को उनके निबंधों द्वारा जो समृद्धि प्राप्त हुई उसका अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि यदि उनमें से उनके निबंध निकाल लिए जायँ तो उसका एक भाग ही सूना हो जाय। यहाँ उनके इन्हीं निबंधों पर विचार करना है।

**आचार्य शुक्ल के निबंध**

सभी देशों के साहित्य में आधुनिक युग गद्य का युग माना जाता है, जिसका आरंभ प्रधानतः ईसा की उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से समझना चाहिए। आधुनिक युग को गद्य-युग मानने का कारण है इसमें गद्य की रचनाओं का प्रचुर निर्माण। गद्य की रचनाएँ इस युग के पूर्व के युगों में भी होती रहीं अवश्य, पर इनकी प्रधानता न थी, प्रधानता थी पद्य-रचनाओं की ही। इसी प्रकार यद्यपि वर्तमान युग में गद्य-रचनाओं का प्राधान्य है तथापि पद्य-रचनाएँ भी प्रस्तुत होती ही हैं। वर्तमान युग के गद्य-युग स्वीकृत किये जाने में गद्य की

**गद्य-युग तथा निबंध**

जिन शैली की रचनाओं का प्राचुर्य है उनके अंतर्गत कहानी, उपन्यास और नाटक की प्रधानता है। वस्तुतः उपर्युक्त तीन प्रकार की रचनाओं ने ही गद्य-युग स्थापित होने मे सच्ची सहायता दी। गद्य की एक और शैली की रचना ने इस युग में प्राधान्य और वैशिष्ट्य ग्रहण किया जिसका नाम है निबंध। स्मरण रखने की बात है कि वर्तमान काल में कहानी, उपन्यास और नाटक की अपेक्षा निबंध का प्राधान्य कुछ कम रहा। हाँ, उसमें प्रतिभाशाली रचनाकारों द्वारा उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य अवश्य आता गया। यहाँ निबंध से अभिप्राय उच्च कोटि के रोचक और साहित्यिक निबंध से है; वैसे तो जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों में लिखित रूप मे विचारों का प्रकाशन इसी शैली की रचनाओं द्वारा होता है, जिसे निबंध कहने की चाल तो नहीं है, पर सामान्यतः जिसे 'लेख' कहा जाता है। हमारा अभिप्राय यहाँ राजनीतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, अर्थशास्त्रीय आदि लेखों से है, जिनका लक्ष्य येन केन प्रकारेण अपने विषय का प्रतिपादन, उसकी स्पष्टता आदि पर रहता है, रोचकता और साहित्यकता से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। वस्तुतः इस प्रकार के निबंध वा लेख सच्चे निबंधों ( जेनुइन आर टिपिकल एसेज ) के अंतर्गत गृहीत नहीं हो सकते।

सच्चे निबंधों का स्वरूप क्या है। इस पर विचार करने के पूर्व इस बात का निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि निबंध के क्षेत्र में अँगरेजी-साहित्य का पूर्ण प्रभाव पड़ा—केवल आधुनिक हिंदी-साहित्य पर ही नहीं प्रत्युत भारत के सभी आधुनिक साहित्यों पर।

भारतीय निबंध

भारत में आधुनिक निबंधों का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है वह अँगरेजी के निबंधों के आधार पर ही टिका हुआ समझना चाहिए। निबंध के क्षेत्र में मूल प्रेरणा उधर से ही मिली। हाँ, कुछ मौलिक-प्रतिभा-संपन्न निबंधकारों ने निबंध-रचना में अपनेपन का अवश्य ध्यान रखा। वस्तुतः बात यह हुई कि अँगरेजों का संपर्क ज्यों-ज्यों भारत से बढ़ता गया त्यों-त्यों उनका प्रयत्न उसे ( भारत को ) अपनी राजनीति द्वारा ही शासित करना नहीं रहा प्रत्युत अपनी संस्कृति द्वारा शासित करना भी हुआ। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे भारत में पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के समुचित प्रकार का उत्तरोत्तर प्रबंध भी

करते गए, जिसका आरंभ सन् १८५७ की क्रांति के पश्चात् से होता है। ऐसी स्थिति में आंग्ल-साहित्य से भारतीय साहित्य का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। निबंध के क्षेत्र में वह उससे इसलिए प्रभावित हुआ कि उसके गद्य में निबंध-शैली की रचनाएँ न थीं और उसमें (आंग्ल-साहित्य में) इसका (निबंध का) आरंभ ईसा की सोलहवीं शती के उत्तरार्द्ध से ही—फ्रैंसिस बेकन के निबंधों द्वारा—हो गया था। हिंदी-साहित्य में अँगरेजी-साहित्य के निबंधों के अनुकरण पर निबंध-रचना का कारण अपने साहित्य में नवीन शैली के गद्य-विधान का संनिवेश करने की इच्छा ही है, जो प्रवृत्ति सभी साहित्य के रचनाकारों में होती है। इसी प्रसंग में यह कह दिया जाय कि अँगरेजी वा हिंदी-साहित्य में निबंधों का जो रोचक और साहित्यिक स्वरूप आज दृष्टिगत होता है वह उनका निखरा और विकसित रूप है, आरंभ में वे इस रूप में विद्यमान नहीं थे। इस ववेचन का अभिप्राय यह कि हिंदी में निबंध-लेखन की प्रवृत्ति में आंग्ल-साहित्य के निबंधों की प्रेरणा का विशेष हाथ था। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक काल में निबंध के क्षेत्र में भी—साहित्य के अन्य क्षेत्रों की भाँति ही—भारतीय साहित्य आंग्ल साहित्य से क्यों प्रभावित हुआ। क्या भारत में निबंध का कोई स्वरूप विद्यमान न था। भारत में निबंध का स्वरूप विद्यमान अवश्य था, पर दूसरे रूप में। हम आरंभ में ही यह देख चुके हैं कि निबंध साहित्य के गद्य-विभाग का एक अंग है। पद्य-विभाग का नहीं। भारत में निबंध का जो स्वरूप विद्यमान था वह अधिकांश पद्य में था। भारत के प्राचीन समीक्षकों ने काव्य वा साहित्य पर जहाँ कुछ विस्तृत विवेचन किया है वहाँ उसे पद्य में लिखा हुआ निबंध ही कहा जा सकता है। यही नहीं इन लोगों ने वृत्ति के रूप में गद्य का भी उपयोग किया है, और वह विवेचनात्मक गद्य बहुत प्रौढ़ भी है। मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' के प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण, काव्य लक्षण और काव्य-भेद पर जो विचार किया है उसे काव्य पर लिखा एक निबंध ही समझना चाहिए, वह गद्य-पद्य दोनों में है। कारिकाएँ पद्य में हैं और वृत्तियाँ गद्य में। काव्य वा साहित्य के विवेचन में भी अधिकतर पद्य के प्रयोग का कारण सभी को विदित है। यह सभी जानते हैं किसी समृद्ध साहित्य में एक समय ऐसा

आता है जब सभी विषयों पर विचार प्रकट करने के लिए प्रचुर परिमाण में पद्य ही का प्रयोग होता है। संस्कृत-साहित्य में भी एक समय ऐसा था, इसी कारण काव्य-विवेचन में भी पद्य का साहाय्य प्रधानतः लिया गया। विवेचन में भी पद्य के प्रयोग का दूसरा कारण है कंठाग्र करने की सुविधा। भारतीयों ने पद्य-बद्ध कितना वाङ्मय कंठस्थ कर रखा था और कैसे, इसे सभी जानते हैं। तात्पर्य यह कि भारत में भी निबंध का कोई न कोई स्वरूप अवश्य था पर वह आज की भाँति केवल गद्य में नहीं प्रस्तुत किया जाता था, या तो पद्य में लिखा जाता था या गद्य-पद्य दोनों में। हिंदी-साहित्य के रीति-काल में भी ठीक यही अवस्था थी। यह हमें विदित है कि हिंदी में आधुनिक शैली के निबंधों के लेखन का आरंभ भारतेंदु-काल से हुआ, जिसकी प्रेरणा आंग्ल साहित्य से मिली। अपने निकट की वस्तु पर ध्यान जाना स्वाभाविक है, अतः उस समय के निबंधकारों का ध्यान किसी न किसी रूप में विद्यमान निबंध की भारतीय परंपरा पर न जा सका, उनकी दृष्टि भारत में अँगरेजी-साहित्य के प्रचलित निबंधों पर ही गई। ऐसी स्थिति में निबंध के स्वरूप पर विचार करते हुए आंग्ल-साहित्य में निर्धारित निबंध के स्वरूप पर न्यूनाधिक रूप में दृष्टि रखना आवश्यक है।

अँगरेजी में निबंध का स्वरूप

अँगरेजी में निबंध के पर्यायवाची शब्द—एसे—का सामान्य अर्थ है अभीप्सित विषय के निरूपण का प्रयास मात्र। अँगरेजी के प्रथम निबंधकार फ्रांसिस बेकन ने भी इसे 'उच्छिन्न चिंतन' ( डिस्पर्स्ड मेडिटेशन ) के रूप में ग्रहण किया है। निबंध के विषय में उपर्युक्त दोनों धारणाओं का अभिप्राय स्थूलतः एक ही है। इससे विदित होता है कि जहाँ तक निबंध-रचना का प्रश्न है वहाँ तक वे लोग निबंध को गंभीर वस्तु नहीं स्वीकार करते। हाँ, उसमें चिंतन वा प्रणिधान ( मेडिटेशन ) की निहिति हो सकती है। विषय-निरूपण का प्रयास और चिंतन का उच्छेद वा क्षेपण ( फेंकना ) में आए 'प्रयास' और 'क्षेपण' शब्द द्वारा यह स्पष्ट है। अँगरेजी-साहित्य के आधुनिक युग के निबंधकारों की निबंध-विधान-विधि में भी उपर्युक्त बात पर ध्यान रखा जाता है। आज यह तथ्य रचना का हलकापन वा उसकी सरलता ( लाइट ट्रीटमेंट ) के रूप

में गृहीत है। अँगरेजी के आधुनिक निबंधकार भी जिस विषय पर निबंध प्रस्तुत करते हैं उसमें बनावटीपन ( आर्टिफिशियलिटी ) लाकर उसे दुरूह वा कठिन नहीं बनाते। अँगरेज समीक्षकों का कथन है कि जब उसमें दुरूहता आ जाती है और अध्ययन-प्रसूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जाता है तब वह निबंध न रहकर प्रबंध ( ट्रीटाइज ) हो जाता है। ऐसी स्थिति में निबंधगत साहित्यिकता और रोचकता उसमें नहीं रह जाती। निबंध के विषय में उपर्युक्त विचार को देखकर यह न समझना चाहिए कि उसकी रचना कोई सरल कार्य है। निबंध प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन कार्य है। इस विषय में आचार्य शुक्ल के साहित्य-संबंधी विचारों की विवेचना करते हुए हम स्वयं आचार्य शुक्ल और जे० डब्ल्यू० गैरियट के विचारों का निर्देश कर चुके हैं। सांतबवे भी निबंध-रचना को इसी रूप में ग्रहण करते हैं।

निबन्ध के तत्त्व

हमारे यहाँ 'निबंध' का जो सामान्य अर्थ है उसके द्वारा भी निबंध का सम्यक् स्वरूप-निर्धारण किया जा सकता है। 'निबंध' शब्द से 'कसा हुआ बंध' का अर्थ ग्रहण होता है। इस प्रकार 'निबंध' द्वारा गद्य की ऐसी रचना का बोध होता है जिसके बंधान में कसाव हो। यहाँ 'कसाव' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा निबंध की काया का लाघव वा उसका छोटापन भी व्यक्त होता है और उसमें ( निबंध में ) प्रस्तुत विचार और भाव का कसा हुआ वा व्यवस्थित रूप भी। निबंध गद्य की छोटी रचना है, इस विषय में भारतीय तथा अभारतीय सभी समीक्षक एकमत हैं। अँगरेजी के आलोचक भी निबंध को औसत वा सामान्य लंबाई ( माडरेट लेंथ ) का ही बतलाते हैं। निबंध में विचारों और भावों के व्यवस्थित रूप वा उनके कसाव पर अँगरेज निबंधकारों की दृष्टि नहीं दिखाई पड़ती। आचार्य शुक्ल निबंध के इस स्वरूप पर विशेष ध्यान देते हैं, जिसे हम आगे यथास्थान देखेंगे। यहाँ इसका निर्देश कर देना आवश्यक है कि इस कसाव का संबंध प्रधानतः विचारात्मक निबंधों से होता है। अँगरेजी के निबंधकारों की इस कसाव पर दृष्टि न रहने का भी कारण है और वह कारण है निबंध में निबंधकार की वैयक्तिकता (पर्सनालिटी)

के सनिवेश द्वारा गृहीत उनका ( अँगरेजी निबंधकारों का ) अर्थ। निबंध में निबंधकार का व्यक्तित्व होना आवश्यक है, इसे हिंदी के भी सभी समीक्षक और आचार्य शुक्ल भी स्वीकार करते हैं, पर वैयक्तिकता के संनिवेश के स्वरूप में अँगरेजी तथा हिंदी के समीक्षकों में मतभेद है। अँगरेजी के समीक्षक निबंध में व्यक्तित्व के चित्रण द्वारा उसमें ( निबंध मे ) निबंधकार-से संबद्ध घटनाओं, व्यक्तियों आदि के चित्रण पर विशेष ध्यान देते हैं, जिसके द्वारा निबंधकार के जीवन के विषय में अभिज्ञता प्राप्त होती है। वे निबंध में निबंधकार के व्यक्तिगत विचार, उसकी व्यक्तिगत विधान-विधि की विशेषता आदि पर ध्यान नहीं देते। हिंदी के समीक्षक निबंधगत निबंधकार के व्यक्तित्व-चित्रण से प्रधानतः यही अर्थ लेते हैं। यद्यपि बात ऐसी है तथापि अँगरेजी के निबंधों मे उपर्युक्त बातें रहती ही हैं। इस रूप मे व्यक्तित्व-चित्रण का अर्थ-ग्रहण होने के कारण होता यह है कि अँगरेजी के निबंधकारो को निबंध के प्रस्तुत विषय के अतिरिक्त बहुत-सी अन्य बाते भी कहनी पड़ती है। कहना न होगा कि अँगरेजी मे निबंध की इस रचना-पद्धति का बड़ा महत्त्व है, जिसका सबंध निबंधकार की मन की तरंग से जोड़ा जाता है, जिसके द्वारा निबंधकार के विषय मे बहुत अधिक और उसके द्वारा प्रस्तुत निबंध के विषय में बहुत कम जानकारी होती है। ऐसी स्थिति मे निबंधगत विचारों और भावो का कसाव सभव नहीं है। इसी कारण क्रैब निबंध को अनिवार्यतः अगूढ़ ( नेसेसरिली सुपरफिशियल ) और जॉनसन अव्यवस्थित ( इरेगुलर ) रचना स्वीकार करते हैं। पर जो लोग निबंध को गद्य-साहित्य का प्रधान अंग मानते है उनकी दृष्टि मे संभवतः यह अगूढ और अव्यवस्थित रचना न स्वीकृत हो सकेगी।

यहाँ निबंध में निबंधकार के व्यक्तित्व-चित्रण की विधि की बात कुछ और स्पष्ट हो जानी चाहिए। ऊपर इसका निर्देश हुआ है कि इसके ( व्यक्तित्व-चित्रण के ) द्वारा वस्तुतः निबंधकार के व्यक्तिगत विचार और उसका व्यक्तिगत विधान-विधि का अर्थ लेना चाहिए। विधान-विधि वा लेखन-शैली मे तो निबंधकार का व्यक्तित्व रहेगा ही, अतः इसके विषय मे कुछ कहने की

निबंध में निबंधकार की वैयक्तिकता

आवश्यकता नहीं है। निबंध में निबंधकार के व्यक्तिगत विचार किस रूप में आते हैं वा आ सकते हैं, इसे देख लेना चाहिए। निबंधकार निबंध में अपने व्यक्तिगत विचारों के चित्रण के लिए प्रस्तुत विषय से हटकर कभी-कभी विषयांतर ( डाइग्रेसन ) अवश्य करता है। पर यह विषयांतर वा असंबद्धता ऐसी नहीं होती कि अभीष्ट विषय एकदम पीछे छूट जाय और विषयांतर ही विषयांतर दृष्टिगत हो। व्यक्तित्व-चित्रणके लिए अँगरेजी के निबंधकारों की प्रवृत्ति इसी प्रकार की लक्षित होती है। वे प्रस्तुत विषय से मुँह मोड़कर कभी-कभी बड़ा लंबा-चौड़ा विषयांतर करते हैं। हिंदी के निबंधकारों में व्यक्तित्व-चित्रण के लिए जो विषयांतर दिखाई पड़ता है वह छोटा और यथाप्रसंग होता है। वे प्रसंग वा अवसर आनेपर ही विषयांतर कर अपने व्यक्तिगत विचारों का चित्रण करते हैं। विषयांतर इनका प्रधान लक्ष्य नहीं रहता। जैसे, श्री बालकृष्ण भट्ट ने अपने 'विद्या के दो नेत्र' शीर्षक निबंध में शास्त्रों का प्रसंग आने पर मुहूर्त-शास्त्र की नूतनता, इसके द्वारा ब्राह्मणों की धनोपार्जन की छिछली प्रवृत्ति आदि पर संक्षेप में अनेक विचार प्रकट किए हैं, जिसके द्वारा उनके व्यक्तित्व की एक झलक मिल जाती है। इतने विषयांतर के पश्चात् वे तुरत अपने विषय पर आ जाते हैं। अभिप्राय यह कि अपने व्यक्तित्व की छाप लगाने के लिए यदि निबंधकार निबंध में विषयांतर अवश्य करता है तो करे, पर वह संक्षिप्त और यथाप्रसंग होना चाहिए।

अँगरेजी-साहित्य के निबंधों में निबंधकार के व्यक्तित्व-चित्रण का थोड़ा बहुत स्वरूप हमने ऊपर देखा। व्यक्तित्व-चित्रण के इस स्वरूप के कारण वहाँ निबंध के लिए एक और बात कही जाने लगी है। जब निबंध में व्यक्तित्व-चित्रण की ही प्रधानता स्वीकार की गई और मुख्य वा प्रस्तुत विषय की गौणता, तब यह कहा जाने लगा कि निबंध का विषय तुच्छ से तुच्छ ( मोस्ट ट्रिवियल ) भी हो सकता है, क्योंकि निबंधकार का लक्ष्य तो आत्मप्रदर्शन होता है, विषय पर तो उसकी दृष्टि बहुत ही कम रहती है। ऐसी स्थिति में 'बिल्लियाँ' ( कैट्स ), 'खड़िया का एक टुकड़ा' ( ए पीस आव चाक )

निबंध में व्यक्तित्व-चित्रण और मुख्य विषय की तुच्छता

आदि विषयों पर निबंध लिखे जाने लगे। हिंदी में भी ऐसे विषयों पर निबंध प्रस्तुत हुए हैं, पर उनकी दृष्टि अभीष्ट विषय पर अवश्य अधिक है। जैसे, श्री प्रतापनारायण मिश्र द्वारा लिखित 'दाँत' और 'आप' नामक निबंध।

निबंध विशुद्ध साहित्य का प्रधान अंग है, इसे सभी देशों के समीक्षक स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में निबंध में साहित्यगत सभी विशेषताओं का होना आवश्यक है। अँगरेजी के समीक्षक इसकी सरल विधान-विधि, इसमें व्यक्तित्व के संनिवेश, इसकी अभिव्यक्ति के काव्यात्मक ढंग आदि पर दृष्टि रखकर इसे प्रगीत मुक्तकों (लीरिक्स) के समकक्ष रखते हैं। अँगरेजी के आधुनिक निबंध प्रायः इस प्रकार के होते भी हैं, उनके पढ़ने में काव्य का-सा ही आनंद प्राप्त होता है। हिंदी में निबंध को काव्य-कोटि में रखने की प्रवृत्ति नहीं लक्षित होती। हाँ, भावात्मक निबंध और निबंध का ही परिवर्तित और लघुरूप 'गद्यकाव्य' इस श्रेणी में अवश्य रखे जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ निबंध का संबंध गंभीरता और विचारात्मकता से ही जोड़ा जाता रहा है। यह उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि कविता या काव्य प्रस्तुत करने की सनातन शैली तो पद्य है ही, गद्य में उसे क्यों घसीटा जाय। इस विषय में आचार्य शुक्ल की भी यही धारणा है। इससे यह न समझना चाहिए कि विचारात्मकता की प्रधानता के कारण हिंदी-निबंधों में साहित्यिकता तथा रोचकता की कमी है, वस्तुतः बात ऐसी नहीं है, इसमें भी साहित्यगत आवश्यक विशिष्टताएँ प्राप्त होती हैं। क्योंकि निबंध में विचारात्मकता की प्रधानता के कारण विचारों की स्पष्टता के लिए इसकी लेखन-विधि में निबंधकार की विषय प्रस्तुत करने की, सम्यक् उदाहरण और उद्धरण द्वारा उसे स्पष्ट करने की, विषय के आरंभ, विकास तथा अंत में प्रभावात्मकता उत्पन्न करने की कला की परख की जाती है। यहीं उसकी शैली की रोचकता पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है।

निबंध और काव्य

इस संक्षिप्त विवेचन द्वारा निबंध के स्वरूप के विषय में थोड़ी-बहुत बातें स्पष्ट हो गई होंगी। इसके स्वरूप पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि पूर्व और

आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित निबंध का स्वरूप

पश्चिम दोनों पर रही है इस विषय में यथास्थान हम आचार्य शुक्ल के विचारों का भी निर्देश करते गए हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल के साहित्य-सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए भी हम इस विषय में उनके कुछ विचार देख चुके हैं—विशेषत व्यक्तित्व-चित्रण के विषय में। उन्होंने इस विषय में विशेषतः अपने 'इतिहास' में यत्र-तत्र कुछ लिखा है। निबंध के विषय में उनके शेष विचारों को यहाँ देख लेना अतिप्रसंग न होगा। आचार्य शुक्ल निबंध को गद्य-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। इसकी रचना को भी वे एक गूढ़ और गंभीर कार्य स्वीकार करते हैं, यह कहा जा चुका है। वे निबंध को 'गद्य की कसौटी' कहते हैं और उनका विचार है कि "भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।"—(इतिहास, पृ० ६०५)। इससे विदित होता है कि जहाँ तक भाषा का संबंध है, जो अभिव्यक्ति का साधन वा करण होता है, वहाँ तक निबंध का बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः बात भी ऐसी ही है, क्योंकि भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास की परख गद्य में ही सम्यक् रूप से की जा सकती है, जहाँ भाषा अनेक शासनों को स्वीकार करती हुई भी स्वच्छंद रूप से चल सकती है, उसके प्रवाह में किसी भी प्रकार की रोक-टोक उपस्थित होने की संभावना नहीं रहती। और निबंध गद्य-विधान का प्रधान स्थल है। पद्य की भाषा में अनेक विशिष्टताएँ अवश्य निहित रह सकती हैं, पर उक्त प्रवाह की उसमें प्रायः कम गुंजाइश दिखाई पड़ती है। इसका कारण पद्यगत नियंत्रण है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंध में इसलिए भी देखा जा सकता है कि इसमें गद्यकार थोड़े में ही अपने विचारों और भावों को लाघव (चुस्ती) के साथ रखने को बाध्य होता है—यदि गद्यकार सफल गद्यकार है तो। इस प्रकार भाषा-प्रवाह की सुविधा तथा गद्य-विधान के लाघव की आवश्यकता के कारण निबंध में भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास का दर्शन मिल सकता है। निबंध पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल की दृष्टि भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के साधन भाषा की

विशिष्टता पर ही नहीं प्रत्युत इसमें ( निबंध में ) अभिव्यक्त भावों और विचारों को प्रस्तुत करने की विधि पर भी है। अभिप्राय यह कि उनकी दृष्टि निबंध के कायविधान और आत्मविधान दोनों पर गई है। आचार्य शुक्ल उसी निबंध को उत्कृष्ट कोटि का मानते हैं जिसमें नए-नए विचारों की उद्भावना या अभिव्यक्ति हुई हो; और वे विचार एक दूसरे से गुथे हुए हों, जिनके ( विचारों के ) पढ़ने से "पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े।"—( इतिहास पृ० ६१० )। आचार्य शुक्ल का कथन है कि निबंध पढ़ने के पश्चात् यह आवश्यक है कि उसकी ( निबंध की ) गहन विचारधारा "पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।..."—( इतिहास, पृ० ६७२ )। निबंध के स्वरूप के विषय में आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त विचारों को देखने से स्पष्टतः लक्षित होता है कि वे निबंध में विचारों की कसावट पर विशेष जोर देना चाहते हैं, जो निबंध का मुख्य तत्त्व है। निबंध के विषय में आचार्य शुक्ल ने सर्वत्र ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं—( देखिए इतिहास, पृ० ६०५, ६०९, ६१०, ६३०, ६७२ )। निबंध के विषय में सर्वत्र उन्होंने संक्षेपतः यही निर्धारित किया है कि उसमें भाषा-विधान तथा अर्थ-विधान की चुस्ती आवश्यक है। इसमें वे 'भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार' की निहिति के साथ ही विचारों की सुगठित परंपरा की निहिति भी देखना चाहते हैं, जिसके पढ़ने से पाठक को नूतन विचारों की उपलब्धि हो। यहाँ स्मरण यह रखना चाहिए कि जिन आचार्य शुक्ल ने निबंधों में विचारों की कसावट का प्रतिपादन किया है उन्हीं ने यह भी कहा है कि निबंधकार निबंध-रचना करते समय बुद्धि के साथ अपने हृदय को भी लेकर चलता है। यह बात 'चिंतामणि' के 'निवेदन' द्वारा स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः कोरी बुद्धि द्वारा लिखे निबंध सच्चे निबंध कहे ही नहीं जा सकते। आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित निबंध के इस स्वरूप से यह स्पष्टतः विदित होता है कि उनके ये सब विचार विचारात्मक निबंध के विषय में ही हैं। निबंधों का स्वरूप-निर्धारण उन्होंने विचारात्मक निबंधों को लक्ष्य में रखकर ही किया है। इसका कारण यह है कि वे विचारात्मक निबंधों को ही निबंध का सच्चा रूप मानते थे। उनकी दृष्टि में विचारात्मक निबंध ही उच्च कोटि

के निबंध हैं। निबंध में निबंधकार की व्यक्तिगत विशेषता वा व्यक्तित्व के चित्रण के विषय में आचार्य शुक्ल की क्या धारणाएँ हैं, इसका विचार पहले हो चुका है।

आचार्य शुक्ल ने जिस विचारात्मक कोटि के निबंधों का स्वरूप-निर्धारण किया है और जिसकी श्रेष्ठता का वे प्रतिपादन करते हैं, जिसे हमने ऊपर देखा है, उसी विचारात्मक कोटि के निबंध भी उन्होंने लिखे। वे कैसे बन पड़े हैं, इसकी चर्चा यथास्थल की जायगी।

निबंध के स्वरूप पर विचार हो चुका, अब उसके प्रकारों को भी देख लेना चाहिए। सामान्यतः निबंध के पाँच प्रकार स्थिर किए गए हैं, जिनके अंतर्गत साहित्य में प्रचलित सभी प्रकार के निबंध आ जाते हैं। उन प्रकारों के नाम हैं—(१) विचारात्मक, (२) भावात्मक, (३) आत्मव्यंजक, (४) वर्णनात्मक और (५) कथात्मक। विचार करने पर निबंधों के इस प्रकार के वर्गीकरण के स्थूलतः दो आधार लक्षित होते हैं। एक आधार वह जिसका संबंध मानवगत हृदय और बुद्धि से है, जिसके अंतर्गत निबंध के उपर्युक्त प्रथम तीन प्रकार आते हैं। दूसरा आधार वह जिसका संबंध साहित्य में प्रचलित अभिव्यक्ति-शैली वा विषय प्रस्तुत करने की पद्धति से है, जिसके अंतर्गत निबंध के उपर्युक्त अंतिम दो प्रकार आते हैं। यदि अभिव्यक्ति-शैली के बंधन पर दृष्टि न रखी जाय तो निबंध के केवल दो ही प्रकार—विचारात्मक और भावात्मक—निर्धारित होंगे, क्योंकि अभिव्यक्ति-शैली के आधार पर वर्गीकृत निबंधों में भी भाव और विचार ही व्यक्त किए जाते हैं और आत्मव्यंजक निबंध में भी आत्मव्यंजना की प्रेरणा भाव वा विचार से ही मिलती है। अभिप्राय यह कि वस्तुतः निबंध दो ही प्रकार के हैं—विचारात्मक और भावात्मक। साहित्य के मूल आधार भाव और विचार हैं भी। हाँ, निबंध के इन प्रकारों के स्थिर हो जाने पर किसी निबंध में विचारों की प्रधानता दृष्टिगत होगी और किसी में भावों की; किसी में दोनों का समान रूप मिलेगा। कुछ रचनाएँ

निबंध के प्रकार

ऐसी भी मिल सकती हैं जिनमें विचारों की प्रधानता नहीं, प्रत्युत विचार मात्र की ही अभिव्यक्ति हो। ऐसी रचनाएँ निबंध के स्वरूप की परिमिति में न आएँगी, ये प्रबंध ( ट्रीटाइज ) कही जायँगी, जिनमें निबंधगत रोचकता और साहित्यिकता नहीं दृष्टिगत होतीं। भावात्मक निबंधों के विषय में कहना यह है कि इनमें भी बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धिपूर्वक उदित और चित्रित भाव ही साहित्य की कोटि में आ सकते हैं। इसका कारण यह है कि बुद्धि बिना हृदय के सहयोग के भी कार्य कर सकती है—यह बात दूसरी है कि इसके असहयोग के कारण साहित्य में पूर्णता न आएगी, पर हृदय बिना बुद्धि के नहीं चल सकता, यदि वह ऐसा करेगा तो पागल समझा जायगा। वस्तुतः बात यह है कि भावोदय भी बुद्धि वा ज्ञान के सहारे होता है। ऐसी स्थिति में भावात्मक निबंधों में भी बुद्धि वा विचार अपेक्षित है। इस प्रकार के निबंधों में विचारपूर्वक उदित भावों की अभिव्यक्ति विचार-पूर्वक होती है। इस प्रकार हम देखते यह हैं कि भावात्मक निबंधों में भी बुद्धिपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। विचारात्मकता इसमें भी वांछनीय है। निष्कर्ष यह है कि वस्तुतः निबंधों के विचारात्मकता तथा भावात्मक दो ही प्रकार स्थिर किए जा सकते हैं। इनमें भी विचारात्मक प्रकार का विशेष महत्व है।

**आचार्य शुक्ल के आरंभिक निबंध**

भारत में निबंध के प्राचीन रूप, आधुनिक काल में हिंदी-निबंध का पाश्चात्य निबंध से प्रभावित होना, निबंध के स्वरूप तथा उसके प्रकार आदि ज्ञातव्य विषयों पर विचार प्रस्तुत विषय की विवेचना में सुविधा और स्पष्टता के हेतु सी समझना चाहिये। निबंध के स्वरूप का विवेचन करते हुए इस विषय में आचार्य शुक्ल की मान्यताएँ भी देखी गई हैं। आचार्य शुक्ल ने हिंदी-साहित्य को जितने प्रकार की रचनाएँ प्रदान की हैं उन सभी प्रकार की रचनाओं का श्रीगणेश उनके साहित्यिक जीवन के आरंभ से ही दिखाई पड़ता है। उन रचनाओं के प्रस्तुत करने की प्रतिभा का बीज उनमें ( आचार्य शुक्ल में ) पहले से ही विद्यमान था, जो उत्तरोत्तर विकसित होकर पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ। उनकी आलोचना वा उसकी शक्ति के विकास पर हम विचार कर चुके

हैं। आचार्य शुक्ल के निबंध या उनकी लेखन-कला का विकास भी क्रमशः हुआ है। 'चिंतामणि' के निबंधों में जो प्रौढ़ता और परिष्कार दृष्टिगत होत है वह सहसा ही नहीं आ गया है। ये निबंध तो उनकी निबंध-रचना-शक्ति के विकसित और प्रौढ़तम फल हैं। अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत किए गए निबंधों में से कुछ के नाम हैं—'साहित्य' 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी' और 'मित्रता'। ये उनके बहुत प्राचीन निबंधों में से हैं। 'साहित्य' नामक निबंध सन् १९०४ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था और 'भाषा की शक्ति' नामक निबंध 'आनंदकादंबिनी' में। इसी प्रकार उपर्युक्त शेष निबंध भी प्राचीन ही हैं। इन निबंधों के विषयों को देखने से विदित होता है कि आचार्य शुक्ल में उन सभी प्रकार के विषयों पर निबंध प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति आरंभ से ही है जिन विषयों पर लिखे निबंध 'चिंतामणि' में प्राप्त हैं, और जो उनके उच्च कोटि के निबंध समझे जाते हैं। उनके ये प्राचीन निबंध भी सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक आलोचना और मनोविकार से संबद्ध विषयों पर लिखे गए हैं। ये भी विचारात्मक वा विवेचनात्मक निबंध हैं। इन निबंधों की लेखन-शैली भी वैसी ही है जैसी उनके इधर के निबंधों में प्राप्त होती है। इस प्रकार हमें अवगत होता है कि आचार्य शुक्ल के प्राचीन तथा इधर के प्रौढ़ निबंधों की प्रवृत्तियों में साम्य है। जिस प्रकार के निबंध उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन की प्रौढ़ावस्था में लिखे हैं, उस प्रकार के निबंधों को लिखने की प्रवृत्ति उनमें आरंभ से ही थी। अतः इधर के उनके प्रौढ़ निबंध उनके प्राचीन निबंधों के विकसित रूप हैं, उनमें निबंध-लेखन-कला का विकास क्रमशः हुआ है। यद्यपि आचार्य शुक्ल द्वारा इन दो अवस्थाओं में रचे निबंधों में अनेक प्रकार का साम्य है तथापि इसे भी स्मरण रखना चाहिए कि उनके प्राचीन निबंधों में निबंध के सभी तत्त्वों का पूर्ण संनिवेश नहीं प्राप्त होता। यह संभव नहीं था, क्योंकि ये उनके आरंभिक निबंध हैं। फिर भी उस समय जो साहित्यिक निबंध लिखे जाते थे उनमें उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य शुक्ल के जिन आरंभिक निबंधों की चर्चा ऊपर हुई है उनके

अतिरिक्त उनकी ( आचार्य शुक्ल की ) प्रौढ़ावस्था में लिखे गए प्रायः सभी निबंध 'चिंतामणि' में संगृहीत हैं। इन निबंधों को देखने से विदित होता है कि इनकी दो श्रेणियाँ सरलतापूर्वक बाँधी जा सकती हैं। एक श्रेणी में तो भावों या मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं और दूसरी श्रेणी में समीक्षात्मक निबंध। इन समीक्षात्मक निबंधों के भी स्पष्टतः दो विभाग लक्षित होते हैं। एक विभाग में वे निबंध आएँगे जो सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखे गए हैं; जैसे, 'कविता क्या है ?', 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा रसात्मक बोध के विविध रूप'। सैद्धांतिक समीक्षा पर प्रस्तुत हुए इन निबंधों को हम काव्य-शास्त्रीय निबंध भी कह सकते हैं। दूसरे विभाग में वे निबंध आएँगे, जो व्यावहारिक समीक्षा पर लिखे गए हैं; जैसे, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' और 'मानस की धर्म-भूमि'। भावों वा मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों के नाम इस प्रकार हैं—'भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति'; 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय' और 'क्रोध'।

**प्रौढ़ावस्था में लिखे गए निबंधों का वर्गीकरण**

भावों वा मनोविकारों पर आचार्य शुक्ल द्वारा इन निबंधों का प्रस्तुत किया जाना हिंदी-साहित्य में एक नवीन घटना है। इस विषय पर जिस रूप में ये निबंध हैं उस रूप में प्रस्तुत होकर चाहे किसी भी साहित्य का मस्तक ऊँचा कर सकते हैं*। इस विषय का प्रतिपादन ( ट्रीटमेंट ) आचार्य शुक्ल ने जिस रूप में किया उस रूप में इस विषय पर विचार शायद ही किसी देश के साहित्य में मिले। आचार्य शुक्ल के पूर्व हिंदी के निबंधकारों ने भावों वा मनोवेगों को

**मनोविकारों पर लिखे गए निबंध**

* एक बार किसी विज्ञ ही के मुख से सुना था कि आचार्य शुक्ल के इन निबंधों में से कुछ के अनुवाद किसी विदेशी भाषा में हुए हैं। इस बात की सत्यता की प्रामाणिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

अपने निबंध का विषय तो बनाया पर वे इन पर साहित्यिक दृष्टि से विचार न कर सके जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया। किसी भी विषय पर लिखकर उसे साहित्यिक-पुट वा रंग देने की क्षमता उन निबंधकारों में नहीं लक्षित होती। श्री बालकृष्ण भट्ट ने मानसिक शक्ति से संबद्ध 'आत्मनिर्भरता' पर निबंध तो प्रस्तुत किया पर उसमें अधिकतर इसके द्वारा होनेवाले लाभों की ही चर्चा की। उन्होंने इसको एक आत्मशक्ति वा भाव के रूप में ग्रहण करके इस पर विचार नहीं किया। श्री प्रतापनारायण मिश्र ने अपने 'मनोयोग' नामक निबंध में भी इसके लाभ-हानि का ही विचार किया है। श्री माधवप्रसाद मिश्र के 'धृति और क्षमा' नामक निबंध में भी इनका (धृति और क्षमा का) भावों के रूप में विवेचन नहीं है प्रत्युत धर्मशास्त्रीय विवेचन है। वे ऐसे ही विषयों पर लिखते भी थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के अन्य निबंधकारों ने भावों पर निबंध लिखा तो अवश्य पर उन्होंने उन पर विशुद्ध भाव की दृष्टि से विचार नहीं किया। उन्होंने मनोभावों की उत्पत्ति, उनके लक्षण और विकास आदि को दृष्टि-पथ में रखकर उन्हें नहीं देखा। आचार्य शुक्ल ने वैसा किया है। उन्होंने मनोविकारों की उत्पत्ति, उनके लक्षण और विकास का अध्ययन व्यावहारिक जीवन और समाज में करके उन पर निबंध प्रस्तुत किए। शुद्ध मनोविज्ञान वा मनोशास्त्र की आँख से भावों वा मनोविकारों को देखकर उन्होंने उन पर निबंध नहीं लिखा, उन्होंने इनको (भावों को) जीवन और समाज में अपनी आँख से देखा, उनका अनुभव किया और उन्हें निबंध का रूप दिया। संभव है उन्हें इस कार्य में कहीं-कहीं मनोशास्त्र से कुछ सहायता मिली हो; पर जिस रूप में ये निबंध हमारे संमुख हैं उस रूप में उन्हें देखने पर स्पष्टतः विदित हो जाता है कि लेखक को भावों का सामाजिक और व्यावहारिक अनुभव है। उसने अपनी अनुभवशीलता के बल पर इनका विवेचन किया है, शास्त्र के बल पर नहीं। भावों पर लिखे गए निबंधों द्वारा इनके विषय में आचार्य शुक्ल की पूर्ण और सच्ची अनुभवशीलता का परिचय मिलता है। इनसे विदित होता है कि उन्हें इनके (भावों के) सामाजिक और व्यवहारिक स्वरूप का कितना सम्यक् ज्ञान था। उनकी दृष्टि भावों के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों वा स्वरूपों पर गई है, जिस

उनकी अनुभूतिशीलता द्योतित होती है। आचार्य शुक्ल ने मानव-जीवन और समाज में व्यवहृत प्रधान-प्रधान भावों पर ही विचार किया है। पर इन प्रधान भावों पर विचार करते हुए ही प्रसंग उपस्थित होने पर उन्होंने छोटे-छोटे भावों पर भी विचार कर लिया है। जैसे, 'भय' पर विचार करते हुए 'आशंका' का विचार, 'क्रोध' पर विचार करते हुए 'प्रतिकार' का विचार इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-जीवन और समाज में आनेवाले बड़े और छोटे सभी प्रकार के भावों का उन्होंने विवेचन कर लिया है। उपर्युक्त विवेचन से आचार्य शुक्ल की भावों की अनुभूतिशीलता तो स्पष्ट ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि भावों वा मनोविकारों पर निबंध प्रस्तुत करते समय उनकी दृष्टि मनोशास्त्र पर नहीं प्रस्तुत इनके ( भावों के ) समाज और जीवन-गत व्यवहारिक स्वरूपों पर है। इसी कारण हम आचार्य शुक्ल के इन निबंधों को मनोवैज्ञानिक निबंध नहीं कहते। उन्होंने मनोविज्ञान पर निबंध नहीं लिखा है प्रत्युत भावों वा मनोविकारों के व्यवहारिक स्वरूपों पर निबंध प्रस्तुत किया है। उनके इन निबंधों को कोई भी विज्ञ मनोशास्त्रीय निबंध नहीं कह सकता। इनमें भावों का शास्त्रीय विवेचन नहीं प्रत्युत व्यावहारिक विवेचन है। एक और दृष्टि से भी हम इन्हें मनोवैज्ञानिक निबंध नहीं कहते। हम पर विदित है कि आचार्य शुक्ल एक साहित्यिक व्यक्ति थे और किसी भी विषय को साहित्य की दृष्टि से देखा करते थे। अतः उन्होंने भावों पर विचार भी एक साहित्यिक के रूप में ही किया है, मनोवैज्ञानिक के रूप में नहीं। मनोवैज्ञानिक की भाँति उन्होंने भावों की छान-बीन नहीं की है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है। उनके इन निबंधों में साहित्य का समावेश सर्वत्र मिलता है। भावों पर विचार करते हुए भी वे अपनी साहित्यिकता वा साहित्य को नहीं त्याग सके। इसी कारण इन निबंधों में मनोवैज्ञानिक लेखों की भाँति दुरूहता तथा रूखापन नहीं है। इनमें सरलता, रोचकता तथा साहित्यिकता है। इस विवेचन से हमारा तात्पर्य यही है कि भावों पर लिखे गए आचार्य शुक्ल के निबंध मनोवैज्ञानिक निबंध नहीं, प्रत्युत साहित्यिक निबंध ही हैं। उनका साहित्यिक मूल्य है, मनोवैज्ञानिक मूल्य नहीं। हाँ, उन्होंने मनोवेगों

का समाजगत तथा जीवनगत व्यावहारिक स्वरूप अवश्य ग्रहण किया है और उसे साहित्य की दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

भावों वा मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों के विषय में एक बात और कहनी है। वह है इन पर लिखे गए आरंभिक निबंधों के विषय में, जिन में से इस समय 'मित्रता' नामक निबंध ही मिलता है। यह निबंध भावों पर लिखे गए इधर के निबंधों की भाँति गहन नहीं है। पर मित्रता के भाव के विषय में जीवन और समाजगत व्यावहारिक स्वरूपों पर इसमें विचार अवश्य है, यद्यपि उस प्रकार के विचार की प्रधानता इसमें नहीं मिलती, जैसी कि इधर के निबंधों में मिलती है। यह उनका आरंभिक निबंध है भी। इसमें ऐसे विचार का विकसित रूप मिल भी नहीं सकता है। हाँ, भावों के विषय में इधर के जो निबंध हैं, उनके विकसित स्वरूप का बीज इसमें अवश्य मिलता है। 'मित्रता' नामक निबंध देखने से विदित होता है कि यह शिक्षात्मक और थोड़ी विद्या-बुद्धिवालों के लिए है। यह बात इसकी वाक्य-योजना में व्यवहृत आज्ञासूचक (इंपरेटिव) वाक्यों से स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि इसकी शैली प्रायः व्याख्यानात्मक है, जिसका लक्ष्य होता है प्रभावोत्पादन। शिक्षा के लिए इस शैली की विशेष आवश्यकता होती है। मित्रता से लाभ-हानि के उदाहरण इसमें विशेष हैं जो प्रायः इतिहास से लिए गए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह निबंध उन निबंधों की भाँति परिपुष्ट नहीं है जो आचार्य शुक्ल की प्रौढ़ावस्था में लिखे गए हैं। इसमें भाषा और विचारों की विधान-पद्धति सरल है। पर यह तो निश्चित ही है कि यह भी प्रौढ़ निबंधों की भाँति विचारात्मक निबंध ही है।

'मित्रता' नामक आरंभिक निबंध

आचार्य शुक्ल के समीक्षात्मक निबंधों के विषय में कुछ विचार कर लेना चाहिए, यद्यपि इनके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि समीक्षा का क्षेत्र ही आचार्य शुक्ल का प्रधान क्षेत्र था। उन्होंने समीक्षात्मक निबंध ही विशेष लिखे। यह बात हम आचार्य शुक्ल के मत्तानुसार ही कह रहे हैं, क्योंकि 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका को उन्होंने

'आलोचनात्मक निबंध' और 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका को 'विस्तृत निबंध' कहा है। 'गोस्वामी तुलसीदास' में भी तुलसीदास पर लिखे गए विभिन्न निबंधों का संग्रह है।

समीक्षात्मक निबंध

समीक्षात्मक निबंध से हमारा तात्पर्य व्यावहारिक समीक्षा पर तथा सैद्धांतिक समीक्षा या काव्य-शास्त्र पर लिखे गए निबंधों से है, इसे हम पहले ही कह चुके हैं। स्थूलतः इन्हें साहित्य-विषयक निबंध भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के निबंध हिंदी-साहित्य में बराबर लिखे जाते रहे हैं और अब भी लिखे जाते हैं। पर आचार्य शुक्ल के इन निबंधों का विशेष महत्त्व है। वह इस दृष्टि से कि व्यावहारिक आलोचना के निबंधों में उनकी अपनी प्रवृत्ति या पद्धति का समावेश मिलता है, उन्होंने स्वतः इस कार्य में आदर्श स्थापित किया और सैद्धांतिक समीक्षा या काव्यशास्त्र पर लिखे गए निबंधों में उन्होंने अपना मत प्रतिपादित किया, जिसका संबंध न भारतीय काव्य-शास्त्र से विशेष है और न किसी अभारतीय काव्य-शास्त्र से ही। उनमें उनके स्वयं के अध्ययन, मनन और चिंतन से प्रसूत विचार या सिद्धांत व्यक्त किए गए हैं। हिंदी-साहित्य में इस प्रकार के निबंध आचार्य शुक्ल के ही दिखाई पड़ते हैं। द्विवेदी-युग में काव्य-शास्त्र पर जो निबंध लिखे जाते थे उनमें भारतीय काव्य-शास्त्रियों के मतों का ही अनुगमन मिलता है, उनमें लेखक की कोई अपनी सूझ नहीं मिलती। स्वतः द्विवेदीजी के 'कवि और कविता' नामक निबंध में यह बात देखी जा सकती है। छायावाद-युग के साहित्य-विषयक निबंधों में काव्य पर पाश्चात्य विचारों का कथन विशेष मिलता है। हाँ, इस युग में कुछ निबंधकार ऐसे अवश्य हुए जो इस विषय में अपना स्वयं मत रखते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल के काव्य-शास्त्रीय निबंधों का बड़ा महत्त्व है। उनके व्यावहारिक समीक्षा पर लिखे गए निबंधों का भी कुछ कम महत्त्व नहीं है।

आचार्य शुक्ल के निबंधों का वर्गीकरण करके उनके एक-एक वर्ग पर अब तक विचार हुआ है। अब समग्रतः उनकी विशेषताओं या प्रवृत्तियों के विषय

**आचार्य शुक्ल के निबंधों की विशेषताएँ**

में भी विचार कर लेना चाहिए। निबंध के सत्स्वरूप की विवेचना की जा चुकी है। इस विषय में आचार्य शुक्ल के विचार भी देखे जा चुके हैं। सच्चे निबंध की विशेषताओं को दृष्टि में रखकर यदि आचार्य शुक्ल के निबंधों पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि उनमें इसकी सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। निबंध में संघटित विचारों की अभिव्यक्ति, उसमें व्यक्तित्व की निहिति आदि, जो निबंध के परमावश्यक तत्त्व माने जाते हैं, सभी आचार्य शुक्ल के निबंधों में प्राप्त हैं।

**संघटित विचार-परंपरा**

निबंध के विषय में आचार्य शुक्ल के विचारों को देखते हुए हम देख चुके हैं कि वे निबंध में संघटित विचारों की परंपरा की निहिति और उनमें पारस्परिक लगाव पर विशेष ध्यान रखना आवश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टि में निबंधों के अनेक तत्त्वों में से यह प्रधान तत्त्व है। उनके निबंधों में इस तत्त्व की निहिति सर्वत्र देखी जा सकती है। उन्होंने सदैव एक विचार को दूसरे विचार से संबद्ध रखने का प्रयत्न किया है। उनके निबंधों में विचारों की परंपरा कहीं टूटती हुई-सी नहीं लक्षित होती। इस कारण निबंधों में कसावट स्वतः ही आ गई है। निबंध की यह विशेषता आचार्य शुक्ल के 'भाव या मनोविकार' नामक निबंध में भली भाँति देखी जा सकती है।

**विषय-प्रधानता तथा व्यक्ति-प्रधानता**

निबंध में संघटित विचार-परंपरा की अभिव्यक्ति को लेकर एक प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थिति में निबंध का वैशिष्ट्य विषय-प्रधानता में माना जाय अथवा व्यक्ति-प्रधानता में, जो आधुनिक काल में उसके (निबंध के) तत्त्वों में अति प्रधान तत्त्व स्वीकृत किया जाता है। जहाँ तक निबंध में गठी हुई विचार-परंपरा की निहिति का संबंध है वहाँ तक उसे विषय-प्रधान ही कहा जायगा—अभीष्ट विषय पर संघटित विचार-परंपरा की अभिव्यक्ति पर लक्ष्य के कारण। ऐसी अवस्था में निबंधों के सच्चे स्वरूप के अनुसार उनका विषय प्रधान होना अत्यावश्यक है। बात ऐसी है अवश्य, पर इसके सा

निबंधगत व्यक्ति-प्रधानता का कोई विरोध हमें नहीं लक्षित होता, क्योंकि निबंध में निबंधकार की शैली उसके व्यक्तित्व से अनुस्यूत होती ही है, किसी विषय के प्रतिपादन में उसकी रुचि, उसके कार्यक्षेत्र ( साहित्य आदि ), उसके अध्ययन-मनन आदि की प्रेरणा होती ही है और अभीष्ट विषय पर विचार करते हुए उसके विषय के अतिरिक्त, पर उसी से येनकेन प्रकारेण संबद्ध, अपने विचारों की अभिव्यक्ति वह प्रासंगिक विषयांतर द्वारा करता ही है—यदि वह सच्चा निबंधकार है और निबंध में अपने व्यक्तित्व की निहिति पर उसका लक्ष्य है। इस प्रकार निबंधगत विषय-प्रधानता और व्यक्ति प्रधानता में कोई विरोध नहीं जान पड़ता। सच्चे निबंधकारों के निबंधों में इन दोनों तत्त्वों की निहिति स्वतः ही हो जाती है। आचार्य शुक्ल के निबंध में इनका उपयुक्त और संयत संनिवेश मिलता है। चिंतामणि' के 'निवेदन' में उन्होंने कहा है—"......इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।" उनके निबंध विचारात्मक होने के कारण विषय-प्रधान तो हैं ही, पर साथ ही उनमें व्यक्तित्व की भी अप्रधानता नहीं है। उनके निबंधों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप है। हिंदी में वस्तुतः उन्होंने वैयक्तिक निबंधों का आदर्श प्रस्तुत किया। अपने निबंधों में इन दोनों तत्त्वों की निहिति का अनुभव करते हुए भी आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त बात क्यों कही। इसका भी कारण है। बात हुई यह कि जब पाश्चात्य समीक्षकों ने निबंधगत व्यक्तित्व की निहिति को ही उसका एकमात्र लक्ष्य स्वीकार किया तथा इसका ( निबंध में व्यक्तित्व की निहिति का ) वे अनेक मनमाना अर्थ करने लगे और निबंधगत अभीष्ट विषय पर उनकी दृष्टि जमने ही न लगी, तब आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त कथन द्वारा अपना यह मत प्रकट करने का प्रयत्न किया कि निबंध में व्यक्तित्व की निहिति के साथ ही अभीष्ट विषय की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यक्तित्व की निहिति की भी उन्होंने युक्तिसंगत व्याख्या की, जिसे हम देख चुके हैं। निबंधगत विषय और व्यक्तित्व दोनों को उन्होंने समान स्थान दिया। और जिन निबंधों में इन दोनों तत्त्वों की अभिव्यक्ति मिलती है उन्हें भी वे वैयक्तिक निबंध ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की स्वीकृति का कारण भी असंगत नहीं है, क्योंकि निबंधगत् विषय और निबंधकार के

व्यक्तित्व के घनिष्ठ संबंध का विवेचन हम कर चुके हैं। इस विवेचन का अभिप्राय यह कि आचार्य शुक्ल ने निबंधगत विषय और व्यक्तित्व के विषय में अपनी धारणा के अनुसार ही निबंध प्रस्तुत किया। उन्होंने इसमें विषय और व्यक्तित्व दोनों का समन्वय किया, विषय पर विचार करते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भी पीछे नहीं रखा। आचार्य शुक्ल द्वारा अपने निबंधों में विषय की अभिव्यक्ति के विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, उनके निबंधों में संघटित विचार-परंपरा की निहिति और उसके पारस्परिक लगाव की विवेचना हम कर चुके हैं, जिसका लगाव विषय के प्रतिपादन या उसकी अभिव्यक्ति से ही है। उनके निबंधों में व्यक्तित्व की निहिति का क्या स्वरूप है, इसे ही देख लेना चाहिए।

आचार्य शुक्ल के निबंधों में उनके व्यक्तित्व की निहिति पर विचार करते हुए इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि वे साहित्यिक थे, अतः साहित्य-

**निबंधों में आचार्य शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व की निहिति**

विषयक उनके निबंधों में तो साहित्य की चर्चा है ही; भावों या मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों में भी यथाप्रसंग साहित्य की बातें आई हैं। इन निबंधों में, साहित्य की बातों को कहने के लिए विषयांतर तो अवश्य करना पड़ा है, क्योंकि बिना इसके ऐसा होना संभव ही नहीं था, पर यह विषयांतर भी प्रसंग आने पर हुआ है। साहित्य की बातों को कहने के लिए ही विषयांतर नहीं किया गया है। जैसे, 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबंध में प्रसंगवश देशी कारीगरी, चित्रकारी और संगीत पर जो विचार हुआ है वह साहित्य और साहित्यिक की दृष्टि से ही। अभिप्राय यह कि आचार्य शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व की निहिति उनके किसी भी निबंध में देखी जा सकती है।

आचार्य शुक्ल के निबंधोंमें उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर विचार करते हुए उनके लोकवाद या लोकादर्शवाद पर भी दृष्टि रखनी आवश्यक है।

**निबंधों में लोकवाद**

उन्होंने लोक या समाज की स्थिति और उसकी रक्षा पर सर्वत्र ध्यान दिया है। लोक की स्थिति में विषमता आ जाने से, उसमें लोभियों, लंपटों, स्वार्थियों आदि कलुषित व्यक्तियों

अथवा राष्ट्रों की वृद्धि से और इनके समाज से हटने वा सुधारने के अप्रयत्न से समाज की रक्षा भी संभव नहीं हो सकती। समाज की स्थिति और उसकी रक्षा के लिए ऐसे व्यक्तियों और राष्ट्रों की आवश्यकता है जिनमें पारस्परिक सहानुभूति हो, जो एक दूसरे का दुःख-सुख समझ सकें। ऐसे व्यक्ति और राष्ट्र से समाज वा लोक का कल्याण न होगा जिन्हें दूसरों का गला घोंटकर स्वयं समृद्ध बनने की लालसा है और जो सशक्त होने पर अपनी इस लालसा की पूर्ति भी कर लेते हैं। लोकवाद के विषय में आचार्य शुक्ल के ये विचार भावों वा मनोविकारों पर प्रस्तुत हुए निबंधों में विशेष रूप से दृष्टिगत होते हैं। 'श्रद्धा-भक्ति' और 'भय' नामक निबंधों में इस लोकवाद की निहिति प्रसंगवश विशेष मिलती है। *जिस निबंधकार की दृष्टि समाज की स्थिति तथा रक्षा पर है* और जो समाज में शांति तथा समता की स्थापना का समर्थक है उसके हृदय की विशालता का अनुभव सहज में ही किया जा सकता है।

**नए ढंग की आत्माभिव्यक्ति**

आचार्य शुक्ल के निबंधों में यदि कोई नए ढंग की आत्माभिव्यक्ति को देखना चाहे, जैसा कि अँगरेजी के निबंधों में मिलता है, तो उसे भी निराश न होना पड़ेगा। पर इस नए ढंग की आत्माभिव्यक्ति भी आचार्य शुक्ल ने संयत रूप से और सप्रसंग की है। इसके द्वारा विषय की स्पष्टता की सिद्धि होती है। पाश्चात्य वा अँगरेजी के समीक्षकों की दृष्टि में निबंधगत आत्माभिव्यक्ति का अर्थ है निबंधकार द्वारा प्रथमपुरुष एक वचन में अपने से संबद्ध घटनाओं और व्यक्तियों आदि का उल्लेख, जिनका संबंध अभीष्ट विषय से नहीं भी हो सकता। कहना न होगा कि इस प्रकार की आत्माभिव्यक्ति के कारण अँगरेजी-निबंधों में प्रायः उच्छृङ्खलता के दर्शन होते हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने से संबद्ध घटनाओं, व्यक्तियों आदि का उल्लेख किया है, पर वे सप्रसंग और विषय को स्पष्ट करने में सहायक हैं। जैसे विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विभिन्न प्रकार के अनुभवों वा प्रत्यक्षों पर विचार करते हुए अपने विषय में उनका यह कहना—"रात्रि में, विशेषतः वर्षा की रात्रि में, झींगुरों और झिल्लियों के झंकारमिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुनकर मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।"—( चिंतामणि, पृ० ३३३ )। एक उदाहरण और देखें-

"......मैं अपने एक लखनवी दोस्त* के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्त्व-विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इस लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा—'यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।"—(चिंतामणि, पृ० १०७)। जिन प्रसंगों पर ये बातें कही गई हैं उनको देखने से विदित होगा कि केवल अपनी बात कहने के लिए ही इनकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, प्रत्युत उपयुक्त प्रसंग आने पर इनकी योजना की गई है।

**हास्य व्यंग्य और विनोद**

आचार्य शुक्ल में हास्य, व्यंग्य और विनोद की जो प्रवृत्ति थी अवसर आने पर उसका दर्शन उनकी सभी प्रकार की रचनाओं में मिलता है। उनकी आलोचनाओं में इस प्रवृत्ति की नियोजना पर हम विचार कर चुके हैं। उनके निबंधों में भी इसकी मात्रा कम नहीं है। अवसर आने पर आचार्य शुक्ल हास्य, व्यंग्य और विनोद से चूकते नहीं। 'उत्साह' नामक निबंध में अनेक प्रकार के वीरों पर विचार करने के पश्चात् बड़े ही संयत व्यंग्य के साथ वे कहते हैं—"इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।"—(चिंतामणि, पृ० १४)। ऐसे स्थल उनके निबंधों में अनेक मिल सकते हैं। इस प्रकार हास्य, व्यंग्य और विनोद की नियोजना द्वारा उनके निबंधों में रोचकता भी प्रभूत परिमाण में आ गई है। एक बात और। उनके निबंधों में इस प्रवृत्ति की नियोजना का संबंध

* ये लखनवी दोस्त हिंदी के पुराने लेखक श्री पुत्तनलाल विद्यार्थी थे।

उसमें उनके व्यक्तित्व के निहिति से भी जोड़ा जा सकता है।

'चिंतामणि' के 'निवेदन' द्वारा यह स्पष्टतः विदित होता है कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने निबंधों में बुद्धि का उपयोग प्रधान रूप से किया है तथापि हृदय भी बुद्धि के साथ ही था। इनमें बुद्धि और हृदय दोनों की क्रिया का समावेश है। यही कारण है कि उनके विचारात्मक निबंधों में प्रसंग उपस्थित होने पर भावात्मकता की भी बड़ी अच्छी नियोजना हुई है जो फालतू नहीं, प्रत्युत समुचित स्थल पर होने के कारण, उपयुक्त प्रतीत होती है। उसकी शैली भी गंभीर है। 'लोभ और प्रीति' नामक निबंध में इसका समावेश कई स्थलों पर तथा बड़ा सुंदर हुआ है। प्रेम के अंतर्गत देश-प्रेम पर विचार करते हुए एक स्थल पर आचार्य शुक्ल कहते हैं—"रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर, या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"—(चिंतामणि, पृ० १०५)।

भावात्मकता

आचार्य शुक्ल के निबंधों की प्रतिपादन और भाषा की शैली में एक विचित्र भव्यता तथा विशालता (ग्रैन्ज्योर) है, जिनके द्वारा उनकी उठान, उनके विकास तथा उनकी समाप्ति में प्रभूत प्रभावात्मकता दृष्टिगत होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि इस प्रकार के निबंधों में बात कहने को विशेष नहीं होती, थोड़ी ही रहती है, पर कही इस ढंग से जाती है कि वह बहुत ही भव्य प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, 'तुलसी का भक्तिमार्ग' 'मानस की धर्म-भूमि' तथा 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' नामक निबंध देखे जा सकते हैं। इन निबंधों में आचार्य शुक्ल की निबंध-लेखन-कला के पूर्ण विकास का दर्शन होता है।

प्रतिपादन तथा भाषा-शैली में भव्यता और विशालता

आचार्य शुक्ल के निबंधों के स्वरूपों की विवेचना की समाप्ति के पूर्व इनके

विषय में एक भ्रम का निवारण अतिप्रसंग न होगा। प्रायः यह कहा जाता है कि उनके निबंध बड़े रूखे हैं। पर बात ऐसी नहीं है। हाँ, इनमें गांभीर्य अवश्य है। ये गंभीर विषयों पर लिखे ही गए हैं। समीक्षात्मक निबंधों में 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' निबंध बहुत ही गंभीर हैं। इसका कारण यह है कि इनमें उन्होंने अपने कुछ मतों वा सिद्धान्तों की स्थापना तथा उनकी विवेचना की है ये गंभीर अवश्य हैं पर रूखे नहीं होने पाए हैं। भावों वा मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों में भी यद्यपि विवेचना की गई है तथापि उनमें भी रूखापन नहीं आने पाया है। आचार्य शुक्ल के समीक्षात्मक निबंधों से वे अधिक रोचक हैं। अभिप्राय यह कि उनके निबंध गंभीर अवश्य हैं पर रूखे नहीं। उन्होंने अपने निबंधों में साहित्यिकता, हास्य-व्यंग्य-विनोद, व्यक्तित्व आदि की निहिति द्वारा इन्हें बहुत ही रोचक बना दिया है। इस विषय में एक और बात पर ध्यान रखना आवश्यक है, वह यह कि उनके निबंध उच्च कोटि के निबंध हैं, इस कारण कम विद्या-बुद्धिवालों को ये कुछ दुरूह प्रतीत हो सकते हैं; पर संबुद्धि की अक्षमता के कारण उन पर रूखेपन का आरोप युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

रूक्षता का व्यर्थ आरोप

आचार्य शुक्ल की निबंध-शैली पर विचार करने के लिए इस पर ध्यान रखना आवश्यक है कि उनके निबंध विचारात्मक हैं। विचारात्मक निबंधों को प्रस्तुत करने की प्रधानतः दो शैलियाँ प्रचलित हैं। एक आगमन-शैली (डिडक्टिव स्टाइल) और दूसरी निगमन-शैली (इंडक्टिव स्टाइल)। आगमनशैली में निबंधकार अपने विचारों की विवेचना और व्याख्या करने के पश्चात् प्रघट्टक (पैराग्राफ) के अंत में उनका निष्कर्ष सूत्रतः कहता चलता है। निगमन-शैली में प्रघट्टक के आरंभ में ही समास वा सूत्र रूप में विचारों वा सिद्धान्तों को व्यक्त किया जाता है और तत्पश्चात् व्यक्त विचारों वा सिद्धान्तों का प्रतिपादन उदाहरणों, उद्धरणों और तर्कों द्वारा किया जाता है, जिससे व्यक्त विचार स्पष्ट हो जाते हैं। कहना न होगा कि इस शैली के निबंध विचा-

निबंधों की निगमन शैली

रात्मक ही होंगे और उनका लेखक एक गंभीर व्यक्ति। आचार्य शुक्ल के सभी निबंध इसी शैली पर लिखे गए हैं। निबंध की निगमन-शैली को समास-शैली भी कहा जा सकता है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल पहले थोड़े में कुछ कह लेते हैं तब उसकी व्याख्या करते हैं। अभिप्राय यह कि सूत्र रूप में कहने की प्रवृत्ति उनमें विशेष है, और वे थोड़े में बहुत कुछ कह जाते हैं। थोड़े ही में अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण आचार्य शुक्ल ने मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों में कुछ अति विस्तृत अर्थगर्भ सूत्रों का निर्माण किया है, जो उनकी अनुभवशीलता तथा उनके रचना-कौशल का द्योतक है। जैसे 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है', 'यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है' इत्यादि।

सूत्र रूप में कहने की प्रवृत्ति

भावों वा मनोविकारों पर लिखे गये निबंधों में आचार्य शुक्ल ने यथावसर जिन दो भावों में साम्य वा असाम्य की स्थापना संभव है उनमें इसका ( साम्य वा असाम्य का ) चित्रण किया है। ऐसा करने से विषय में स्पष्टता आ गई है। जैसे, 'उत्साह' नामक निबंध में उन्होंने उत्साह और भय की विपरीत प्रवृत्ति का निर्देश किया है ( देखिए चिंतामणि, पृ० ८ )। इसी प्रकार 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबंध में प्रेम और श्रद्धा का अंतर बतलाया है ( वही, पृ० २४—२७ )। अन्य भावों पर विचार करते हुए भी उन्होंने इस शैली का ग्रहण किया है।

तुलनात्मक शैली

विषय की स्पष्टता के लिए ही आचार्य शुक्ल अपने निबंधों में 'सारांश यह कि' का प्रयोग उस स्थान पर करते हैं जहाँ वे समझते हैं कि विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। ऐसी आवश्यकता की प्रतीति पर प्रबन्धक में किए गए पूर्व विवेचन को दो-एक वाक्यों में सूत्रतः कह देते हैं।

'सारांश यह कि'

स्पष्टता तथा रोचकता की संस्थिति के लिए ही आचार्य शुक्ल ने अपने निबंधों में ( विशेषतः भावों वा मनोविकारों पर लिखे गए निबंधों में )

स्पष्टता तथा रोचकता के लिए अनेक प्रकार की कथाओं का सन्निवेश

पौराणिक, ऐतिहासिक तथा अन्य प्रकार की कथाओं और अपने जीवन में भी घटित कथाओं का उल्लेख तथा संकेत यथावसर यत्र-तत्र किया है। उनके निबंधों में इंद्रकृत हत्या की बँटाई में अन्य देवताओं को इसका (हत्या का) भाग मिलने की कथा, राजा हरिश्चंद्र तथा रानी शैव्या की कथा, रामभक्त हनूमान की कथा, गधे का बाघ बनने की हितोपदेशवाली कथा और स्वयं उनसे (आचार्य शुक्ल से) संबद्ध अनेक काथाओं का संकेत मिलता है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि उन्होंने किसी भी ऐसी कथा का संकेत या उसका उल्लेख नहीं किया है जो प्रचलित न हो, और जिसको ढूँढ़ने की आवश्यकता पड़े। कहीं-कहीं विज्ञान के तत्वों का भी उल्लेख मिलता है, पर ऐसे ही तत्वों का जो प्रचलित हैं। जैसे, "सामाजिक महत्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिंडों का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।"—(चिंतामणि पृ० ४६)। यहाँ विज्ञानकथित आकर्षण-शक्ति का उल्लेख किया गया है।

इसे हम देख चुके हैं कि आचार्य शुक्ल ने दो प्रकार के निबंध लिखे हैं। एक प्रकार भावों पर लिखे गए निबंधों का है और दूसरा प्रकार समीक्षात्मक निबंधों का।

भाषा-शैली

भावों पर लिखे गए निबंधों की भाषा-समीक्षात्मक निबंधों की अपेक्षा सरल है। उनमें तद्भव शब्दों तथा प्रचलित मुहावरों की प्रधानता है। इसका कारण तर्क, उदाहरण आदि देकर विषय को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति ही समझना चाहिए। इनमें 'लत', 'इजारा', 'सनकी', 'धूम', 'पराई' आदि प्रचलित शब्दों तथा 'महीना बाधना', 'पेट फूलना', 'काँटों पर चलना', 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' आदि प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग हुआ है। 'लज्जा और ग्लानि' नामक निबंध में मुहावरों का बड़ा सुंदर और अधिक प्रयोग मिलता है। इन निबंधों में एकाध फारसी की लोकोक्ति भी दिखाई पड़ती है। जैसे, 'मर्ग अंबोह जशने दारद'। आचार्य शुक्ल के समीक्षात्मक निबंधों में तत्सम

शब्दों का प्राधान्य है। वे साहित्यिक विषयों पर लिखे भी गए हैं। चाहे मनोविकारों पर लिखे गए निबंध हों अथवा समीक्षा पर, उन सबकी भाषा बड़ी ही गठी, मजी, प्रौढ़ और विषय-प्रतिपादनक्षम है। यदि सुरुचिपूर्ण पाठक उन्हें पढ़ें तो विदित होगा कि उनके एक-एक वाक्य के शब्द मोतियों की लड़ी-की-भाँति स्निग्ध हैं, उनमें खुरदुरापन कहीं भी नहीं मिलता।

आचार्य शुक्ल के निबंधों पर ऊपर विचार हुआ है। इसके द्वारा उनकी (निबंधों की) विशेषताओं का कुछ उद्घाटन हो गया होगा। कहना न होगा कि अब तक हिंदी-साहित्य के जितने निबंधकार हो गए हैं उनमें आचार्य शुक्ल का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन विषयों को उन्होंने अपने निबंधों के लिए चुना उन पर उनके पूर्व हिंदी-साहित्य में उनके (आचार्य शुक्ल के) ढंग के एक भी निबंध नहीं लिखे गए थे। हमारा तात्पर्य यहाँ उनके मनोभावों पर लिखे गए निबंधों से है। समीक्षात्मक निबंध उनके पूर्व के निबंधकारों द्वारा प्रस्तुत किए जा चुके थे, पर उनमें आलोच्य को उद्घाटित करने की वह पद्धति, उनमें उसके (आलोच्य के) प्रतिपादन की वह चुस्ती न थी जो आचार्य शुक्ल के निबंधों में मिली। इस विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वे उच्च कोटि के आलोचक थे ही। हिंदी-निबंध-साहित्य को देखने से विदित होता है कि आचार्य शुक्ल के पूर्व सच्चे अर्थ में दो बड़े ही उच्च कोटि के निबंधकार हो गए थे। उनके नाम हैं—पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र। पर इनमें तथा आचार्य शुक्ल में कोई तुलना नहीं है। इनके निबंधों में आत्मव्यंजकता की ही प्रधानता है। विषय की ओर इनकी विशेष दृष्टि नहीं लक्षित होती। आचार्य शुक्ल ने अपने निबंधों में विषय पर भी दृष्टि रखी और उनमें संयत तथा शिष्ट रूप में आत्मव्यंजना भी की। इस प्रकार उन्होंने विचारात्मक निबंधों की रचना की, जो उच्च कोटि के निबंध समझे जाते हैं। इन बातों को कहकर हमारा लक्ष्य उपर्युक्त दोनों निबंधकारों के महत्त्व को कम करना नहीं है। उन्होंने हिंदी-साहित्य को उसके गद्य-साहित्य के आरंभकाल में जो देन (काँट्रिब्यूशन) दी, उसको भुलाया नहीं जा सकता। जिस काल में उन्होंने अपने निबंध

हिंदी के निबंधकार और आचार्य शुक्ल

लिखे उस काल को दृष्टि में रखकर यदि विचार किया जाय तो वे अति उच्च कोटि के निबंधकार सिद्ध होते हैं। उनका तो महत्त्व ही दूसरे प्रकार का है और आचार्य शुक्ल का महत्त्व दूसरे प्रकार का। आचार्य शुक्ल ने अपने निबंधों द्वारा हिंदी साहित्य को उस समय समृद्ध किया जिस समय वह (हिंदी-साहित्य) अपने पैरों पर खड़ा हो चुका था। इसी कारण उनके निबंध भी बड़े ही प्रौढ़ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निबंधकार की दृष्टि से हिंदी-साहित्य में आचार्य शुक्ल का स्थान अपने ढंग का है और अन्य निबंधकारों का स्थान अपने ढंग का। उन्होंने अपने लिए निबंध का जो क्षेत्र चुना है उसके वे एकमात्र अधिपति हैं। और समग्रतः अन्य निबंधकारों की तुलना में भी यदि वे रखे जाएँ तो भी वे उच्च कोटि के निबंधकारों में प्रतिष्ठित हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

---

# भापाओं की मीमांसा

आश्चर्य होता है यह देखकर कि साहित्यकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल में वह शक्ति भी थी जो भापा-शास्त्रियों में होती है। उन्होंने साहित्य की सर्जना और मीमांसा के साथ ही भापाओं की भी मीमांसा की।

भापा-मीमांसा का क्षेत्र और उसकी पद्धति

यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि उन्होंने जिन भापाओं का विश्लेपण किया है उनका संबंध हिंदी भापा से ही है। वे भापाएँ वस्तुतः हिंदी की विभापाएँ हैं, पर साहित्यारूढ़ होने के कारण 'भापा' पद की अधिकारिणी हो गई हैं। हिंदी के अतिरिक्त और किसी देश की भापा की छान-बीन उन्होंने नहीं की है। उर्दू के मूल, विकास आदि के विपय में उन्होंने कुछ विचार अवश्य किया है, पर हिंदी के प्रसंग से ही। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य शुक्ल का कार्य-क्षेत्र साहित्य ही रहा है, अतः उन्होंने उन्हीं भापाओं की मीमांसा की है जो साहित्य या काव्य में प्रयुक्त हैं। भापा-क्षेत्र में कार्य करनेवाले भापावैज्ञानिकों की भाँति उन्होंने लोक-भापा और साहित्यारूढ़ भापा दोनों का साहाय्य अपनी भापा-मीमांसा में नहीं लिया है। भापा-शास्त्री तो अपनी विवेचना में लोक-भापा का विशेप रूप से आश्रय ग्रहण करते हैं, यदि वह भापा लोक में प्रचलित हो जिसकी वे मीमांसा करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी मीमांसा-पद्धति भी भापा-शास्त्रियों की-सी नहीं है। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं थी। वे भापावैज्ञानिक की दृष्टि से अभीष्ट भापाओं की मीमांसा भी नहीं करना चाहते थे। भापाओं की मीमांसा द्वारा उनका लक्ष्य काव्य-प्रयुक्त भापाओं का सामान्य स्वरूप-निर्धारण था, जिसके द्वारा उनमें ( भापाओं में ) साम्य और भेद स्पष्टतः विदित हो सके। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने भापा-मीमांसा के क्षेत्र में भापा-शास्त्री की दृष्टि से कार्य नहीं किया है, तथापि इस क्षेत्र में उनका कार्य नवीन है। इस क्षेत्र में उन्होंने वह कार्य किया जो भापा-शास्त्रियों द्वारा भी नहीं हुआ था। उन्होंने जिन

भाषाओं की मीमांसा की है वे काव्य-भाषाएँ हैं और उनके नाम हैं—व्रज, अवधी और खड़ी बोली। इनकी मीमांसा 'बुद्ध-चरित' में 'काव्यभाषा' के अंतर्गत तथा 'जायसी-ग्रंथावली' में जायसी की भाषा पर विचार करते हुए हुई है। 'इतिहास' में भी यथा-प्रसंग उन्होंने इन भाषाओं के विषय में कुछ कहा है।

**भाषा के क्षेत्र में श्री ग्रियर्सन तथा आचार्य शुक्ल का कार्य**

ऊपर इसका निर्देश किया गया है कि आचार्य शुक्ल ने भाषाओं की मीमांसा साहित्यिक की दृष्टि से की है भाषावैज्ञानिक की दृष्टि से नहीं। भाषा की दृष्टि से व्रज, अवधी और खड़ी बोली की विवेचना करते हुए उन्होंने लक्ष्य रूप में उन काव्यों वा गद्य-रचनाओं को रखा जिनमें इनका प्रयोग है। भाषाविज्ञानियों ने इनका विश्लेषण करते हुए लोक-भाषा का आश्रय विशेष लिया है, अपनी विवेचना के लिए ऐसा करना वे सिद्धान्ततः उचित भी समझते हैं। व्रज, अवधी और खड़ी बोली पर जो विचार श्री जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपने सर्वे (लिंगुइंस्टिक सर्वे आफ इंडिया) में किया है वह इसी प्रकार का है। उन्होंने इनकी लोक-प्रचलित बोली को दृष्टि में रखकर इनका स्वरूप निर्धारण किया है। उन्होंने भाषागत व्याकरणिक रूपों का एक साँचा बना लिया था और उसी के अनुसार इन भाषाओं के संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि रूपों को वे ढालते गए हैं। अभिप्राय यह कि श्री ग्रियर्सन का इन भाषाओं पर विवेचन कुछ परिमित और बोलियों के आधार पर है। आचार्य शुक्ल ने अपनी विवेचना के लिए साहित्यारूढ़ भाषा ग्रहण की और उन्होंने इनमें भेद और साम्य की विवेचना सर्वप्रथम की। यही इनका भाषा के क्षेत्र में नवीन कार्य है। श्री ग्रियर्सन ने इन भाषाओं का स्वरूप अलग-अलग निर्धारित किया था। उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से इनका स्वरूप नहीं स्थिर किया था। आचार्य शुक्ल ने सर्वप्रथम यह कार्य किया और व्रज, अवधी तथा खड़ी बोली में साम्य और भेद की विवेचना करके इनका रूप स्थिर किया। इनमें साम्य और भेद की स्थापना करते हुए, उन्होंने इनकी प्रवृत्ति—जैसे, व्रज की ओकारांत, अवधी की लध्वंत और खड़ी बोली की आकारांत प्रवृत्ति, परसर्ग वा कारक-चिह्न लगने के पूर्व इन भाषाओं

की संज्ञाओं के विकारी रूपों, संस्कृत और प्राकृत को दृष्टि में रखकर इनके कृदंतों आदि—की विवेचना की। इसी प्रकार इन भाषाओं की और प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं पर भी उनकी दृष्टि गई और उन्होंने उन्हें उद्घाटित किया। इस प्रकार का पक्का कार्य आचार्य शुक्ल के पूर्व नहीं हुआ था। वस्तुतः श्री ग्रियर्सन ने इन भाषाओं के लोक-प्रचलित रूपों का नमूना मात्र संगृहीत कर दिया था। उन्होंने इनका संक्षिप्त व्याकरण लिखा अवश्य पर वे विस्तारपूर्वक तथा तुलनात्मक ढंग से इन पर विचार न कर सके। वे करते भी तो कितना। न उनके पास उतना समय था और न स्थान, क्योंकि उन्हें अनेक बोलियों पर विचार करना था। इस कार्य के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने इन तीनों भाषाओं के मूल का प्राकृत तथा अपभ्रंश के काव्यों को दृष्टि-पथ में रख-कर संकेत किया और इनके क्रमशः विकास पर भी वे दृष्टि ले गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल ने ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के विषय में पूर्ण विवेचन कर उनके स्वरूपों को पूर्णतः उद्घाटित कर दिया। भाषा मीमांसा के क्षेत्र में यह उनका बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य है।

जायसी की भाषा पर विचार करते हुए अवधी की विवेचना का आचार्य शुक्ल को अच्छा अवसर मिला है। इस मीमांसा में उनका लक्ष्य जायसी की पूर्वी या ठेठ अवधी पर तो है ही तुलना के लिए उन्होंने तुलसी की पच्छिमी अवधी को भी बराबर अपने सामने रखा है। इन दोनों कवियों की भाषाओं को लक्ष्य में रखकर आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त दोनों प्रकार की अवधी भाषा की छोटी और बड़ी सभी प्रवृत्तियों या विशेषताओं का उद्घाटन कर दिया है। अवधी भाषा के सभी कालों में क्रिया के रूपों, उसके कारकों तथा करक के विशिष्ट परसर्गों आदि की आचार्य शुक्ल ने सूक्ष्म विवेचना की है। जैसे, अवधीमें अपादान के परसर्ग के रूप में 'होइ', 'भए' वा 'भै' का प्रयोग तथा करण के परसर्ग के रूप में भी 'भए' या 'भै' के प्रयोग पर उनकी दृष्टि गई है। तुलसी और जायसी की भाषा को दृष्टि-पथ में रखकर उन्होंने यह निश्चित किया है कि पुंलिंग में संबंध-कारक का परसर्ग सर्वत्र 'कर' और स्त्रीलिंग में इसका परसर्ग सर्वत्र 'कै' होता है। इसी प्रकार अवधी की प्रायः सभी विशेषताओं के विषय में उन्होंने विचार

अवधी की मीमांसा

किया है। इस विवेचन को देखने से विदित होता है कि उनकी दृष्टि भाषा के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूपों तक जाती थी।

अपने 'इतिहास' में आचार्य शुक्ल ने हिंदी-गद्य के मूल तथा विकास की भी विवेचना की है। ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि व्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के गद्य पर है। खड़ी बोली के मूल पर विचार करते हुए उन्होंने स्पष्टतः अपनी यह मान्यता व्यक्त की है कि मुसलमानों के द्वारा खड़ी बोली का निर्माण नहीं हुआ। उसका अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से ही भारत में चलता आ रहा था। वह पछाँह की जनता में नित्यप्रति के व्यवहार में बोली जाती थी और जब दिल्ली, आगरा आदि का वैभव नष्ट हो गया तब पछाँह की यह ( विशेषतः व्यापारी ) जनता पूरब की ओर बढ़ी। इसके साथ खड़ी बोली भी पूरब की ओर आई और इसका प्रसार हुआ। अभिप्राय यह कि खड़ी बोली भारत की ही स्वाभाविक बोली थी, मुसलमानों द्वारा वह गढ़ी नहीं गई। हाँ, वह कुछ काल तक दबी अवश्य रही और अवसर पाकर 'भाषा' पद की अधिकारिणी बन गई।

**हिंदी-गद्य के मूल तथा विकास की मीमांसा**

खड़ी बोली के मूल की मीमांसा करते हुए उन्होंने उर्दू के मूल का भी निर्देश किया है। उनका कथन है कि विक्रम को चौदहवीं शती में खुसरो ने व्रजभाषा में पद्य और पहेलियाँ तो लिखी ही उन्होंने खड़ी बोली में भी कुछ रचनाएँ कीं। अब खड़ी बोली दिल्ली के आसपास के शिष्ट लोगों की व्यावहारिक भाषा बन चुकी थी। औरंगजेब के समय में फारसी-मिश्रित खड़ी बोली वा रेख़ता में उर्दू कविता होने लगी और ऐसी भाषा में लिखी गई शायरी वा कविता का प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों में उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली के आधार पर उर्दू-साहित्य रचा जाने लगा और उसमें अरबी-फारसी के विदेशी शब्द तथा अरब-फारस की भावनाएँ भरी जाने लगीं। अभिप्राय यह कि उर्दू भारत की वस्तु के आधार पर बनकर भारतेतर वस्तु होती गई और उत्तरोत्तर शक्तिमती होने के कारण हिंदी पर बराबर आक्रमण करती रही। आचार्य शुक्ल ने हिंदी और उर्दू के पारंपरिक संघर्ष का भी चित्रण किया है, जिसमें उर्दू का

**उर्दू का मूल**

सदैव पक्षपात किया जाता रहा है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने उर्दू के यथार्थ मूल की भी मीमांसा की है।

ऊपर आचार्य शुक्ल द्वारा की गई भाषा-विषयक मीमांसा का उल्लेख संक्षेप में किया किया गया है। इससे इस क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए महत्त्व-

आचार्य शुक्ल की भाषा-मीमांसाका महत्त्व

पूर्ण कार्यों का परिचय मिल गया होगा। उन्होंने जिन भाषाओं पर विचार किया है उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन हो गया है, जो उनकी पैनी दृष्टि का द्योतक है। भाषाओं की मीमांसा करते हुए आचार्य शुक्ल का लक्ष्य किसी प्रकार के सिद्धांत-स्थापन पर कहीं भी नहीं है। उन्होंने भाषाओं के स्वरूपों की स्पष्ट और सूक्ष्म विवेचना मात्र कर दी है। आचार्य शुक्ल द्वारा भाषाओं की इस प्रकार की मीमांसा का ऐतिहासिक महत्त्व है, इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। उन्होंने ब्रज, अवधी और खड़ी बोली की प्रवृत्तियों का भली भाँति स्पष्टीकरण उस समय किया जिस समय इन पर बड़ा ही स्थूल विचार हुआ था। इनकी सूक्ष्म विवेचना उन्होंने ही सर्व-प्रथम की। एक साहित्यकार में भाषा की मीमांसा की शक्ति की भी संस्थिति वस्तुतः उसकी महत्ता की परिचायिका है।

---

# अनुवाद

विभिन्न भाषाओं के साहित्य और काव्य में संबंध-स्थापना के लिए, उनके भावों और विचारों के परिचय द्वारा उनकी व्यापकता के प्रसार के लिए और यदि किसी भाषा के साहित्य और काव्य की श्रेणी निम्न और उसके भावों तथा विचारों की व्यापकता परिमित रही तो अन्य भाषा के उच्च श्रेणी के साहित्य और काव्य से उसका परिचय कराकर उसे उन्नति-पथ की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा देने के लिए अनुवाद का आश्रय ग्रहण किया जाता है। अनुवाद का विशिष्ट लक्ष्य यही होता है—साहित्य और काव्य के क्षेत्र में। शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में अनुवाद का साध्य विशुद्ध उपयोगिता ही होती है। अनूदित रचनाओं को देखने से विदित होता है कि उनका मूल सदैव उच्च श्रेणी का ही होता है। जब तक कोई रचना उच्च कोटि की होने के कारण अति प्रसिद्ध नहीं हो जाती तब तक उसका अनुवाद किसी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं देखा जाता। हाँ, जब कोई रचनाकार अति प्रसिद्ध हो जाता है तब उसकी उच्च और निम्न सभी प्रकार की रचनाओं का अनुवाद अन्य भाषाओं में मिलने लगता है। किसी भी साहित्य में अनुवाद-कार्य के मूल में ऐसी ही प्रवृत्ति निहित मिलती है। हिंदी-साहित्य में भी जितने अनुवाद मिलते हैं वे इसी प्रवृत्तिवश संपन्न हुए हैं।

अनुवाद का लक्ष्य

हिंदी-साहित्य में बँगला और अँगरेजी से अत्यधिक अनुवाद हुए हैं और अन्य भाषाओं से अत्यल्प। इसमें जितने अनुवाद प्रस्तुत हुए उसके प्रस्तुतकर्ता भी अनेक हैं, पर अनुवादक के रूप में रूपनारायण पांडेय और श्री रामचंद्र वर्मा की विशेष प्रसिद्धि हुई। इन लोगों ने इस क्षेत्र में कार्य भी अत्यधिक किया और यद्यपि इनमें साहित्य की अन्य शाखाओं की ओर भी प्रवृत्ति और रुचि है तथापि ये इसी क्षेत्र के होकर रह गए। श्री रूपनारायण पांडेय ने प्रधानतः बँगला से अनुवाद किया और श्री रामचंद्र वर्मा ने बँगला, अँगरेजी,

हिंदी के अनुवादक और आचार्य शुक्ल

मराठी, गुजराती और उर्दू से। पर इनका भी अनुवाद-क्षेत्र प्रधानतः बँगला ही है। हिंदी के ये प्रमुख अनुवादक हैं। प्रमुख इस दृष्टि में कि इन्होंने प्रचुर परिमाण में अनुवाद प्रस्तुत किया। हिंदी में एक अनुवादक और है जो इस दृष्टि से प्रमुख नहीं है कि उनके अनुवादों की संख्या अत्यधिक है, प्रत्युत इस दृष्टि से वे विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं कि उनके अनुवादों में गुणों की सस्थिति अत्यधिक है। उन्होंने अनुवादों में मूल को ज्यों का त्यों न रखकर अपनी अनुवादिनी शक्ति और विद्या-बुद्धि के कारण उन्हें (अनुवादों को) अपने देश और जाति की रीति-नीति वा संस्कृति के अनुकूल बना दिया है। उनकी अँगरेजी से अनूदित रचनाएँ पूर्ण भारतीय रचनाओं के समान प्रतीत होती हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने अपने अनुवादों में मूल को परिवर्धित और संशोधित वा कटे-छँटे रूप में रखा है—यदि उसमें (मूल में) कोई त्रुटि प्रतीत हुई है तो। इस प्रकार उनके कई अनुवाद मूल से भी अधिक चमक गए हैं। वे अनूदित न प्रतीत होकर मौलिक जान पड़ते हैं। जिन व्यक्ति में अनुवाद की यह प्रतिभा या शक्ति है उनका नाम है आचार्य रामचंद्र शुक्ल। आचार्य शुक्ल के कुछ अनुवाद भारतीयता के इतने अनुकूल पड़े हैं कि वे इनकी मौलिक रचनाएँ मान लिए गए हैं—उन लोगों के द्वारा जो यह नहीं जानते कि वे अनुवाद हैं। जैसे, 'आदर्शजीवन' के 'आचरण', 'आत्मबल' आदि निबंधों को कुछ लोग आचार्य शुक्ल के मौलिक निबंध मान लेते हैं, यद्यपि ये अनुवाद हैं। कहना न होगा कि अनुवाद की ऐसी शक्ति हिंदी के अन्य अनुवादकों में अत्यल्प ही मिलेगी। और यह भी कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल ने जिस कार्य में हाथ लगाया उसी को अपनी मौलिकता द्वारा चमका दिया।

**आचार्य शुक्ल के अनुवादों का रूप**

ऊपर आचार्य शुक्ल के अनुवादों की प्रवृत्ति के विषय में जो थोड़ी सी चर्चा हुई है उससे यह स्पष्टतः लक्षित हो जाता है कि उनके अनुवाद मूल पर पूर्णतः आश्रित नहीं होते, मूल का आधार मात्र उनमें रहता है। अनुवाद में मूल का उपयोग जिस रूप में हुआ है उसे उन्होंने निर्दिष्ट भी कर दिया है। जैसे, जो रचना मूल पर पूर्णतः आश्रित है उसके लिए उन्होंने इसका निर्देश

कर दिया है कि यह अमुक रचना का अनुवाद है, जो रचना किसी रचना के मूल के आधार पर प्रस्तुत हुई है उसका भी निर्देश उन्होंने कर दिया है और जो अनुवाद केवल मूल के मर्म के रूप में हुआ है उसे भी उन्होंने लिख दिया है। यहाँ स्मरण यह रखना चाहिए कि ऐसी रचनाएँ बहुत ही कम हैं जो केवल मूल का अनुवाद हैं। उन्होंने प्रायः मूल के आधार पर ही, भारतीयता को दृष्टि में रखकर, अनुवाद किया है।

आचार्य शुक्ल ने दो भाषाओं से अनुवाद किया है—अँगरेजी से और बँगला से। पर उनके अनुवादों में अँगरेजी भाषा से अनूदित रचनाओं की ही संख्या अत्यधिक है और बँगला से अनूदित रचनाओं की संख्या अत्यल्प। उन्होंने उपर्युक्त भाषाओं के लेखों का भी अनुवाद हिंदी-भाषा में किया है और ग्रंथों का अनुवाद भी। लेखों का अनुवाद उन्होंने प्रायः अँगरेजी से ही किया है, जो 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्राचीन संस्करण के अंकों में मिलते हैं, ये अलग पुस्तक के रूप में अभी प्रकाशित नहीं हैं। इन अनूदित लेखों को विषय की दृष्टि से देखने से विदित होता है कि ये दो विषयों पर लिखे गए हैं—दर्शन वा मनोविज्ञान पर और प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति पर। दर्शन वा मनोविज्ञान वाले लेख प्रायः ईसा की उन्नीसवीं शती के अँगरेज दार्शनिकों द्वारा लिखे गए हैं। इस विषय के अनूदित कुछ लेखों के नाम हैं—'अखंडत्व', सर ऑलिभर लॉज के एक लेख का अनुवाद; 'सदाचार और उत्तम प्रकृति', डाक्टर ब्राउन के 'फिलासफी आव् ह्यूमन माइंड' के आधार पर; 'प्रगति वा उन्नति, उसका नियम और निदान', हर्बर्ट स्पेंसर के 'प्रोग्रेस, इट्स ला एंड काजेज' का मर्म। प्राचीन इतिहास और संस्कृति (एंशियेंट हिस्ट्री एंड कल्चर) संबंधी अनूदित कुछ लेखों के नाम हैं—'पारस का प्राचीन इतिहास', इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के एक लेख का अनुवाद; 'प्राचीन भारतवासियों की समुद्र-यात्रा', डॉन मैगजीन में प्रकाशित श्री हाराणचंद्र चकलेदार के लेख का अनुवाद; 'भारत के इतिहास में हूण', दि इंडियन एंटिक्वेरी में प्रकाशित प्रो० कृष्णस्वामी आयंगर के एक लेख का

अनूदित लेखों के विषय

अनुवाद; 'बुद्धघोष', दि इंडियन एंटिक्वेरी के एक लेख के आधार पर; 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा' ( सरस्वती, दिसंबर १९०२ ई० ), डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र के लेख के आधार पर। इन लेखों द्वारा इतिहास और दर्शन वा मनोविज्ञान की ओर आचार्य शुक्ल की रुचि का परिचय मिलता है क्योंकि उन्होंने इन्हीं विषयों पर लिखे गए लेखों का अनुवाद प्रस्तुत किया है; यदि वे चाहते तो अन्य विषयों की रचनाओं का भी अनुवाद कर सकते थे, पर ऐसा किया नहीं।

अनूदित ग्रंथों के विषय-शिक्षात्मक

लेखों के अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने पुस्तकों का भी अनुवाद किया है। ऊपर हम इसका निर्देश कर आए हैं कि उनका अनुवाद-क्षेत्र अँगरेजी और बँगला है। अतः उन्होंने अँगरेजी तथा बँगला दोनों भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत किया है। यहाँ इसका निर्देश कर देना अतिप्रसंग न होगा कि उन्होंने शुद्ध उपयोगिता को दृष्टि में रखकर कोई अनुवाद नहीं किया, प्रत्युत उन्हीं ग्रंथों का अनुवाद किया जो अपने वैशिष्ट्य के कारण अति प्रसिद्ध हैं और जिनके अनुवाद द्वारा हिंदी को भी अपने साहित्य को उन्नति-पथ पर ले चलने की प्रेरणा मिलती है। एक बात और; उन्होंने गद्यानुवाद और पद्यानुवाद दोनों किए हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा अनूदित ग्रंथों को विषय की दृष्टि से हम चार श्रेणियों में रख सकते हैं—(१) शिक्षात्मक ( २ ) दार्शनिक, ( ३ ) ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथा ( ४ ) साहित्यिक। शिक्षात्मक श्रेणी में 'राज्यप्रबंध-शिक्षा' और 'आदर्श जीवन' नामक ग्रंथ आते हैं। 'राज्यप्रबंध-शिक्षा' राजा सर टी० माधवराव के 'माइनर हिंट्स' नामक ग्रंथ का अनुवाद है। मूल ग्रंथकार ने इसकी रचना महाराज सयाजी राव ( जब वे नाबालिग थे ) को राज्य-प्रबंध की शिक्षा देने के लिए की थी। इस पुस्तक के 'अवशिष्ट' में महाराज भिनगा द्वारा लिखित 'तअल्लुकेदारों के लिये कुछ अलग बातें' भी हैं, जिसका संबंध मूल पुस्तक से नहीं है। इन्हीं महाराज की इच्छा के अनुसार मूल पुस्तक के यत्र-तत्र के कुछ अंश अनुवाद में छोड़ भी दिए गए हैं। इसके अनुवाद की भाषा बहुत ही

सरल रखी गई है।' 'आदर्श जीवन' स्माइल के 'प्लेन लिविंग एंड हाई थिंकिंग' नामक ग्रंथ के आधार पर लिखा गया है। इसमें प्रधानतः युवकों के लिए वे शिक्षोपयोगी बातें कही गई हैं जिनके द्वारा उनका जीवन आदर्श बन सके। 'आदर्श जीवन' में मूल ग्रंथ के 'अध्ययन के प्रसंग में लेखक द्वारा उल्लिखित कुछ पुस्तकों का विवरण छोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'जहाँ जहाँ अँगरेजी पुस्तक में दृष्टांत रूप से यूरोप के प्रसिद्ध पुरुषों के वृत्तांत आए हैं वहाँ वहाँ यथासंभव भारतीय पुरुषों के दृष्टांत दिए गये हैं। पुस्तक को इस देश की रीति-नीति के अनुकूल करने के लिए और बहुत सी बातें घटाई बढ़ाई गई हैं।'

दार्शनिक विषय के अंतर्गत 'विश्वप्रपंच' आता है, जो प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेकल की अत्यंत विख्यात पुस्तक 'रिडिल आव् दि युनिवर्स' का अनुवाद है। हेकल प्राणिशास्त्रविद् था, अतः उक्त पुस्तक के प्रथम खंड में प्राणियों के विषय में विचार है और द्वितीय खंड में आत्मा, ईश्वर, जगत्, प्रकृति, उपासना आदि के विषय में, जिसका संबंध विशुद्ध दर्शन से है। यहाँ एक बात कहनी आवश्यक है। वह यह कि अनुवादों में आचार्य शुक्ल की दृष्टि सदैव इस पर रहती है कि वे (अनुवाद) भारतीयों के लिए हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने उनको भारतीय रीति-नीति के अनुकूल बनाया है—उनके वृत्तांत, दृष्टांत आदि में फेरफार करके। 'आदर्श जीवन' पर विचार करते हुए हम इसकी चर्चा कर चुके हैं। इन अनुवादों में उनकी दृष्टि विषय को स्पष्ट करने की ओर भी सदैव रही है। अतः विषय की स्पष्टता के लिए वे अपने अनुवादों के आदि में भूमिका जोड़ देते हैं और पुस्तक के बीच-बीच में यत्र-तत्र टिप्पणी लगा देते हैं। इसी कार्य की सिद्धि के लिए 'विश्वप्रपंच' के आदि में लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों की भूमिका है और उसके (पुस्तक के) बीच-बीच में पाद-टिप्पणियाँ लगा दी गई हैं; जिनको देखने से विदित होता है कि आचार्य शुक्ल को भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों का स्पष्ट ज्ञान था, क्योंकि इनमें (भूमिका और टिप्पणियों में) उन्होंने इन दोनों दर्शनों की तुलना पर सदैव दृष्टि रखी है।

दार्शनिक

टिप्पणी और भूमिका में आचार्य शुक्ल ने यत्र-तत्र अपना मत भी दिया है। 'विश्वप्रपंच' के अनुवाद के विषय में एक बात और कहनी है। वह है इसकी भाषा के विषय में। यह एक दार्शनिक ग्रंथ का अनुवाद है, अतः इसमें पारिभाषिक शब्द प्रायः आए हैं। आचार्य शुक्ल ने अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दों की बहुत छानबीन करने के पश्चात् उन्हें हिंदी का रूप दिया है, जो बड़े सटीक हैं।

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विषय के अंतर्गत 'मेगास्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' आता है, जो डाक्टर श्वानवक के 'मेगास्थिनीज इंडिका' का अनुवाद है। डाक्टर श्वानवक ने भी अपनी पुस्तक मेगास्थिनीज द्वारा लिखित 'टा इंडिका' के यूनानी तथा रोमी ग्रंथों में उद्धृत अंशों के आधार पर प्रस्तुत की थी, क्योंकि मूल पुस्तक 'टा इंडिका' अब नहीं मिलती। विषय की स्पष्टता के लिए आचार्य शुक्ल ने इस ग्रंथ के बीच-बीच में भी टिप्पणियाँ लगा दी हैं। स्पष्टता के लिए ही उन्होंने इसमें भी एक भूमिका लिखी है, जिसमें चन्द्रगुप्त और सिकंदर के विषय में संक्षिप्त ऐतिहासिक चर्चा है।

साहित्यिक—गद्यानुवाद

आचार्य शुक्ल द्वारा साहित्यिक विषय के ग्रंथों के अनुवाद उनके अन्य विषय के अनुवादों की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन अनुवादों में उनकी अनुवाद की शक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। इस विषय के अंतर्गत उन्होंने गद्यानुवाद भी प्रस्तुत किया है और पद्यानुवाद भी। 'कल्पना का आनंद' और 'शशांक' गद्यानुवाद हैं और 'बुद्ध-चरित' पद्यानुवाद। 'कल्पना का आनंद' जोसेफ एडिसन के 'एसे ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद है, जो छोटी सी पुस्तिका के रूप में है। इसमें छोटे-छोटे ग्यारह प्रकरण हैं और एक-एक प्रकरण में छोटे छोटे निबंध। अँगरेजी से अनूदित सभी रचनाओं की भाँति आचार्य शुक्ल ने इस अनुवाद को भी भारतीय रीति-नीति के अनुकूल बनाया है। इसमें भी दृष्टांत रूप में भारतीय घटनाओं, व्यक्तियों आदि को रखने का प्रयत्न किया गया है। इसकी भाषा प्रौढ़ है। 'कल्पना का आनंद'

अभी अलग पुस्तक के रूप में नहीं प्रकाशित है, यह 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (प्राचीन संस्करण) के नवें भाग में निकला था।

'शशांक' राखालदास वंद्योपाध्याय लिखित 'शशांक' नामक बँगला उपन्यास का हिंदी भाषांतर है। आचार्य शुक्ल नें बँगला से केवल इसी एक रचना का अनुवाद किया है। 'शशांक' ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें तत्कालीन (शशांक के काल की) भारतीय वेशभूषा, संबोधन, नाम, कर्मचारियों की संज्ञाएँ, राज की शिष्टता आदि पर पूर्ण रूप से ध्यान रखा गया है। इस उपन्यास की यही विशेषता है। राखाल बाबू उच्च कोटि के पुरातत्त्वविद् थे भी। यह तो हुई मूल रचना की विशेषता की बात। विज्ञ अनुवादक द्वारा इसमें और भी विशिष्टता ला दी गई है—मूल रचना में कुछ परिवर्तनों के द्वारा, जो परिवर्तन इतिहास-संमत हैं, अनर्गल नहीं। मूल रचना में परिवर्तन करते हुए अनुवादक की दृष्टि भारतीय इतिहास की शशांककालीन परिस्थिति, रीति-नीति आदि पर सर्वत्र है। मूल रचना दुःखांत है, पर अनूदित रचना सुखांत। यही सबसे विशिष्ट परिवर्तन है। यह परिवर्तन भी इतिहास के आधार पर है, जिसका उल्लेख अनुवादक ने अपनी रचना की भूमिका में किया है। अनूदित रचना को सुखांत बनाकर भारतीय काव्य शास्त्र का अनुगमन आचार्य शुक्ल ने किया है, जो प्रशंसनीय कार्य है। ऐसा परिवर्तन करने के लिए उन्होंने दो पात्रों की सृष्टि भी की है। शशांक के समय में कलिंग और दक्षिण कोशल में बौद्ध तांत्रिकों के अत्याचार का अनुमित चित्रण आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही किया है। 'शशांक' के अनुवाद के विषय में इस विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि अनुवादक की दृष्टि से आचार्य शुक्ल का कितना महत्त्व है, उन्होंने अपनी विद्या-बुद्धि के बल पर इतिहास का सत् आधार ले इस रचना का अंत ही विपरीत रूप में कर दिया है, जो भारतीय साहित्य-शास्त्र के नितांत अनुकूल है। विषय की स्पष्टता के लिए इस रचना में भी शशांक के विषय में खोजपूर्ण विवेचना भूमिका में किया गया है।

अनुवादक की दृष्टि से जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य शुक्ल ने 'शशांक' के अनुवाद में किया है वैसा ही महत्त्वपूर्ण कार्य 'बुद्ध-चरित' के अनुवाद में भी।

पद्यानुवाद

यह आचार्य शुक्ल का एकमात्र पद्यानुवाद है। यह रचना सर एडविन ऑर्नल्ड द्वारा लिखित 'दि लाइट आव एशिया' के आधार पर है। मूल और अनूदित दोनों रचनाओं में आठ सर्ग हैं। 'बुद्ध-चरित' के 'वक्तव्य' में आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिंदी-काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य-वर्णन जहाँ अयुक्त या अपर्याप्त प्रतीत हुए वहाँ बहुत कुछ फेरफार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।" ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' वाला अनुवाद नहीं, प्रत्युत मूल पुस्तक का केवल आधार लेकर रचा गया बहुत कुछ स्वच्छंद काव्य है। प्रायः देखा यह जाता है कि मूल की तुलना में अनुवाद उतना सुंदर नहीं होता। पर यदि 'दि लाइट ऑव् एशिया' तथा 'बुद्ध-चरित' को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि मूल की अपेक्षा अनुवाद सुंदर है। इसका भी कारण है। मूल पुस्तक भारतीय 'वस्तु' के आधार पर एक विदेशी व्यक्ति द्वारा विदेशी भाषा में रची गई है और अनूदित पुस्तक एक भारतीय व्यक्ति द्वारा एक भारतीय भाषा में। मूल पुस्तक का लेखक भारतीय रीति-नीति, दृश्य आदि से कितना ही परिचित क्यों न हो फिर भी वह अनुवादक, जो भारतीय है, के उक्त वस्तुओं के परिचय की तुलना में नहीं आ सकता। इसी कारण 'बुद्ध-चरित' अपने मूल की अपेक्षा सुंदर है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने यथासाध्य 'बुद्ध-चरित' को एक स्वतंत्र काव्य बनाने का प्रयत्न किया है, यद्यपि 'दि लाइट ऑव् एशिया' का आधार उसमें अवश्य है। रचना में स्पष्टता तथा मौलिकता की संनिहिति के लिए उन्होंने यथास्थान फेरफार और काट-छाँट भी की है। पर सर्वत्र फेरफार या काँट-छाँट करने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी है और मूल को ही ज्यों का त्यों अनुवाद में रख दिया है। यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि अनुवाद करते हुए आचार्य शुक्ल ने हिंदी भाषा के प्रयोगों (मुहावरों) और प्रवृत्तियों पर सर्वत्र ध्यान रखा है। हिंदी भाषा को अँगरेजी में उन्होंने नहीं ढलने दिया है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है, जिससे उपर्युक्त बातें

पर दृष्टि रख छः पंक्तियों का अनुवाद छः ही पंक्तियों में किया गया है—

But, when the days were numbered, then befell
The parting of our Lord—which was to be—
Whereby came wailing in the Golden Home,
Woe to the King and sorrow o'er the land,
But for all flesh deliverance, and that Law
Which whoso hears—the same shall make him fre

जब दिन पूरे भए बुद्ध भगवान् हमारे
तजि अपनो घर बार घोर वन ओर सिधारे।
जासों पर्‍यो खभार राजमंदिर में भारी,
शोक-विकल अति भूप, प्रजा सब भई दुखारी।
पै निकस्यो निस्तारपंथ प्राणिन हित नूतन;
प्रगट्यो शास्त्र पुनीत कटैं जासों भवबंधन।

मूल तथा अनुवाद दोनों में प्रथम चार पंक्तियाँ प्रायः एक-सी हैं। पर अंतिम दो पंक्तियाँ दोनों में कुछ-कुछ भिन्न हैं। कहना न होगा कि अनुवाद में ये दो पंक्तियाँ मूल की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट हैं।

एक उदाहरण ऐसा दिया जाता है जिसमें मूल में तो पाँच ही पंक्तियाँ हैं, पर अनुवाद में आठ। कारण यह है कि अनुवाद में वर्णन बढ़ाया गया है—

Softly the Indian night sinks on the plains
At full Moon, in the month of Chaitra Shud,
When mangoes redden and the asoka buds
Sweeten the breeze, and Rama's birthday comes;
And all the fields are glad and all the towns.

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी।

अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति चिलगाई,
सींकन में गुछि झूलि रहीं जो मंद झकोरन पाई।
चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप टप' शब्द सुनावैं।
ताके प्रथम पलक मारत भर में निज झलक दिखावैं।
महकति कतहूँ अशोकमंजरी; कतहुँ कतहुँ पुर माहीं।
रामजन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं।

इन पंक्तियों में मूल का आधार मात्र ग्रहण किया गया है। मूल की तृतीय पंक्ति में केवल इतना ही कहा गया है कि आम्र की मंजरियाँ ललाई धारण करती हैं। पर अनुवाद में चाँदनी रात में अमराई के दृश्य तथा मंजरी और पवन का संश्लिष्ट यथातथ्य वर्णन है। महुए के चूने का वर्णन मूल में नहीं है, पर अनुवाद में है। मूल की चतुर्थ और पंचम पंक्ति में केवल इतना ही कह दिया गया है कि राम जन्म आता है और पुर तथा ग्राम आह्लादपूर्ण हो जाते हैं। पर अनुवाद में रामजन्मोत्सव के संश्लिष्ट वर्णन का आभास दिया गया है, जो 'अब लौं साज हटे हैं नाहीं' से अनुमान द्वारा निश्चित होता है।

हिंदी-साहित्य में अनुवाद के क्षेत्र में किए गए आचार्य शुक्ल के महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक कार्यों की विवेचना ऊपर की गई है। इससे यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में उनके जैसा प्रतिभावान् और कोई व्यक्ति नहीं है जो इतनी कुशलतापूर्वक अनुवाद-कार्य प्रस्तुत करके उसे मूल से भी अधिक महत्ता प्रदान कर सके। ऐसा कार्य करनेवाला हिंदी-साहित्य में तो कोई दिखाई ही नहीं पड़ता, अन्य साहित्यों में भी शायद ही मिले।

# गद्य-शैली

वर्तमान युग में 'शैली' ( स्टाइल ) शब्द का व्यवहार बड़े व्यापक अर्थ में होता है। लिखने, पढ़ने और बोलने की शैली से लेकर उठने, बैठने और सोने तक की शैली पर आज लोगों की दृष्टि जाती है।

**शैली का स्वरूप** शैली का सामान्य स्वरूप है किसी कार्य की संपादन-विधि में वह कौशल, सौष्ठव और सौंदर्य जिसके कारण वह कार्य लोगों की दृष्टि अपनी ओर खींचे। अभिप्राय यह कि शैली का अति सामान्य धर्म है उसमें वैशिष्ट्य की निहिति। जब तक किसी कार्य के करने की विधि में कोई विशेषता न होगी तब तक वह ( कार्य करने की विधि ) 'शैली' पद की अधिकारिणी न कही जायगी। आज हिंदी में अनेक लेखक हैं. पर सभी शैलीकार के रूप में गृहीत नहीं किए जा सकते; कारण यह है कि सभी की लेखन-विधि में विशिष्टता का समावेश नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि शैली किसी कार्य के करने की रीति, ढंग वा विधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथापि उसमें जब तक किसी प्रकार का गुण नहीं आता, जिससे वह दूसरों को आकृष्ट कर सके, तब तक वह सत्यतः शैली के रूप में गृहीत नहीं होती।

शैली अपने स्वरूप के कारण, जैसा कि ऊपर निर्धारित किया गया है, सभी प्रकार की रुचिवाले व्यक्तियों की दृष्टि में रहती है, उसकी अवहेलना कोई नहीं कर पाता। 'सभी प्रकार की रुचि' का तात्पर्य है उस

**शैली और व्यक्तित्व** के ( रुचि के ) साधारण संस्कृत रूप से लेकर उच्च से उच्च संस्कृत रूप तक से। जिस व्यक्तिकी रुचि जितनी ही संस्कृत और परिष्कृत होगी उसकी दृष्टि उतनी ही उच्च श्रेणी की शैली पर रहेगी। पर यह भी स्मरण रखने की बात है कि जिस व्यक्ति की रुचि सामान्य रूप से भी परिष्कृत है उसका ध्यान भी शैली पर रहता है। एक ऐसे विद्यार्थी का जिसने साहित्य पढ़ना आरंभ ही किया है और जिसकी रुचि अभी उतनी

परिष्कृत और संस्कृत नहीं है, ध्यान भी शैली पर रहता है, और साहित्य के आचार्य तो इस ओर ध्यान देते ही हैं। इतना ही नहीं नित्य के व्यावहारिक जीवन में भी हमारी दृष्टि इस पर रहती है, कारण यह है कि मनुष्य स्वभावतः ही रुचिकर, प्रभावात्मक और सौंदर्यमय कार्यविधि की ओर झुकता है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जिस व्यक्ति की रुचि जिस प्रकार की और जिस श्रेणी की होगी उस व्यक्ति की दृष्टि उसी प्रकार की और उसी श्रेणी की शैली पर जायगी और वह उसी की प्रशंसा ( अप्रिशिएशन ) करेगा। साथ ही उसकी निज की शैली भी उसी प्रकार की और उसी श्रेणी की होगी। रुचि और शैली के संबंध पर इस विचार को व्यक्ति वा व्यक्तित्व और शैली के संबंध पर विचार से भिन्न समझना चाहिए, जिसकी चर्चा प्रायः हुआ करती है, क्योंकि रुचि का आश्रय व्यक्ति ही होता है और व्यक्तित्व व्यक्ति से भिन्न कोई वस्तु नहीं। जिस लेखक की जैसी रुचि होगी, जैसी प्रकृति होगी, जैसा व्यक्तित्व होगा उसकी शैली भी वैसी ही होगी, यह निश्चित तथ्य है। साहित्य-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी इस विषय में यही बात देखी जाती है। किसी व्याख्यानदाता की व्याख्यान-शैली में उसके व्यक्तित्व की निहिति वा उसका प्रभाव अवश्य रहता है।

विषय और शैली

विषय और शैली का संबंध भी घनिष्ठ है। जैसा विषय होगा शैली भी वैसी ही होगी। यदि एक ही गद्यशैलीकार कहानी और आलोचना लिखे तो इन दोनों विषयों में उसके व्यक्तित्व की छाप प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः तो होगी अवश्य, पर विषय की भिन्नता के कारण उसकी गद्य-शैली में भिन्नता भी मिलेगी। श्री प्रेमचंद्र के निबंधों की गद्य-शैली तथा उनकी कहानियों की गद्य-शैली में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। कुछ विषय ऐसे हैं जिनमें गद्य-शैली दब जाती है और उसका निर्णय स्पष्टतः नहीं किया जा सकता; जैसे, व्याकरण में। श्री कामताप्रसाद गुरु के 'हिंदी-व्याकरण' की सहायता से यदि उनकी गद्य-शैली का निर्धारण किया जाय तो संभवतः यह यथार्थ रूप में न समझी जा सकेगी। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "......गद्य-शैली के विवेचक उदाहरणों के

लिए अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं।"—(इतिहास, पृ० ६०५)। इसका कारण यह है कि निबंध में लेखक को पूर्ण स्वातंत्र्य रहता है, उसमें उसे अपने व्यक्तित्व को उद्घाटित करने के लिए पूरा अवसर मिलता है, शैली का जिससे घनिष्ठ संबंध है।

**भाषा और शैली**

साहित्य के क्षेत्र में तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में भी शैली तथा उस वस्तु का संबंध भी नहीं भुलाया जा सकता जिसके माध्यम या साधन (मीडियम) ० वह रूप धारण करती है। अभिप्राय भाषा से—विशेषतः गद्य की भाषा से—है। जब तक भाषा इतनी सशक्त न होगी कि वह लेखक के हृद्गत भावों और विचारों को सुविधा-पूर्वक व्यक्त कर सके तब तक शैली का कोई आधार ही नहीं खड़ा किया जा सकता। भाषा का सशक्त और अशक्त होना समग्रतः (ऐज ए होल) साहित्य की उच्च और निम्न अवस्था पर भी आश्रित है और व्यक्तितः (इंडिविजुअली) लेखक की योग्यता और अयोग्यता पर भी। जो साहित्य जितनी उच्चावस्था में होगा उसकी भाषा भी उतनी ही उच्च होगी और उसके शैलीकार—विशेषतः गद्यशैलीकार—भी उतने ही उच्च कोटि के होंगे। इसी प्रकार जिस लेखक की योग्यता जितनी ही बढ़ी-चढ़ी होगी उसकी भाषा उतनी ही सशक्त होगी और वह उतनी ही श्रेष्ठ श्रेणी का शैलीकार होगा। तात्पर्य यह है कि शैली का उत्तम-मध्यम होना समग्रतः और व्यक्तितः भाषा के उत्तम-मध्यम होने पर आश्रित है। इस प्रकार भाषा और शैली का संबंध स्पष्ट है।

**आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली**

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की गद्य-शैली पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि का शैली के विषय में उल्लिखित तथ्यों पर जाना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल की परिष्कृत और साहित्यिक रुचि से कोई अपरिचित नहीं है। उनके गंभीर और साथ ही हास्य-व्यंग्य और विनोदमय व्यक्तित्व वा प्रकृति से भी सभी परिचित हैं। उनके प्रमुख विषय क्या रहे हैं, यह भी किसी पर अप्रकट नहीं है। और यह भी किसी पर अव्यक्त नहीं है कि उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब हिंदी-साहित्य उन्नति के पथ पर था और इस मार्ग का अधिक भाग वह पार

कर चुका था। फलतः हिंदी-गद्य की भाषा प्रौढ़ हो चली थी और उसमें गद्यगत अनेक विशिष्टताएँ आ चुकी थीं और आ भी रही थीं। इसके अतिरिक्त स्वतः आचार्य शुक्ल की भी भाषा उत्तरोत्तर समृद्ध होती गई और अंत में उन्होंने गद्य की साहित्यिक भाषा का एक उज्ज्वल आदर्श स्थापित किया। शैली के विषय में सभी आवश्यक तत्वों की आचार्य शुक्ल में स्थिति और शैली-सापेक्ष्य परिस्थितियों की उनके समय में अनुकूलता के कारण उनके द्वारा उच्च कोटि की गद्य-शैली का निर्माण हुआ। शैली का स्वरूप हम देख चुके हैं। उसमें जिन जिन गुणों का होना आवश्यक है आचार्य शुक्ल की शैली में वे सभी विद्यमान हैं। शैलीगत कौशल, सौष्ठव, सौंदर्य, प्रभावात्मकता आदि सभी विशेषताएँ उनकी गद्य-शैली में प्राप्त होती हैं। अतः उनकी गद्य-शैली की कुछ प्रमुख विशिष्टताओं का उद्घाटन हो जाना चाहिए।

**मूर्तिमत्ता की नियोजना**

ऊपर इसका निर्देश हुआ है कि आचार्य शुक्ल ने गद्य की साहित्यिक भाषा का आदर्श स्थापित किया। वस्तुतः उनकी भाषा बड़ी समृद्ध है, जिसके द्वारा वे अपने अभीष्ट भावों और विचारों की व्यंजना चाहे किसी भी रीति से कर लेते हैं। उसमें प्रभावात्मकता की पूरी शक्ति है। प्रभावात्मकता की सिद्धि के लिए उनकी भाषा में रूप-योजना वा मूर्तिमत्ता का संनिवेश लक्षित होता है। सूक्ष्म दृष्टि से उनकी भाषा का अध्ययन करने पर विदित होता है कि वे अपनी भाषा द्वारा मूर्ति वा रूप खड़ा करना चाहते हैं। काव्य में मूर्तिमत्ता का वे कितना महत्व स्वीकार करते हैं, इसे हम जानते हैं! उनकी गद्य-शैली में मूर्तिमत्ता की निहिति की प्रवृत्ति सर्वत्र लक्षित होती है। जैसे, "ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुक-झुककर देखने ही की नहीं, उठा-उठाकर दिखाने की भी प्रवृत्ति होती है, ऐसी नहीं जिसे कोई कहे कि यह कौन बड़ी बात है।"—(चिंतामणि)। "इन क्षेत्रों का कोना-कोना ये (सूरदास) झाँक आए!"—(भ्रमरगीतसार)। 'झुक-झुककर देखने,' 'उठा-उठाकर दिखाने' और 'झाँक आने' की क्रिया के उल्लेख द्वारा उक्त क्रियाओं के रूप का आँखों के संमुख आ जाना स्वाभाविक है। स्मरण रखने की बात यह है

कि उनकी गद्य-शैली में इस प्रकार की मूर्तिमत्ता की नियोजना क्रियाओं के उल्लेख द्वारा ही हुई है, संश्लिष्ट वर्णन द्वारा नहीं। क्रियाओं द्वारा रूप व्यंजित हो जाता है।

आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में जिस प्रकार रूप-योजना की प्रवृत्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार रूपक-योजना की भी। इसका उद्देश्य भी मूर्तिमत्ता ही है।

रूपक-योजना

इसकी योजना करते हुए उनकी दृष्टि इसकी सांगता और पूर्णता पर सर्वत्र है। दो-एक उदाहरण देखें—"दिव्य प्रेम संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई।"—( भ्रमरगीतसार )। "यह दृश्य हिंदू-स्त्री के जीवन-दीपक की अत्यंत उज्ज्वल और दिव्य प्रभा है, जो निर्वाण के पूर्व दिखाई पड़ती है।"—( जायसी-ग्रंथावली )। धारा ( वा प्रवाह ) के कारण, जिस पर वह बहती है, किसी वस्तु के निखर आने और उससे किसी वस्तु पर किसी जमी हुई वस्तु के बह जाने का रूपक प्रथम उदाहरण में खड़ा किया गया है। दूसरे उदाहरण में दीपक का रूपक स्पष्ट है। इन रूपकों में सांगता की ओर लेखक की दृष्टि है। आचार्य शुक्ल द्वारा रूपक-योजना को देखने से विदित होता है कि वे प्रायः जल-प्रवाह वा धारा, उसकी तरंग आदि तथा प्रकाश, कांति, ताप आदि को ही लेकर रूपक खड़ा करते हैं। अभिप्राय यह कि उनके अधिकतर रूपक 'अप' और 'तेज' से ही संबद्ध हैं।

आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में रूप-योजना की प्रवृत्ति से ही संबद्ध उनकी वर्णनात्मक गद्य-शैली भी है। इस शैली का लक्ष्य भी मूर्तिमत्ता ही होता है।

वर्णनात्मकता

आचार्य शुक्ल की रचनाओं में कुछ स्थल ऐसे भी आए हैं जहाँ संश्लिष्ट वर्णन का उदाहरण उपस्थित करने की आवश्यकता आ पड़ी है। ऐसी स्थिति में उन्होंने स्वतः संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है। जैसे इन पंक्तियों में—"इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास-हिम-बिंदु-मंडित, मरकताभ-शाद्वल-जाल, अत्यंत विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच

विविध वर्ण-स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही अपने हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं—सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"—( चिंतामणि )। इस उदाहरण को देखने से विदित होता है कि इसमें वर्णन के लिए सामासिक पदावली तथा तत्सम शब्दों का अवलम्बन किया गया है, जो इसके ( वर्णन के ) लिए उपयुक्त होते हैं। पर बिना सामासिक पदावली के प्रयोग और तद्भव शब्दों की सहायता के भी संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत हो सकता है। इस प्रकार से प्रस्तुत वर्णन की गद्य शैली द्वारा मधुरता की प्रतीति होती है। निम्नलिखित पंक्तियों को देखने से बात स्पष्ट हो जायगी—"लहराते हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमलनाल निकले हैं जिनके झुके हुए छोरों पर रक्ताभ कमल दल छितराकर फैले हुए हैं।" —( गोस्वामी तुलसीदास )। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल ने वर्णन की दोनों गद्य शैलियों का उपयोग किया और वर्णन करने की अपनी शक्ति द्वारा इन दोनों से संश्लिष्ट वर्णन उपस्थित कर रूप-योजना की सिद्धि की है।

ऊपर वर्णन की उन शैलियों की चर्चा हुई है जिनका लक्ष्य होता है चित्र खड़ा करना। वर्णन की एक वह शैली भी होती है जिसके द्वारा कोई कथा वा

**वृत्त-कथन**

वृत्त उपस्थित किया जाता है। 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में 'पदमावत की कथा' प्रस्तुत करने के लिए आचार्य शुक्ल ने वर्णन की इस गद्य-शैली का भी उपयोग किया है। इसके वाक्य छोटे-छोटे हैं और उनमें चुस्ती है। इसमें उलझन कहीं नहीं जान पड़ती। कहानी ऐसे शब्दों में कही जाती है जिसे सभी लोग समझ सकें, इसीलिए इसमें प्रायः तद्भव शब्दों का प्रयोग है। इसकी भाषा बड़ी सरल है। योग्य शैलीकार के हाथ में पड़कर वर्णन की यह शैली बड़ी सरल और स्वाभाविक हो जाती है। अवसर उपस्थित होने पर सरल शैली का निर्माण भी शैलीकार की एक विशेषता है। कहीं-कहीं आचार्य शुक्ल की ऐसी ही शैली मिलती है, जिसमें बड़ी सरलता और अपनाव का भाव निहित है। उसे देखने से प्रतीत होता है कि मानो कोई सीधा-सादा व्यक्ति किसी को कुछ समझा रहा हो। जैसे, "शानदार अमीर लोग गरीबों से क्यों नहीं

बातचीत करते ? उनकी 'लघुता' ही के भय से न ? वे यही न डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बातचीत करते लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे।' —( गोस्वामी तुलसीदास )।

विचार करने पर विदित होगा कि गद्य-शैली का चरम लक्ष्य है प्रभावोत्पादन। लेखक कथ्य को इस विधि से उपस्थित करना चाहता है जिससे पाठक वा श्रोता प्रभावित हो, चमत्कृत हो। प्रभावित करने की विधि का स्वरूप शैलीकार की शिक्षा-दीक्षा और व्यक्तित्व पर आश्रित है। वह यदि विद्वान् और गंभीर व्यक्ति होगा तो शैली में कौशल और गांभीर्य की स्थापना करने का प्रयत्न करेगा, जो ( स्थापना का प्रयत्न ) पाठक वा श्रोता की भी योग्यता वा कुछ साहित्यिक सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा रखता है। आचार्य शुक्ल की मूर्ति और रूपक योजना वाली गद्य-शैलियाँ इसी प्रकार की हैं, जिनकी विवेचना की जा चुकी है। इन शैलियों की विशेषता का मर्म साधारण कोटि का पाठक संभवतः न समझ सके। ऐसी ही दो-एक और पटु तथा गंभीर गद्य-शैलियों का प्रयोग आचार्य शुक्ल ने किया है। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो विशिष्ट विषयों में प्रयुक्त होकर विशिष्ट अर्थ धारण कर लेते हैं। कहीं-कहीं उनका प्रयोग यद्यपि साधारण अर्थ में होता है तथापि मन उनके विशिष्ट विषय में प्रयुक्त अर्थ की ओर भी चला जाता है, जिससे शैली में एक प्रकार के चमत्कार की निहिति हो जाती है। निम्नलिखित वाक्य में 'भेद' तथा 'अभेद' शब्द यद्यपि साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं तथापि दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त इनके विशिष्ट अर्थ की ओर दृष्टि क्षणमात्र के लिए चली जाती है, जिससे मन कुछ चमत्कृत हो जाता है। वाक्य इस प्रकार है—"जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी।"—( जायसी-ग्रंथावली )। ऐसे ही गंभीर चमत्कार द्वारा प्रभावोत्पादन के लिए आचार्य शुक्ल ने विरोधाभास ( परेडाक्सी ) का भी अवलंबन किया है। जैसे, "'वात्सल्य' और 'शृंगार' के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।"—( भ्रमरगीतसार ) यहाँ 'बंद आँखों द्वारा उद्घाटन' में विरोधाभास स्पष्ट है। इस प्रकार की प्रभावात्मक तथा चमत्कारपूर्ण शैली का निर्माण आचार्य

शैली—आत्म तथा बाह्यगत

शुक्ल ने श्लेष की योजना द्वारा भी किया है—"जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकलकर मतवालों ( सांप्रदायिकों ) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखलाना चाहिए।"—( काव्य में रहस्यवाद ) यहाँ 'मतवाला' शब्द का प्रयोग श्लेष के लिए ही दो बार किया गया है, जिसका उद्देश्य है व्यंग्य कसना। मतवालों से संबद्ध हाव-भाव और नृत्य दिखलाने की क्रियाओं के उल्लेख द्वारा रूपक की भी योजना की गई है। इसका निर्देश किया गया है कि इस प्रकार की गद्य-शैली शैलीकार की पटुता तथा गांभीर्य पर अवलंबित है और इसे समझने के लिए पाठक और श्रोता में भी कुछ सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है। प्रभावात्मकता तथा चमत्कार के लिए गद्य-शैली में इस प्रकार की विशिष्टताओं को हम उसके आत्मपक्ष के गुण ( सब्जेक्टिव क्वालिटीज ) कह सकते हैं, जिनका संबंध शैलीकार तथा श्रोता और पाठक दोनों की पटुता तथा गाम्भीर्य से है। उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए गद्य-शैली में अन्य विशेषताओं का भी उपयोग होता है, जिसे हम उसके बाह्य पक्ष के गुण ( आब्जेक्टिव क्वालिटीज ) के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इन गुणों का संबंध प्रायः वाक्य-योजना से होता है, जिसके द्वारा प्रभावात्मकता की सृष्टि होती है। शैली के इस रूप द्वारा पाठक और श्रोता पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इसे समझने के लिए उसे श्रम करने की अपेक्षा नहीं होती, स्वतः वाक्य ही उसे प्रभावित कर देते हैं। हाँ, इस प्रकार की शैली के लिए शैलीकार में पटुता का होना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में बाह्यपक्ष के गुणों से युक्त शैली के भी कई प्रकार दिखाई पड़ते हैं। अपने विचारों को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के लिए आचार्य शुक्ल ने अनेक छोटे-छोटे और समान लंबाई के वाक्यों की योजना की है। जैसे, "उनकी ( तुलसी की ) वाणी के प्रभाव से आज भी हिंदू-भक्त अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होता है, महत्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म में उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का अवलंबन करता है और मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करता है।"—( गोस्वामी तुलसीदास )। तुलसी के महत्त्व के

प्रदर्शन के लिए ही इतनी बातें कही गई हैं, जिससे पाठक पर उनके महत्त्व की छाप लग जाय।

अत्यंत छोटे-छोटे वाक्यों में संकेत-वाचक समुच्चय-बोधक 'यदि······तो' की नियोजना द्वारा उनमें चुस्ती आ जाती है और वे बड़े प्रभावशाली बन जाते हैं। इस प्रकार के वाक्यों द्वारा शैलीकार की पटुता का भी दर्शन होता है। जैसे, "यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्त्व है तो दीनता—तुलसीदासजी के हृदय में बिंब-प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।"—(गोस्वामी तुलसीदास)। प्रथम वाक्य के अतिरिक्त अन्य वाक्यों में 'यदि' का लोप लाघव के लिए ही किया गया है। लाघव वा चुस्ती के लिए ही संयुक्त वाक्य के द्वितीय वाक्य में प्रायः सहायक क्रिया का लोप कर देते हैं, जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है—"बीती बिसारनेवाले 'आगे की सुध' रखने का दावा किया करें, परिणाम अशांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"—(चिंतामणि)। द्वितीय वाक्य में 'होता' क्रिया का लोप लाघव के हेतु ही समझना चाहिए। यत्र-तत्र आचार्य शुक्ल ने 'है' क्रिया का वाक्य के अंत में न रखकर मध्य में रखा है, कथन पर बल देने के लिए—"कवियों को आकर्षित करनेवाली गोप-जीवन की सब से बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सब से अधिक अवकाश।"—(भ्रमरगीतसार)। इस वाक्य में 'है' को अंत में न रखकर मध्य में रखा गया है। कहना न होगा कि इस प्रकार की वाक्य रचना द्वारा कथन में बड़ा बल (फोर्स) आ जाता है। उद्धृत वाक्य से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के वाक्य में केवल एक ही तथ्य होता है, जिस पर बल दिया जाता है। एक ही वस्तु में दो तत्त्वों के अभाव की अभिव्यक्ति के लिए निम्नलिखित प्रकार की वाक्य-रचना द्वारा प्रचुर प्रभाव की सृष्टि देखी जाती है—"उसमें न तो वह अनेकरूपता है और न प्राकृतिक जीवन की वह उमंग।"—(भ्रमरगीतसार)। द्वितीय वाक्य में 'है' क्रिया का लोप लाघव द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया गया है। इस प्रकार हमें विदित होता

प्रभावात्मक वाक्य-रचना

है कि गद्य-शैली के सौष्ठव के लिए आचार्य शुक्ल ने अनेक प्रकार की प्रभावात्मक वाक्य रचना की सहायता ली है।

**तुकदार शब्द और वाक्य**

आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में वाक्य के भीतर एक ही तुक के कई शब्द तथा एक ही तुक के कई ( कम से कम दो ) वाक्यों की प्रवृत्ति का दर्शन मिलता है। उनकी गद्य-शैली की यह प्रवृत्ति उनकी किसी भी रचना में देखी जा सकती है। दो-एक उदाहरण देखें—"पर थोड़ा अंतर्दृष्टि गड़ाकर देखने से कौटिल्य को नचानेवाली डोर का छोर भी अंतःकरण के रागात्मक खंड की ओर मिलेगा।"—( चिंतामणि )। "नए आदर्शवादी 'पुराने गीतों' को छोड़ने को लाख कहा करे, पर जो विशाल हृदय हैं वे भूत को बिना आत्मभूत किए नहीं रह सकते।"—( काव्य में प्राकृतिक दृश्य )। "किसी प्रबंध-कल्पना पर और कुछ विचार करने के पहले यह देखना चाहिए कि कवि घटनाओं को किसी आदर्श परिणाम पर ले जाकर तोड़ना चाहता है अथवा यों ही स्वाभाविक गति पर छोड़ना चाहता है।"—( जायसी-ग्रंथावली )। "इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे।"—( चिंतामणि )। गद्य-शैली की ठीक यही विशेषता श्री इंशाअल्ला खाँ में मिलती है—"जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह निगोड़ा भूत मुछँदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूँगी।"—( रानी केतकी की कहानी )। "क्या हुआ, जो अब वह बढ़ गए, ऊँचे पर चढ़ गए।"—( वही )। गद्य की इस शैली में प्रभावात्मकता की निहिति स्पष्ट है—तुक के कारण।

**निर्देशकों के बीच अंतर्गति की योजना**

आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में उस प्रकार की वाक्य-रचना का प्रयोग विशेष मिलता है जिसके भीतर दो निर्देशक चिह्नों ( डैशेज ) के बीच अंतर्गति (पैरंथेसिस) की योजना होती है, और उन चिह्नों के बीच में कोई बात कही जाती है, अँगरेजी में इस प्रकार की वाक्य-रचना का आधिक्य दिखाई पड़ता है और हिंदी में भी यह प्रवृत्ति अँगरेजी से ही आई है। अँगरेजी के प्रसिद्ध निबंधकार जोसेफ एडिसन की गद्य-शैली में इस प्रकार की वाक्य-योजना

विशेष मिलती है। इस प्रकार के मध्यम वाक्यों (पेरेथेटिकल सेंटेंसेज) को देखने से विदित होता है कि इनमें दो पंक्तियों के मध्य में जो सामग्री होती है वह कथन की व्याप्ति को पूर्ण करने के लिए, जो बात छूटी जाती है उसे चिह्नों के अंतर्गत रखा जाता है। आचार्य शुक्ल ने भी इस प्रकार की वाक्य-रचना का प्रयोग इसी कार्य की सिद्धि के लिए किया है। जैसे, "धर्म और सदाचार को दृढ़ न करनेवाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते।"—(गोस्वामी तुलसीदास)। वाक्य-रचना की यह प्रणाली आचार्य शुक्ल में बहुत मिलती है। वाक्य-योजना का यह ढंग तभी तक सुंदर तथा सुगम होता है जब तक दो निर्देशकों के बीच में सामग्री थोड़ी रखी जाती है, जब वह अधिक होती है तब संगति बैठाने में विलंब के कारण अर्थ-बोध में भी विलंब होता है और पाठक वा श्रोता ऊब जाता है। आचार्य शुक्ल ने निर्देशकों के बीच में प्रायः थोड़ी सामग्री ही रखी है, पर कहीं-कहीं अधिक सामग्री की नियोजना भी मिलती है।

जब किसी व्यक्ति को अपनी बातों पर दृढ़ विश्वास रहता है तब वह जो कुछ कहता है उसे बड़े जोरदार शब्दों में; वह कहता है 'इदमित्थमेव'।

बल की नियोजना

आचार्य शुक्ल के अध्ययन, मनन और चिंतन से कोई अपरिचित नहीं है। इनके द्वारा उन्होंने जो मान्यताएँ वा धारणाएँ निश्चित कर ली थीं उन्हें वे बड़ी बलवती शैली में व्यक्त करते थे। इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है—"पद्मिनी क्या सचमुच सिंहल की थी? पद्मिनी सिंहल की हो नहीं सकती।······दुनिया जानती है कि सिंहल द्वीप के लोग (तामिल और सिंहली दोनों) कैसे काले-कलूटे होते हैं।"—(जायसी-ग्रंथावली), "तो क्या वह अपने चलने के आराम के लिए ऐसी सफाई करने को कह रही है? नहीं; उस मार्ग के लिए जो स्नेह उमड़ रहा है उसकी झोंक में कह रही है।"—(वही)। इन उदाहरणों को देखने से विदित होता है कि इस प्रकार की बलवती गद्य-शैली में वे पहले प्रश्न की अवतारणा कर लेते हैं तब उसका उत्तर दे समाधान करते हैं। वस्तुतः यह प्रश्नोत्तर ही प्रभाव की सृष्टि करता है।

इसी विश्वासमयी बलवती गद्य-शैली से मिलती-जुलती आचार्य शुक्ल के

वह शैली भी है जिसमें वे अपनी धारणाओं पर विश्वास के कारण प्रायः उन लोगों वा उन विषयों के प्रति कटूक्ति का प्रयोग भी कर दिया करते हैं जिन्हें अपनी दृष्टि से उचित नहीं समझते। इस प्रकार की गद्य-शैली में यदा-कदा वे खीझकर कड़े आक्षेप भी करते हैं, जिससे आचार्य शुक्ल के प्रति कुछ लोगों का मन मैला भी हो सकता है। उदाहरण लीजिए "कई स्थलों पर तो 'गूढ़ बानी' का दम भरनेवाले मूर्खपंथियों के अनुकरण पर कुछ पारिभाषिक शब्दों से टँकी हुई थिगलियाँ व्यर्थ जोड़ी जान पड़ती हैं······।"—( जायसी-ग्रंथावली )। इसमें 'मूर्खपंथियों' का प्रयोग संत कवियों के लिए किया गया है। "जो वीर रस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्व देखकर ही प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी वा बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को 'Thought' और विचार को 'Feeling' कहते हैं, वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् १००० के क्या संवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।"—( इतिहास )। ये बातें श्री मिश्रबंधुओं के लिए कही गई हैं। 'कहत सबै बैंदी दिए आँक दस गुनो होत' और 'यह जग काँचो काँच सो मैं समुझ्यौ निरधार' को आगे करके जो लोग कह बैठते हैं कि 'वाह! वाह! कवि गणित और वेदांत-शास्त्र का कैसा भारी पंडित था' उन्हें विचार से काम लेने और वाणी का संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए।"—( जायसी-ग्रंथावली )। यह श्री पद्मसिंह शर्मा के लिए कहा गया है।

खीझ

आचार्य शुक्ल एक भावुक व्यक्ति थे। इसकी चर्चा हम अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। उनकी आलोचना और निबंध-शैली पर विचार करते हुए हम इसकी भी चर्चा कर चुके हैं कि वे यथाप्रसंग संयत भावात्मक गद्य-शैली का भी उपयोग करते हैं, जिसमें गांभीर्य होता है, हल्कापन नहीं। उनके गद्य की भावात्मक शैली कभी फालतू वस्तु के रूप में न दिखाई पड़ेगी। एक स्थान पर आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "···किसी गंभीर विचारात्मक लेख के भीतर कोई मार्मिक स्थल आ जाने पर लेखक की मनोवृत्ति भावोन्मुख हो जाती है और वह काव्य को भावात्मक शैली का अवलंबन करता है।"—( जायसी-ग्रंथावली,

भावात्मकता

पृ० २०९ )। आचार्य शुक्ल की भावात्मक शैली विचारात्मक लेखों के मार्मिक स्थलों पर ही दृष्टिगत होती है। उनकी इस गद्य-शैली का अध्ययन करने पर विदित होता है कि इसके दो रूप हैं, एक गंभीर और दूसरा कुछ हलका। कहना न होगा कि उनकी इस शैली के अनेक उदाहरण यथास्थान उनकी सभी रचनाओं में देखे जा सकते हैं। गंभीर भावात्मक शैली का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—"उस पुण्य-समाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। उस समाज के गंभीर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्मज्योति फूटी उससे आस-पास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है।……"—( गोस्वामी तुलसीदास )। आचार्य शुक्ल की रचनाओं में कुछ हल्की भावात्मक शैली भी प्रायः मिलती है, जिसे वे या तो 'धन्य' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं अथवा भावसूचक चिह्न ( ! ) द्वारा। उनकी इन शैली को देखने से विदित होता है कि जब वे किसी तथ्य, विचार विषय वा व्यक्ति आदि पर मुग्ध होते हैं तब इसकी नियोजना करते हैं। उदाहरण—"धन्य है गार्हस्थ्य जीवन में धर्मलोक-स्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर-घर पहुँचानेवाले तुलसीदास।"—( गोस्वामी तुलसीदास )। "उस समय राम की और सीता का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा; राम के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उनके हृदय में घर किया होगा!" ( वही )।

भावात्मकता के प्रसंग में यत्र-तत्र आचार्य शुक्ल ने गद्य की व्याख्यानात्मक शैली का भी उपयोग किया है—"यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का

व्याख्यानात्मकता

घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रांत हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें ? घोर साहित्यिक गुलामी है।"—( काव्य में रहस्यवाद )।

जैसे भावुकता से आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व का घनिष्ठ संबंध है वैसे ही हास्य, व्यंग्य और विनोद से भी। ऊपर इसका निर्देश किया गया है कि उनकी

भावुकता में गांभीर्य का प्रचुर पुट रहता है, वह ओछी वस्तु नहीं होती। उनके हास्य, व्यंग्य और विनोद की भी यही विशेषता है। उनमें भी गांभीर्य का प्रचुर परिमाण रहता है। आचार्य शुक्ल की गंभीरता सभी पर प्रकट है। उनकी

**हास्य, व्यंग्य और विनोद**

हास्य, व्यंग्य और विनोद की गद्य-शैली को देखने से विदित होता है कि इनकी ( हास्य, व्यंग्य और विनोद की ) उत्पत्ति के लिए वे प्रायः अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते हैं। इनके लिए उक्त भाषाओं के शब्दों के प्रयोग की व्यावहारिकता तथा उपयुक्तता भी वे बताते हैं। उनका कहना है कि "हँसी-मजाक के लिए कुछ अरबी-फारसी के चलते शब्द कभी-कभी कितना अच्छा काम देते हैं, यह हम लोग बराबर देखते हैं" – ( चिंतामणि, पृ० २५७)। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इस कार्य की सिद्धि के लिए इनका ही प्रायः प्रयोग भी किया है। एक बात और ध्यान देने की है, वह यह कि हास्य-व्यंग्य-विनोद की सृष्टि के लिए वे यदा-कदा अँगरेजी के अति प्रचलित शब्दों—लाइसेंस, लेक्चर, पास, फैशन आदि—का भी प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

हास्य और विनोद पर विचार करने से विदित होता है कि इनका सत् उद्देश्य हास्योत्पत्ति और मनबहलाव रहता है। व्यंग्य की भाँति इनका कोई लक्ष्य ( टार्जेट ) नहीं होता, जिस पर वे छींटा मारना चाहें।

**हास्य और विनोद**

लक्ष्य की दृष्टि से ये निष्काम होते हैं। ये अपने लक्ष्य स्वयं हैं। जो व्यक्ति हास्य और विनोद की सृष्टि करना चाहेगा वह पराये और अपने विषय में भी कहेगा-सुनेगा और इनकी सिद्धि करेगा। आचार्य शुक्ल के हास्य और विनोद में ऐसी ही उनकी ( हास्य-विनोद की ) सत् ( जेनुइन ) प्रवृत्ति निहित है। दो एक उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायगी—"अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने ( इंशा अल्ला खाँ ने ) इस ढंग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।"—(इतिहास)। "इन नामों को (भोज्य सामाग्रियों के नामों को) सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय।" —( गोस्वामी तुलसीदास )। इन उदाहरणों को देखने से विदित होता है कि इनका उद्देश्य हास्योत्पत्ति ही है, और कुछ नहीं। निम्नलिखित उदाहरण

में विनोद की बड़ी मधुर व्यंजना हुई है—"इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई जिसे प्रेम कहते हैं।"—( भ्रमरगीतसार )।

व्यंग्य

व्यंग्य का उद्देश्य दुहरा होता है। प्रधानतः लक्ष्य ( टार्जेट ) की त्रुटियों को दृष्टि में रखकर उस पर ( लक्ष्य पर ) सोद्देश्य चोट करना, ऐसी चोट करना जिसे लक्ष्य अनुभव करे; गौणतः इस उद्देश्य की पूर्ति करते हुए हास्योत्पत्ति। व्यंग्य में हास्य की सृष्टि भी लक्ष्य की त्रुटियों पर दृष्टि रखकर ही होती है। अभिप्राय यह कि व्यंग्य में सकामता विशेष है; अतः वह कभी-कभी राजस और तामस भी हो सकता है। व्यंग्यों को देखने से विदित होता है कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति दो पद्धतियों से करते हैं। उद्देश्य-पूर्ति की प्रथम पद्धति वह है जिसमें व्यंग्य सीधा लक्ष्य पर चोट करता है, द्वितीय पद्धति वह जिसमें वह ( व्यंग्य ) हास्य से होता हुआ चोट करता है। आचार्य शुक्ल की रचनाओं में से प्रथम पद्धति का श्रेष्ठ उदाहरण यह है,—"सुनते हैं आजकल बिहारवाले भी भाषा-निर्णय' के उद्योग में हैं और क्रियापदों से लिंग-भेद का झंझट उठवाना चाहते हैं। 'हिंदी रचना-प्रणाली' पर पुस्तकें भी बिहार ही में अधिक छपती हैं। एक दिन एक पुस्तक मैंने उठाई। आरंभ में ही लक्षण के उदाहरण में मिला तुम 'गधा हो'। मैंने 'आकाशे लक्ष्यं बध्वा' वाक्य को ठीक तौर से दुहराकर पुस्तक रख दी।"—( बुद्ध-चरित )। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने प्रकारांतर से उक्त पुस्तक-लेखक को वही जीव बनाया है जिसका उसने उदाहरण दिया है। ऐसा करने के लिए उन्होंने नाट्यशास्त्रगत उस अभिनय-कला का साहाय्य लिया है जिसे 'आकाशभाषित' कहते हैं। आचार्य शुक्ल की व्यंग्य की इस प्रकार की गद्य-शैली से किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति आदि की त्रुटियों के प्रति उनकी खीझ स्पष्ट है। सूक्ष्मतः विचार करने पर विदित होता है कि आचार्य शुक्ल के ऐसे व्यंग्यों में प्रसंगगर्भत्व रहता है। व्यंग्योत्पत्ति की द्वितीय पद्धति का उदाहरण यह है—' ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं।"—(इतिहास)। 'कवि के हृदय

के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं' से हास्य से होते हुए व्यंग्य का लक्ष्य तक पहुँचना स्पष्ट है, इसमें व्यंग्य के साथ हास्य भी मिला हुआ है। आचार्य शुक्ल की रचनाओं में हास्य-व्यंग्य और विनोद से भरी गद्य-शैली के अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। जो उदाहरण दिए गए हैं उनके द्वारा स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल के गंभीर व्यक्तित्व की छाप उनके हास्य-व्यंग्य-विनोद पर लगी है।

हास्य आदि के लिए अँगरेजी, तद्भव, देशज, अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग

ऊपर इसका निर्देश हुआ है कि वे यदा-कदा हास्य-व्यंग्य-विनोद के लिए अँगरेजी के अति प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। जैसे, "उद्धव के ज्ञान-योग का पूरा लेक्चर सुनकर और उसे अपने सीधे-सादे प्रेम की अपेक्षा कहीं दुर्गम और दुर्बोध देखकर गोपियाँ कहती हैं।"—( भ्रमरगीतसार ) 'लेक्चर' शब्द द्वारा हल्के हास्य व्यग्य की व्यंजना स्पष्ट है। यहीं इसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में हास्य-व्यंग्य-विनोद की उत्पत्ति के लिए सर्वत्र अरबी-फारसी शब्दों का ही प्रयोग नहीं होता, तद्भव और देशज शब्दों का प्रयोग भी वे करते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से ही यह बात साफ हो गई होगी। इसी प्रकार यदा-कदा गंभीर स्थलों पर भी अरबी-फारसी शब्दों का उपयोग वे करते हैं। जैसे इस उदाहरण में—"इस सफाई के सामने हजारों वकीलों की सफाई कुछ नहीं है, इन कसमों के सामने लाखों कसमें कुछ नहीं हैं।"—( गोस्वामी तुलसीदास )। ऐसे ही वे अरबी-फारसी के नित्यप्रति के जीवन में व्यवहृत शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर करते हुए देखे जाते हैं। इनका प्रयोग विशेषतः उन स्थलों पर मिलता है जहाँ आचार्य शुक्ल मुसल्मानों के रस्मोरिवाज तथा स्वयं उनके विषय में कुछ कहते हैं। किसी जाति के विषय में उसी जाति की भाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग कर कुछ कहना युक्ति-संगत भी है। आचार्य शुक्ल द्वारा अरबी-फारसी के शब्दों के प्रयोग के विषय में एक बात और कहनी है। वह यह कि इनका प्रयोग वे इनके तत्सम रूप में ही प्रायः करते हैं। जैसे, "इसी प्रकार फारसी की शायरी में बुल्बुल, शमः परवानः, शराब प्याला आदि सिद्ध प्रतीक हैं।"—( काव्य

में रहस्यवाद )। हिंदी मे प्रायः 'शमा परवाना' चलते हैं, जो इन शब्दो के तद्भव रूप हैं, क्योंकि अरबी फारसी का विसर्ग हिंदी में 'अ' हो जाता है। पर आचार्य शुक्ल ने इनके तत्सम रूपों का ही प्रयोग किया है।

आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त और दूसरी विधियों द्वारा भी हास्य-व्यंग्य-विनोद की सृष्टि की गई है। शिष्ट जनों में यह

**हास्य-व्यंग्य-विनोद की अन्य विधियाँ**

प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे समाज में प्रचलित किसी बुरी बात वा धारणा को किसी उच्च व्यक्ति वा वर्ग के विषय में कहकर हास्य उत्पन्न करते हैं, चाहे उक्त व्यक्ति वा वर्ग से उसका ( धारणा का ) संबंध न भी हो। किसी उच्च व्यक्ति वा वर्ग के संबंध में किसी निम्न व्यक्ति वा वर्ग में प्रचलित बात के आरोप मात्र से ही हमें हल्का आश्चर्य होता है और जब हम यह जानते हैं कि ऐसा केवल मनोरंजन के अर्थ ही किया गया है तब हम में हास्य की वृत्ति जगती है। आचार्य शुक्ल ने इस विधि से भी हास्य की सृष्टि की है—"पर रहस्यवाद की ईश्वर समागम वाली दशा या तो योगियों की तुरीयावस्था अथवा चित्त विक्षेप के रूप में मानी जाती है—जैसी किसी भूत या देवता के सिर आने पर होती है। इस दशा पर आस्था सभ्यता की आदिम अवस्था का संस्कार है जो किसी न किसी रूप में अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत कुल देवता आदि का सिर पर आना है वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना समझा जाता है। हमारे यहाँ के भक्तिमार्ग में यह बिल्कुल नहीं है। आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर न कभी राम कृष्ण आए, न ब्रह्म—हाँ ब्रह्म-राक्षस अलबत आते हैं। हनुमानजी कभी-कभी भक्तमंडली से उछलकर किसी सेवक के सिर आ जाया करते हैं।"—( इंदौरवाला भाषण ) यहाँ सिर पर किसी देवता, भूत-प्रेत आदि के आने की बुरी धारणा वा बात का संबंध रहस्यवादियों से जोड़कर हास्य और व्यंग्य की सृष्टि की गई है। हास्योत्पत्ति के लिए एक और पद्धति का अवलंबन आचार्य शुक्ल ने किया है। कुछ उक्तियाँ वा सिद्धांतवाक्य ( मोटोज ), जिनका संबंध किसी संप्रदाय वा मत से होता है, कुछ लोगों द्वारा, जो उक्त मत वा संप्रदाय के होते हैं, भली दृष्टि से देखे जाते हैं। पर जो उक्त मत के नहीं होते उनके द्वारा वे कभी कभी कुछ बुरी दृष्टि से भी

देखे जाते हैं। जिनकी दृष्टि में वे ( सिद्धांत-वाक्य ) भले नहीं होते उनके द्वारा उनका प्रयोग यदा-कदा हास्य वा व्यंग्य की उत्पत्ति के लिये होता है, जिसके द्वारा उक्त मत पर आक्षेप करने की प्रवृत्ति का आभास मिलता है। आचार्य शुक्ल ने इस पद्धति से भी हास्य-व्यंग्य उत्पन्न किया है। जैसे, "अपने भाषण के आरंभ ही में मैंने अपनी अयोग्यता प्रमाणित करने का वचन दिया था। कम-से-कम मैंने इतना तो अवश्य ही सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभासद चुना जाना 'कला की दृष्टि से' अनुपयुक्त हुआ।"—( इंदौरवाला भाषण )। यहाँ 'कला की दृष्टि से' का प्रयोग कर कलावादियों पर व्यंग्य कसकर हास्य की उत्पत्ति की गई है। क्योंकि 'कला को दृष्टि से' किसी वस्तु को देखना कलावादियों का प्रमुख सिद्धांत है।

**सत्त्ववाचक का असत्त्ववाचक तथा असत्त्ववाचक का सत्त्ववाचक के लिए प्रयोग**

सत्त्ववाचक के लिए असत्त्ववाचक का तथा असत्त्ववाचक के लिए सत्त्ववाचक का प्रयोग भाषा को व्यंजक बनाता है। आचार्य शुक्ल की गद्य शैली में भी ऐसे प्रयोग बराबर दिखाई पड़ते हैं। जैसे, "प्रेम दूसरों की आँखों नहीं देखता, अपनी आँखों देखता है।"—( जायसी-ग्रंथावली )। यहाँ असत्त्ववाचक शब्द 'प्रेम' का प्रयोग सत्त्ववाचक 'प्रेमी' के लिए हुआ है।

**तत्सम, तद्भव शब्दों तथा मुहावरों-लोकोक्तियों का प्रयोग**

आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली को देखने से विदित होता है कि उसमें यथास्थान हिंदी तथा अरबी-फारसी के तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग मिलता है। किसी विशेष प्रकार ( तत्सम वा तद्भव ) के शब्दों पर उनका विशेष आग्रह नहीं लक्षित होता। फिर भी अपनी आलोचनाओं में उन्होंने प्रायः तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया है और उनके निबंधों की भाषा में तद्भव-शब्दों के प्रयोग का पुट विशेष है, क्योंकि उनमें स्पष्टता की निहिति करने की ओर उनकी दृष्टि थी। उनकी गद्य-शैली में बोलचाल के चलते शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है। जैसे, 'भड़कीला', 'कठहुजती', तड़क-भड़क', 'अटकलपच्चू' आदि। उन्होंने यथा-प्रसंग, जहाँ स्पष्टता की आवश्यकता थी, शब्दों के तत्सम रूपों का प्रयोग न

करके उनके व्यावहारिक रूपों का प्रयोग किया है। जैसे, 'यजमान' का प्रयोग न करके 'जजमान' का प्रयोग और 'भांडार' का प्रयोग न करके 'भंडार' का प्रयोग। उपर्युक्त शब्दों के द्वितीय रूप व्यावहारिक वा प्रचलित रूप हैं। अति प्रचलित अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी वे करते हैं, इसे हम देख चुके हैं। अभिप्राय यह कि आचार्य शुक्ल की गद्य-शैली में यथाप्रसंग सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिंदी में अन्य भाषाओं से आए अति प्रचलित शब्दों को भी उन्होंने ग्रहण कर लिया है। उनकी गद्य-शैली में मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी उपयुक्त स्थलों में मिलता है, जिनके द्वारा भाषा-शैली की सजीवता दूनी हो जाती है। इनका प्रयोग उनके निबंधों में प्रचुरतया मिलता है। अन्य रचनाओं में भी ये यथास्थान प्रभावात्मकता की सृष्टि के लिए आए हैं। जैसे, "ऐसी जगमगाती विद्वन्मंडली के बीच मेरा कर्तव्य केवल अपने दोनों कान खुले रखने का था, न कि मुँह खोलने का।"—( इंदौरवाला भाषण )।

**अँगरेजी प्रयोगों से विरक्त**

अँगरेजी भाषा के संपर्क में भली भाँति रहते हुए भी आचार्य शुक्ल ने अपनी भाषा-शैली को उसके प्रयोगों से बचाया है। उन्होंने अँगरेजी के प्रयोगों पर व्यंग्य कसा है। इंदौरवाले भाषण के आरंभ में आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "पहले मैं प्रत्येक का स्वरूप समझने का प्रयत्न करूँगा, फिर अपने साहित्य में उसके विकास पर कुछ निवेदन करूँगा—'प्रकाश डालना' तो मुझे आता नहीं।" यह 'प्रकाश डालना' अँगरेजी प्रयोग ( टु थ्रो लाइट ) का अनुवाद है, जो इधर हिंदी में विशेष चलने लगा है, जिस पर आचार्य शुक्ल ने व्यंग्य कसा है।

आचार्य शुक्ल के विषय और व्यक्तित्व को प्रधानतः दृष्टि-पथ में रखकर उनकी गद्य-शैली की विशेषताओं का उद्घाटन संक्षेप में किया गया है। इससे उनकी शैली की पटुता, उसकी उपयुक्तता, उसके सौष्ठव और उसकी प्रभावात्मकता की साधारण अभिज्ञता हो गई होगी। हिंदी-साहित्य में शैली-निर्माण के कार्य में आचार्य शुक्ल का विशेष हाथ है। वे हिंदी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ शैली-निर्माताओं में गिने जाते हैं। आचार्य शुक्ल जैसे शैलीकारों को ही हम किसी भी देश की समृद्ध भाषा के शैलीकारों के समकक्ष प्रतिष्ठित करेंगे—जब विश्व-साहित्य हिंदी से शैलीकारों की माँग करेगा।

# काव्य

हिंदी-साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आविर्भाव द्विवेदी-युग के आरंभ में हुआ और वे वर्तमान युग तक—प्रगतिशील वा समाजवादी प्रवृत्तियों का उदय होने तक—विद्यमान थे। जिस युग में

आविर्भाव-काल

वे हिंदी-साहित्य में आए और कार्य करना आरंभ किया—अर्थात् द्विवेदी-युग में—उसी युग के होकर वे नहीं रह गए। उनका उत्तरोत्तर विकास होता गया और वे उक्त युग के आगे आनेवाले युग—काव्य में छायावाद के प्रसार के युग—के भी प्रधान साहित्यिक व्यक्तियों में से थे और उसे अनेक प्रकार से प्रभावित किया। प्रगतिशील प्रवृत्तियों का आरंभ हुआ ही था कि वे चल बसे, इसे भली भाँति न देख सके। आचार्य शुक्ल द्विवेदी-युग के ही होकर नहीं रह गए यह हम इसलिए कहते हैं कि आलोचक और निबंधकार के रूप में, जो उनका प्रधान रूप है, वे द्विवेदी-युग से कहीं आगे थे, इसकी विवेचना हम कर चुके हैं। यदि उनका विकास न होता तो संभव था कि वे इस युग के आगे आनेवाले युग में भी उसी प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करते रहते जिस प्रकार की रचनाएँ द्विवेदी-युग के साहित्यकार करते थे; और वर्तमान युग में भी तत्कालीन (द्विवेदी-युगीन) कुछ रचयिता ऐसे हैं जिन पर आनेवाले युगों का प्रभाव नहीं पड़ा, उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों में विकास नहीं हुआ और वे अब भी द्विवेदी-युग की-सी ही रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। काव्य के क्षेत्र में भी आचार्य शुक्ल का विकास हुआ है, पर अपने ढंग का; वे छायावाद-युग से प्रभावित नहीं हुए। कारण यह है कि सिद्धांतदृष्ट्या वे छायावाद और रहस्यवाद की प्रवृत्ति को विदेशी मानते थे और उसका विदेशी रूप में विकास हिंदी के लिए घातक समझते थे। पर वे इन वादों के वैसे अंध आलोचक नहीं थे जैसे छायावाद की प्रवृत्ति जगने पर बहुत से हो गए थे और जिन्हें उसमें केवल अवगुण ही अवगुण दिखाई देते थे। वे उसकी अभिव्यंजन-शैली के समर्थक थे और उसे भारतीय पद्धति पर मँजते हुए देखना चाहते थे। हम कहना यह

चाहते हैं कि साहित्य के सभी अंगों के निर्माण के लिए खड़ी बोली को लेकर द्विवेदी युग में जो सुधारवादी आंदोलन चला—सुधारवादिता के कारण जिसमें कुछ रूक्षता थी और नीतिमत्ता तथा आंदोलन के कारण प्रयोगवादिता—उससे होकर आचार्य शुक्ल आगे बढ़ आए, और क्रमशः आगे बढ़ते रहे। इतना कहकर हम यह नहीं कहना चाहते कि वे द्विवेदी-युग से प्रभावित ही नहीं हुए, प्रभावित हुए अवश्य, वे उस युग से होकर ही तो आगे आए थे। काव्य के क्षेत्र में वे उससे प्रभावित हुए और आलोचना तथा निबंध के क्षेत्र में उन्होंने उसे प्रभावित भी किया—इनमें विकास की पूर्ण स्थापना करके। द्विवेदी-युग के काव्य से वे प्रभावित हुए, पर इतना नहीं कि उसी ढंग की रचना अंत तक करते रहें, उन्होंने द्विवेदी-युग की काव्य-रचनाओं की अपेक्षा विकसित काव्य-रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। द्विवेदी-युग की सुधारवादिता को हम कुछ व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहते हैं। सुधारवादिता से हमारा अभिप्राय भाषा में किए गए सुधार और संस्कार से भी है और राष्ट्र वा जाति को सुधारने के लिए उपयुक्त विषयों के प्रस्तुत करने से भी, जिसका संबंध नीतिवाद और आदर्शवाद से है। नीतिमत्ता और आदर्शवादिता के लिए द्विवेदी-युग में, काव्य के क्षेत्र में, प्रधानतः भारतीय पुराण और इतिहास से विषय ग्रहण किए गए, जिनमें भारत के अतीत गौरव का चित्रण है। तत्कालीन समाज और धर्म आदि की त्रुटियों में भी सुधार के हेतु विभिन्न प्रकार के विषयों पर काव्य-रचनाएँ हुईं। सुधारवाद को ही दृष्टि-पथ में रखकर उस युग में अन्योक्तियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी गईं। विशिष्ट व्यक्तियों से हमारा तात्पर्य विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तियों से भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग का साहित्य सुधारवाद वा आदर्शवाद प्रधान है। द्विवेदी-युग की प्रयोगवादिता से हमारा अभिप्राय काव्य के लिए खड़ी बोली को लेकर उसके ( काव्य के ) विभिन्न विषयों के आजमाए जाने से है, जिससे वह ( खड़ी बोली ) आगे चलकर ग्राह्य सिद्ध हुई। यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि काव्य के लिए उस समय खड़ी बोली गृहीत हुई अवश्य और वह सफल भी रही, पर काव्य की पारंपरिक भाषा व्रजभाषा का तिरस्कार वा बहिष्कार भी नहीं किया जाता था, उसमें भी प्रभूत रचना

प्रस्तुत की जाती थीं। काव्य के लिए एकमात्र ब्रजभाषा का ग्रहण करने-वाले कवि 'रत्नाकर' उस समय विद्यमान थे। आचार्य शुक्ल ने भी 'दि लाइट आव् एशिया' का अनुवाद 'बुद्ध-चरित्र' नाम से ब्रजभाषा में ही किया। उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी ब्रजभाषा मे हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उनकी बहुत-सी रचनाएँ खड़ी बोली में भी हैं। कुछ रचनाएँ उस समय ऐसी भी होती थीं जिनमें ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित गंगा-जमुनी भाषा का प्रयोग होता था।

**आरंभिक रचनाएँ**

यदि प्रश्न हो कि द्विवेदी युगीन उक्त सुधारवाद वा आदर्शवाद ने क्या आचार्य शुक्ल को काव्य के क्षेत्र में प्रभावित किया, तो उनकी 'गोस्वामी जी और हिंदूजाति', 'भारतेंदु-जयंती', 'हमारी हिंदी', 'आशा और उद्योग', 'प्रेम-प्रताप', 'अन्योक्तियाँ' आदि रचनाएँ उत्तर में प्रस्तुत की जा सकती हैं। प्रथम कविता के अतिरिक्त, जो सन् १९२७ की है, उपर्युक्त सभी कविताएँ सन् '१२ तथा '१८ के मध्य लिखी गई हैं, जिन्हें हम आचार्य शुक्ल की प्रारंभिक रचनाएँ कह सकते हैं। इन कविताओं के विषय द्विवेदी-युग की प्रवृत्ति के अनुरूप हैं, यह स्पष्ट है। उपर्युक्त सभी कविताओं की भाषा सीधी-साधी खड़ी बोली है जो उस युग की आदर्श काव्यभाषा थी। इनकी अभिव्यंजन-पद्धति भी सरल और सुबोध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य के द्विवेदी-युग में प्रचलित सुधारवाद वा आदर्शवाद से आचार्य शुक्ल की रचनाएँ प्रभावित हैं।

**लोकवाद**

क्या इसी आदर्शवाद से प्रभावित होने के कारण आचार्य शुक्ल आदर्शवादी बने, जिसका स्वरूप उनके लोकवाद में दृष्टिगत होता है? इस प्रश्न का उत्तर यों दिया जा सकता है कि किसी प्रभावशाली साहित्यकार की धारणाओं के संघटन पर भी यद्यपि उसके समय की परिस्थिति का प्रभाव पड़ता अवश्य है तथापि इस विषय में उसके व्यक्तिगत संकल्प को ही मुख्य स्थान देना चाहिए। किसी धारणा की प्रतिष्ठा में व्यक्तिगत दृष्टि का जितना अधिक हाथ रहता है उतना परिस्थिति का नहीं। अतः आचार्य शुक्ल के लोकवाद में उनकी व्यक्तिगत धारणा वा दृष्टि ही प्रधान है और परिस्थिति गौण। इसके अतिरिक्त उनका

लोकवाद द्विवेदी-युगीन आदर्शवाद से भिन्न भी है। आचार्य शुक्ल के लोकवाद का संबंध लोक भर से—विश्व भर से—है, उसकी व्याप्ति बड़ी है। वे विश्व भर की स्थिति और रक्षा के अभिलाषी हैं। वे किसी विशिष्ट देश पर ही अपनी दृष्टि रखना नहीं चाहते। पर द्विवेदी-युगीन आदर्शवाद प्रधानतः देशभक्ति का उद्बोधक है। आचार्य शुक्ल के लोकवाद का निखरा रूप उनके निबंधों और आलोचनाओं में विशेष देखना चाहिए; उनकी उपर्युक्त कविताओं में नहीं, जिनमें द्विवेदी-युगीन आदर्शवाद अपनी झलक मार रहा है। कविता के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का लोकवाद उनकी 'हृदय का मधुर भार' नाम्नी लंबी कविता में मिलता है, जिसमें उनकी दृष्टि समस्त नर-जीवन पर है। हाँ, उन्होंने चित्रण भारतीय प्रकृति का ही किया है, वे भारत के कवि थे अन्य देश का प्रकृति-चित्रण करते भी तो कैसे। अभिप्राय यह कि आचार्य शुक्ल के लोकवाद तथा द्विवेदी-युग के आदर्शवाद में एकत्व नहीं, भिन्नत्व है। हाँ, आरंभ में आचार्य शुक्ल द्विवेदी-युग के आदर्शवाद से प्रभावित हुए अवश्य।

**'बुद्ध-चरित' का विषय**

आचार्य शुक्ल के काव्य की विवेचना करते हुए 'बुद्ध-चरित' (सन १९२२) पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है, यद्यपि यह अनुवाद है। अनुवाद होते हुए भी आचार्य शुक्ल ने इसे एक स्वच्छंद काव्य ग्रंथ बनाने का प्रयत्न किया है, इसे हम देख चुके हैं। इस ग्रंथ पर विचार करते हुए पहले तो आचार्य शुक्ल द्वारा अनुवाद के विषय के चुनाव पर विचार आवश्यक है; और दूसरे इसमें प्रयुक्त भाषा के ग्रहण पर विचार। हिंदू पुराणों पर दृष्टि रखकर विचार करने से विदित होता है कि बुद्धि भी राम-कृष्ण की भाँति अवतार हैं। यद्यपि बुद्ध और उनके अनुयायियों ने हिंदू-धर्म का विरोध करते हुए जन-मत को प्रभावित करने का प्रयत्न किया और वे इसमें सफल भी हुए तथापि हिंदू-धर्मवालों ने उन्हें अपना अवतार माना। हिंदू-धर्म में भगवान् बुद्ध की पूजा जगन्नाथजी की पूजा के रूप में प्रचलित है। आचार्य शुक्ल ने देखा कि अवतार-स्वरूप राम-कृष्ण के पुण्यचरितगान से सारा हिंदी-साहित्य भरा पड़ा है, पर अवतार के ही रूप में गृहीत भगवान् बुद्ध पर कोई भी रचना नहीं है, यद्यपि

ये तीनों ही प्रमुख अवतार हैं और भारत तथा भारतेतर देशों में इन सभी की महिमा समान है। उन्होंने देखा कि बुद्ध भगवान् भारत की विभूति होते हुए भी उसकी जनता के हृदय से दूर होते जा रहे हैं, यद्यपि उनका चरित्र कम प्रभावशाली नहीं है। इन्हीं सब कारणों से उन्होंने अपने काव्य ( वा अनुवाद ) के लिए बुद्ध का चरित्र चुना। कहना न होगा कि हिन्दी में काव्य के लिए बौद्ध वाङ्मय या बुद्ध-संप्रदाय से 'वस्तु' का ग्रहण सर्वप्रथम 'बुद्ध-चरित' में ही हुआ। नाटक के क्षेत्र में बौद्ध वाङ्मय से कथानक का ग्रहण 'प्रसाद' जी भी अवश्य करते रहे। 'बुद्ध-चरित' के पश्चात् काव्य के लिए बौद्ध कथानक का ग्रहण हिंदी-साहित्य में बहुधा होने लगा और अनेक ग्रंथ प्रस्तुत हुए, जिनमें मुख्य हैं—श्री अनूप शर्मा कृत 'सिद्धार्थ', श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'यशोधरा' और 'कुणाल-गीत' तथा श्री सोहनलाल द्विवेदी कृत 'कुणाल'।

**'बुद्ध-चरित' की भाषा**

'बुद्ध-चरित' की भाषा पर विचार करने के पूर्व यह समझ रखना चाहिए कि यद्यपि आचार्य शुक्ल ने अपनी कविताएँ प्रायः खड़ी बोली में ही लिखी हैं तथापि ब्रजभाषा से उन्हें बड़ा प्रेम था, 'बुद्धचरित' इसका प्रमाण है। यह हमें विदित है कि द्विवेदी-युग में काव्य के लिए खड़ी बोली का ही ग्रहण प्रधानतः होता रहा है। हाँ, उस समय ब्रजभाषा के भी अनेक हिमायती थे, और अपनी रचनाओं में वे इसका प्रयोग भी करते थे। पर अधिक संख्या ऐसे ही व्यक्तियों की थी, जिनकी दृष्टि इस पर न थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में ब्रजभाषा की धारा क्रमशः क्षीण होती जा रही थी। पर इसके कुछ प्रेमी अवश्य थे, जो इसे छोड़ना नहीं चाहते थे। आज भी ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं। आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "हम नहीं चाहते, और शायद कोई भी न चाहेगा, कि ब्रजभाषा-काव्य की धारा लुप्त हो जाय।"—( इतिहास, पृ० ७९६ ) ब्रजभाषा-काव्य की धारा बनी रहे, इसलिए "उसे यदि इस काल में भी चलना है तो वर्तमान भावों को ग्रहण करने के साथ ही साथ भाषा का भी कुछ परिष्कार करना पड़ेगा। उसे चलती ब्रजभाषा के अधिक मेल में लाना होगा। अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी अब बिगड़े रूपों में रखने की आवश्यकता नहीं।"—( वही )। 'बुद्ध-चरित' में आचार्य शुक्ल ने ब्रजभाषा के विषय में

अपने इसी सिद्धांत का अनुकरण किया है। इसमें उन्होंने क्रियापद आदि को व्रजभाषा के अनुकूल ही रखा है, पर संज्ञा, विशेषण आदि को संस्कृत के रूपों के समान। इनको उन्होंने व्रजभाषा के समान रूप नहीं दिया है। व्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त जो शब्द बोलचाल से उठ गए हैं उनका प्रयोग उन्होंने इस रचना में नहीं किया है, उनके स्थान पर उन्होंने प्रचलित प्रायः संस्कृत के शब्द रखे हैं। अब प्राकृत के जो शब्द समझे नहीं जाते और पहले व्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त होते थे उन्हें भी उन्होंने नहीं प्रयुक्त किया है। हाँ, जो आज भी समझे जाते हैं उन्हें अवश्य रखा है। प्रादेशिक शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने नहीं किया है, पर ऐसे शब्द इस रचना में अवश्य हैं जो प्रादेशिक होते हुए भी सबके लिए बोधगम्य हैं। इस काल में व्रजभाषा को यह रूप देने का एकमात्र कारण यही है कि वे व्रजभाषा का प्रचार इस युग में भी चाहते थे; जो उसे यह रूप देने पर ही संभव था, जिससे यह अधिक व्यापक बने तथा अधिक लोगों द्वारा समझी जा सके। यह सत्य है कि प्राचीन व्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त बहुत से ऐसे शब्द हैं जो आज नहीं समझे जाते, इसका कारण है इस प्रकार के काव्य के अध्ययनकी न्यूंनता—खड़ी बोली के प्रचार के कारण। ऐसी स्थिति में व्रज भाषा सर्वजन-सुलभ तभी हो सकती है जब उसमें संस्कृत के प्रायः तत्सम शब्द प्रयुक्त हों क्योंकि संस्कृत का प्रचार इस युग में अत्यधिक है। व्रजभाषा को सर्व जन-सुलभ बनाने के लिए आचार्य शुक्ल का यह कार्य बड़ा महत्वपूर्ण था। प इस ओर अन्य कवियों की दृष्टि पूर्णतः न जा सकी। इसका मुख्य कारण तो यह है कि इस समय काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का बोलबाला हो गया और गौण कारण यह भी है कि अभी 'रत्नाकर' जी ऐसे प्रभावशाली कवि विद्यमान थे जो व्रजभाषा को उसकी प्राचीन प्रवृत्तियों के अनुकूल ही चलने देना चाहते थे और उन्हीं ( प्राचीन प्रवृत्तियों ) को दृष्टि में रखकर उन्होंने प्रभूत रचना की भी, जिसके सामने आचार्य शुक्ल का सुझाव दबा रह गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि आचार्य शुक्ल द्वारा व्रजभाषा का उपयुक्त परिष्कार उसके प्रचार की व्यापकता को दृष्टि में रखकर ही विशेष था, उसकी मधुरिमा को दृष्टि में रखकर नहीं जो व्रजभाषा का पारंपरिक स्वरूप है और जिस पर 'रत्नाकर' जी की दृष्टि विशेष थी—विशेषतः 'उद्धव-शतक' में। 'बुद्ध

चरित' की भाषा में सफ़ाई और चलतापन के साथ ही उपर्युक्त परिष्कार के कारण खड़ापन वा पुंसत्व ( मैस्क्युलिन स्पिरिट ) विशेष है। इसी प्रसंग में यह भी कह दिया जाय कि व्रजभाषा की सभी कविताओं में आचार्य शुक्ल ने उसके व्रजभाषा के इसी आदर्श का पालन किया है; जैसे, 'हर्षोद्गार' आदि कविताओं में।

**प्रकृति-चित्रण**

हिंदी-काव्यक्षेत्र में आचार्य शुक्ल का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य तथा उसे उनकी सबसे बड़ी देन ( कांट्रिब्यूशन ) है उनका प्रकृति-चित्रण। आचार्य शुक्ल के अनन्य प्रकृति-प्रेम की चर्चा हम कर चुके हैं, उनके द्वारा काव्य-सिद्धांतों की निर्धारणा में प्रकृति के उपयोग की चर्चा भी कर चुके हैं,। हम इसकी भी चर्चा कर चुके हैं कि वे प्रकृति के कैसे रूपों से प्रेम करते थे और हम उनका चित्रण किस प्रकार का चाहते थे। आचार्य शुक्ल के अतिरिक्त हिंदी में हमें और कोई ऐसा कवि नहीं दृष्टिगोचर होता जो प्रकृति से इतना अगाध प्रेम रखता हो और काव्य में उसके चित्रण का इतना बड़ा अभिलाषी हो। छायावादी कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया, पर उनका चित्रण दूसरे प्रकार का है, उनकी ऐसी रचनाएँ बहुत कम हैं जिनमें एकांततः प्रकृति का ही चित्रण हो, जैसा आचार्य शुक्ल करते हैं। वे ( छायावादी कवि ) प्रकृति के साथ अपने हृदय का भी चित्रण करते हैं। इसी कारण उनका प्रकृति-चित्रण प्रायः गौण है और आत्मचित्रण प्रधान। हम यह नहीं कहते कि उन्होंने एकांततः प्रकृतिका चित्रण किया ही नहीं, किया अवश्य पर कम। छायावादी कवियों के प्रकृति-चित्रण में उनके हृदय के चित्रण से—प्रकृति पर अपने हृदय के भावों वा अपनी दुःख-सुख-मयी परिस्थितियों का आरोप करके चित्रण करने से—वे खिन्न थे। वे चाहते थे कि प्रकृति के विशुद्ध रूप का चित्रण किया जाय, उसपर स्वकीय भावों को आरोपित न किया जाय। इसी कारण छायावादी कवियों की प्रकृति-चित्रण की उक्त प्रवृत्ति की आलोचना प्रसंगात् वे 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में इस प्रकार करते हैं—

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँख नहीं
जिन्हें वे ही भीतर रहस्य समझाते हैं।

झूठे झूठे भावों के आरोप से आछन्न उसे
करके पाषंड-कला अपनी दिखाते हैं।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन, नृत्य
देख अपना ही तंत्री-तार वे बजाते हैं।

प्रकृति के विशुद्ध रूप के चित्रण पर दृष्टि रहने के कारण ही 'आमंत्रण' नामक कविता में प्रकृति के विभिन्न रूपों का संकेत करके अंत में आचार्य शुक्ल कहते हैं—

कविता वह हाथ उठाए हुए, चलिए कविवृंद बुलाती वहाँ।

इस प्रकार वे कवियों को प्रकृति के यथार्थ संश्लिष्ट चित्रण के लिए आमंत्रित करते हैं। आचार्य शुक्ल की पंक्ति रूसो के इस कथन की याद दिलाती है कि 'प्रकृति की ओर लौट चलो, ( रिटर्न टु नेचर )। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल ने प्रकृति का जहाँ भी चित्रण किया है वहाँ वह यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण है। उसपर उन्होंने अपनी भावनाओं का आरोप नहीं किया है। साथ ही उन्होंने प्रकृति के मधुर कोमल तथा बीहड़, उजाड़ विराट् दोनों रूपों को समान रूप से अपनी कविताओं में चित्रित किया है। वे प्रकृति के कोमल और उग्र दोनों रूपों के चित्रण के पक्षपाती हैं, इसे हम उनके काव्य सिद्धांतों पर विचार करते हुए देख चुके हैं। आचार्य शुक्ल की प्रकृति-चित्रण की इन प्रवृत्तियों की विशेषताओं का दर्शन हम उनकी प्रकृति-संबंधिनी सभी कविताओं में कर सकते हैं। जैसे, 'मनोहरछटा', 'आमंत्रण', 'मधु-स्रोत', 'प्रकृति-प्रबोध', और हृदय का मधुर भार' नामक कविताओं में। आचार्य शुक्ल की पहली कविता 'मनोहर छटा' कही जाती है, जो अक्टूबर, सन् १९०१ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। इसको देखने से विदित होता है कि प्रकृति के यथार्थ और संश्लिष्ट चित्रण का श्रीगणेश उनके काव्य-जीवन के आरंभ से ही हो गया था। आचार्य शुक्ल के प्रकृति-चित्रण की सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में इस कविता में मिल जाती हैं।

आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांतों की विवेचना करते हुए हम इस पर विचार कर चुके हैं कि वे काव्यगत रहस्य-भावना का संबंध प्रधानतः प्रकृति से जोड़ते हैं। उनकी मान्यता यह है कि किसी सांप्रदायिक (डाग्मेटिक) रहस्यवाद से परे शुद्ध और स्वाभाविक रहस्य-भावना का क्षेत्र प्रकृति ही है। इस पर विचार हो चुका है, अतः यहाँ इसकी विवेचना वांछनीय नहीं। यहाँ हम कहना यह चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल की प्रकृति-संबंधिनी कविताओं में यत्र-तत्र रहस्य-भावना से युक्त स्थल भी दृष्टिगत होते हैं। जैसे—'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में ये छंद—

**प्रकृति-काव्य में रहस्य-भावना**

धुँधले दिगंत में विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अंतर मिला है, चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत औ भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है।

× × × ×

लगती हैं चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी,
पास ही में होगा बस वहीं कहीं देवलोक;
बार-बार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली सी
छाया बीच ढूँढ़ने को अमर-विलास-ओक।
ओट में अखाड़े वहीं होंगे वे पुरंदर के,
अप्सराएँ नाच रही होंगी जहाँ ताली ठोंक;
सुनने को सुन्दर संगीत वह मन्द-मन्द
बुद्धि का नहीं है अभी कहीं कोई रोक-टोक।

इस प्रकार हमें विदित होता है कि काव्य में प्रकृति-चित्रण के वि
आचार्य शुक्ल की जो धारणाएँ थीं प्रकृति से संबद्ध उनकी कविताओं में
पूर्णतः पालन हुआ है। यहाँ एक और बात पर दृष्टि
प्रकृति-चित्रण में आवश्यक है। वह यह कि आचार्य शुक्ल द्वारा प्र
संस्कृत की परंपरा मधुर-कोमल और उग्र-विराट् रूपों के यथातथ्य
चित्रण का स्वरूप संस्कृत के वाल्मीकि, कालिदास, भ
के प्रकृति-चित्रण की परंपरा के अनुगमन पर है। हमारे इस कथन को हि
को परिनिति में बँधा न समझा जाना चाहिए कि संस्कृत के उपर्युक्त
का-सा प्रकृति-चित्रण हिन्दी में यदि कहीं मिला तो आचार्य शुक्ल के काव्
इस क्षेत्र में इस प्रकार उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत की परंपरा में एक
मेल स्थापित किया। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि छायावादी कवि
प्रकृति-चित्रण के विषय में क्या कहा जाय? गहरे में पैठ कर विचार करें
विदित होता है कि छायावादी कवियों के प्रकृति-चित्रण में भारतीय प्रेर
उतना हाथ नहीं है जितना अँग्रेजी के स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) क
की प्रेरणा का। अन्य क्षेत्रों में भी ये प्रधानतः उन्हीं से प्रभावित हुए थे।
हम कहना इतना ही चाहते हैं कि प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से कई सौ वर्षों
पश्चात् आचार्य शुक्ल ने हिन्दी का सम्बन्ध संस्कृत से स्थापित किया। हिन्दी
लिए यह गौरव की बात है।

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल की कविता को द्विवेदी-युग से प्रभावित क
है। क्या प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में भी वे इससे प्रभावित थे, क्योंकि इस
के प्रमुख कवि पं० श्रीधर पाठक की प्रवृत्ति इस ओर र
प्रकृति-चित्रण पर होती है—कुछ स्वभावतः प्रकृति की ओर झुकाव के का
द्विवेदी-युगीन और कुछ आलिवर गोल्डस्मिथ के ग्रंथों में आए प्राक
प्रभाव नहीं स्थलों के अनुवाद के कारण। कहना न होगा कि प्र
चित्रण के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल द्विवेदी-युग से तनिक
प्रभावित न थे। उनके द्वारा प्रकृति-चित्रण का कारण उनका प्रकृ
निसर्गतः प्रेम है, जो विन्ध्य की तलहटी में जन्म लेने के कारण उनमें उ
हुआ था। पं० श्रीधर पाठक तथा आचार्य शुक्ल के प्रकृति-चित्रण में

ता भी हमें दृष्टिगत नहीं होती। पाठक जी का प्रकृति-चित्रण प्रायः
कारिक है, उदाहरणार्थ 'काश्मीर-सुषमा' देखी जा सकती है। उन्होंने
के शुद्ध रूपों का चित्रण भी किया, पर यत्र-तत्र ही और प्रकृति का
ने जो स्वरूप लिया वह भव्य ही, उसके समस्त रूपों तक उनकी दृष्टि
गई। उनका प्रकृति-चित्रण नागर मन का उल्लास है, वन्य जीवन की
ाविक रमणीयता उसमें नहीं मिलती। आचार्य शुक्ल का प्रकृति-चित्रण
है, इसे हम देख चुके हैं और प्रकृति-चित्रण का यथार्थ स्वरूप वैसा
ोना चाहिए जैसा कि उनका है; वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के
तिक चित्रण इसके साक्षी हैं।

आचार्य शुक्ल की प्रकृति-संबंधिनी कविताओं में जो विचारधारा (फिला-
) प्रवाहित है वह है नर द्वारा अपनी चिरसंगिनी प्रकृति का विस्मरण,
उसके स्वाभाविक सौंदर्य पर मुग्ध न होकर उसके बनावटी
सौंदर्य (आर्टिफिशियल ब्यूटी) की ओर उसको (नर की)
ललक, उसके द्वारा प्रकृति की स्वाभाविकता को वैज्ञानिक
सभ्यता के कारण उपयोगवादिता में परिणत करना, विज्ञान के
भूत हो प्रकृति से संबंध-विच्छेद। नर की इन करतूतों पर आचार्य शुक्ल
दुःखित हैं। उसके द्वारा जंगलों का काटा जाना, पहाड़ों का सपाट
ा, जीव-जंतुओं का मारा जाना आदि देखकर वे उस पर रुष्ट होते
कहना न होगा कि मानव इन करतूतों को वैज्ञानिक उन्मादवश ही
ा है और चाहता है कि हम प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लें, उसे
ी उपयोगवादिता में बाँध लें। नर की इस स्वार्थमयी प्रवृत्ति से खिन्न
रुष्ट होकर 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में आचार्य शुक्ल
े हैं—

त काव्य में चारधारा

कर से कराल निज काननों को काटकर,
शैलों को सपाट कर, सृष्टि को संहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे
जीव जहाँ तक बने मारते, तू मार ले।

माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपने पसार ले।
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही
होगी किंतु अलम् न, मानव ! विचार ले।

औद्योगिक क्रांति ( इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन ) के कारण यूरोप में जब प्रकृति का वास्तविक कर्म वा रूप नष्ट कर दिया जा रहा था, जंगल काट डाले जाते थे, नदियों और झीलों का अप्राकृतिक उपयोग होता था, व्यापार ही सब कुछ समझा जाता था, तब प्रकृति के अनन्य प्रेमी विलियम वर्डस्वर्थ ने भी कुछ-कुछ ऐसी ही बातें कही थीं जैसी आचार्य शुक्ल ने कही हैं—

The world is too mucn with us; late and soon,
Getting and spending, we lay waste our powers
Little we see in Nature that is ours,
We have given our hearts away, a sordid boon!

[ हम सांसारिकता में आकंठ मग्न हैं। व्यापार आदि के लेन-देन के हेतु हम शीघ्रता से ही उठते हैं और देर में सोते हैं। इस प्रकार हम अपनी शक्ति को नष्ट कर रहे हैं। हमें 'प्रकृति' के लिए कुछ भी चिंता नहीं है; यद्यपि वह हमारी स्वयं की वस्तु है। हमने हृदय को कहीं दूर डाल रखा है। जो ईश्वरीय वरदान ( हृदय ) हमें मिला है उसका हम अनुचित उपयोग कर रहे हैं। ] 'प्रकृति' ( नेचर ) से वर्डस्वर्थ का अभिप्राय प्रकृति के शुद्ध रूपों से है, जो उक्त कविता की बाद की पंक्तियों द्वारा स्पष्ट है। 'हृदय का मधुर भार' नामक कविता में आचार्य शुक्ल ने कई स्थलों पर इसकी व्यंजना की है कि नर प्रकृति को विकृत करता जाता है, उसे नाश करता जाता है और प्रकृति समय आने पर पुनः विकृत और नष्ट स्थलों को अपने रंग में रँग देती है। नर प्रकृति को बिगाड़ता है और वह स्वतः कालांतर में बनती जाती है—

नर ने जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी,
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है।

× × × ×

मानव के हाथ से निकाले जो गए थे कभी
धीरे-धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है।

आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धांतों की विवेचना करते हुए हम देख चुके हैं कि वे मानव का प्रकृति के प्रति प्रेम स्वाभाविक मानते हैं, जो साहचर्य-जन्य है, क्योंकि मानव आदिम युगों से प्रकृति के साथ रहता चला आ रहा है। हाँ, इधर वैज्ञानिक युग में आकर वह उससे अवश्य किनारा खींचने लगा है। उनका कथन है कि प्रकृति और मानव किसी 'गुप्त तार' से बँधे हुए हैं—

उछल उमड़ और झूम सी रही है सृष्टि
गुंफित हमारे साथ किसी गुप्त तार से,
तोड़ा था न जिसे अभी खींच अपने को दूर;

कहना न होगा कि यह 'गुप्त तार' प्रेम-संबंध ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल ने प्रकृति-संबंधिनी रचनाओं में प्रकृति और मानव में चिर काल से चले आते हुए प्रेम-संबंध, प्रकृति पर मानव द्वारा अत्याचार, मानव द्वारा विकृत प्रकृति के स्वरूप का पुनः प्रकृति द्वारा स्वाभाविक रूप देने आदि की विचार-धारा की अभिव्यक्ति की है। यहा स्मरण रखने की बात यह है कि आचार्य शुक्ल की प्रकृति-संबंधी यह विचार-धारा भाव-प्रेरित ही नहीं है, उसमें तथ्य भी है, इस पर किसी को संदेह न होना चाहिए।

काव्य-कला

आचार्य शुक्ल की काव्य-कला पर विचार करने के लिए सामग्री प्रभूत नहीं है। उनकी पंद्रह-बीस छोटी-छोटी कविताएँ और एक बड़ी कविता 'हृदय का मधुर भार', जो एक पद्य-निबंध के रूप में है और जिसमें मित्र-मंडली के साथ आचार्य शुक्ल के विंध्याटन का विस्तृत वर्णन है, मिलती है। काव्य-कला पर विचार करते हुए 'बुद्ध चरित' पर दृष्टि का रखना संभवतः आवश्यक न समझा जाय, क्योंकि वह एक दूसरे काव्य पर ही आधृत है, उसका महत्त्व अधिकतर अनुवाद की दृष्टि से ही विशेष है, जिसका विचार हो चुका है। आचार्य शुक्ल की जो थोड़ी-सी कविताएँ मिलती हैं उनमें लगभग आधी उनकी प्रारंभिक

रचनाएँ हैं, जिनमें काव्य-कला की दृष्टि से कोई लक्षित करने योग्य वैशिष्ट्य नहीं दिखाई देता। उनमें द्विवेदी-युगीन कला-प्रवृत्तियाँ ही विशेष हैं। उनकी भाषा सीधी,-सादी, साफ, सुथरी और निरलंकृत है। आरंभिक और प्रौढ़ावस्था की भी चार-छः कविताएँ ऐसी हैं जिनमें आचार्य शुक्ल ने प्रायः वे ही बातें कही हैं जो वे अपनी आलोचनाओं में कह चुके हैं। हाँ, उन्हें उन्होंने काव्य का रूप अवश्य दिया है। इन कविताओं के नाम हैं—'गोस्वामीजी और हिंदू जाति', 'पाखंड-प्रतिषेध', 'भारतेंदु-जयंती' आदि। उपर्युक्त पहली कविता में प्रायः वैसी ही बातें हैं जैसी 'गोस्वामी तुलसीदास' में लिखी जा चुकी हैं। दूसरी कविता में छायावादी कविता की आलोचना है, जो 'काव्य में रहस्यवाद' में यत्र-तत्र हो चुकी है। 'भारतेंदु-जयंती' में मूलतः वे ही बातें हैं जो आचार्य शुक्ल ने अपने भारतेंदु पर लिखे निबंध में कही हैं। इनके अतिरिक्त 'हृदय का मधुर भार' में भी छायावादी-रहस्यवादी कविता पर प्रसंगात् कुछ कहा गया है। इतना कहकर हम यह नहीं कहना चाहते कि उपर्युक्त रचनाओं में कोई विशेषता नहीं है, उनमें रूखापन है वा उनमें गद्यात्मकता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। इन रचनाओं में भाषा की सफाई तथा कथन में बड़ा प्रवाह तथा प्रभाव है। यही इनकी विशेषता है, इनका लक्ष्य भी यही है। शब्द-माधुरी की दृष्टि से ये लिखी भी नहीं गई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शुक्ल की प्रारंभिक तथा ऐसी कविताओं में काव्य-माधुरी का संनिवेश ढूँढ़ना ठीक नहीं है।

काव्य-कला की दृष्टि से विचार करने के लिए आचार्य शुक्ल की केवल प्रकृति-संबंधिनी रचनाएँ ही बच रहती हैं। इन पर भी मुख्यतः एक ही दृष्टि से विचार हो सकता है—रूप-योजना की दृष्टि से। रूप-योजना भी ऐसी जिसमें यथातथ्य संश्लिष्ट वर्णन हो। बिना संश्लिष्ट वर्णन के काव्य में मूर्तिमत्ता की नियोजना संभव भी नहीं।

**रूप-योजना**

काव्य में आचार्य शुक्ल मूर्ति विधान के कितने समर्थक थे इनका विचार हम कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल ने प्रकृति का यथातथ्य—प्रकृति जैसी है वैसा ही—और एक-एक ब्योरा देकर वर्णन करते हुए उसका रूप खड़ा किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी मूर्तियोजना की शक्ति द्वारा

अपनी रचनाओं में प्रकृति का शाब्दिक चित्र खींच दिया है, उसका रूप आँखों के संमुख प्रत्यक्ष हो जाता है। आचार्य शुक्ल की काव्य-कला की सबसे बड़ी विशेषता यही है—उनकी प्राकृतिक रचनाओं में। उन्होंने प्रकृति चित्रण करते हुए अलंकारों की सहायता कहीं भी नहीं ली है, इसमें उनकी सहायता की आवश्यकता भी नहीं है। इसके अतिरिक्त अपनी अन्य कविताओं में भी उनकी रुचि अलंकारों की ओर नहीं लक्षित होती, वे चमत्कारवाद से बहुत दूर रहते भी थे, और अलंकार को भी वे कथन की एक प्रणाली ही मानते थे। हाँ, कहीं-कहीं रूपक, अनुप्रास आदि सामान्य अलंकार उनकी रचनाओं में स्वाभाविक रूप से आए हुए अवश्य दिखाई पड़ते हैं। अभिप्राय यह कि काव्य-कला की दृष्टि से उनकी प्रकृति संबंधिनी रचनाएँ बहुत उच्चकोटि की ठहरती हैं। प्राकृतिक कविताओं की दृष्टि से ही आचार्य शुक्ल की विशेष महत्ता है।

**भाषा और नूतन अभिव्यंजना**

भाषा की दृष्टि से आचार्य शुक्ल के काव्य पर विचार करने से विदित होता है कि उन्होंने हिंदी में मुख्यतः प्रचलित दोनों काव्य-भाषाओं—व्रज और खड़ी बोली—में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उनकी भाषा के विषय में हम विचार कर चुके हैं। जिस व्रजभाषा का प्रयोग उन्होंने 'बुद्ध-चरित' में किया है उसी का प्रयोग अपनी अन्य व्रजभाषा की कविताओं में भी। उनके काव्य की खड़ी बोली बड़ी परिष्कृत और प्रौढ़ है। उसमें प्रवाह वा गति विशेष है, जिसका दर्शन 'हृदय का मधुर भार' में किया जा सकता है। उनकी खड़ी बोली में स्निग्धता है, रुक्षता नहीं जो द्विवेदी-युग की रचनाओं में विशेषतः लक्षित होती है। उनकी खड़ी बोली में स्निग्धता का कारण है उसमें तत्सम, तद्भव तथा देशज शब्दों का निःसंकोच प्रयोग। आचार्य शुक्ल के काव्य की खड़ी बोली की इन विशेषताओं को देखने के लिए उनका 'हृदय का मधुर भार' देखना आवश्यक है। अभिव्यंनशैली की दृष्टि से आचार्य शुक्ल अपनी इधर की कविताओं में नूतन अभिव्यंजन-प्रणाली की ओर भी झुके हैं, जो अपनी भाषा की गति-विधि के आधार पर चलनेवाली है। इससे स्पष्ट है कि ये समय की आवश्यकता का अनुभव करनेवाले हैं और हिंदी के उत्तरोत्तर

विकास का सदा साथ देते रहे हैं, पिछड़े कभी नहीं। आचार्य शुक्ल के काव्य की वह भाषा जिसमें अभिव्यंजना का नवीन पथ पकड़ा गया है बड़ी मधुर और कोमल है। इस प्रकारकी अभिव्यंजना तथा भाषा को देखने के लिए उनकी 'मधु-स्रोत' तथा 'रूपमय हृदय' नाम्नी कविताएँ देखनी चाहिए। यहाँ 'मधु-स्रोत' से एक उदाहरण दिया जाता है—

किस अतीत के अंचल से ढल
संग राग के स्रोत अनर्गल
काट काल के बाँध, वासना को
अखंड अनुगति झलकाते ;
चिर सहचर रूपों के पथ में
बार-बार है हमें बहाते !
जहाँ सगी सुषमा हम पाते,
वहीं चकित होकर रह जाते।

'अतीत के अंचल से ढलना', 'वासना की अखंड अनुगति झलकाना' आदि प्रयोग आधुनिक अभिव्यंजना के अनुकूल ही हैं।

छंद और गति

आचार्य शुक्ल ने अपनी काव्य-रचना में प्रधानतः रोला और दंडक छंदों का प्रयोग अधिक किया है। उनकी रचनाओं में सवैया आदि छंद भी मिलते हैं, पर अपेक्षाकृत कम। उपर्युक्त छंद हिंदी के छंद हैं और अति प्रचलित छंद हैं, तथा इनके साँचे में कोई भी विषय ढाला जा सकता है। छायावादी युग में जब गीतों की रचना होने लगी तब उन्होंने दो-चार गीत भी लिखे। ऊपर उद्धृत पंक्तियाँ गीत की काया में ही हैं। 'मधु-स्रोत' तथा 'रूपमय हृदय' इसी ढंग के गीत में लिखे गए हैं। अन्य ढंग के गीत भी उन्होंने रचे हैं। जैसे 'याचना' कविता का यह गीत—

धन्य, धन्य, हे ध्वनि के धनी कवींद्र !
भाव-लोक के ठाकुर, उदित रवींद्र !

सारे भेदों के अभेद को खोल
लिया जगत् का तुमने मर्म टटोल—
हृदय सबके छुए,
प्राण सबके हुए ॥

यहाँ स्मरण रखने की बात यह है कि गीतों में भी विभिन्न छन्दों का योग प्रायः देखा जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है।

---

# उपसंहार

हिंदी-साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के कार्यों की विवेचना हम कर चुके। हम देख चुके कि उन्होंने साहित्य के जिस किसी अंग को अपने हाथ में लिया उसी को अपनी उपज्ञात प्रतिभा द्वारा चमका दिया और उसमें विशिष्टता का ऐसा विधान कर दिया जो उनके पूर्व के साहित्यकारों द्वारा नहीं हो सका था। इस प्रकार उन्होंने हिंदी-साहित्य को विकास के पथ पर ला खड़ा किया, उसको वे दो पग आगे ले गए। कहना न होगा कि हिंदी-साहित्य में सत्समीक्षा की स्थापना सर्वप्रथम यदि किसी साहित्यकार द्वारा हुई तो आचार्य शुक्ल द्वारा ही। वस्तुतः भारत की किसी अन्य प्रांतीय भाषा के साहित्य के अथवा किसी विदेशी भाषा के साहित्य के संमुख यदि हम अपने आलोचकों को रखना चाहेंगे तो उनमें शीर्षस्थानीय आचार्य शुक्ल ही होंगे, अन्य आलोचकों के नाम उनके पश्चात् आएँगे। सच्चे अर्थ में हिंदी-साहित्य के वे प्रथम इतिहासकार थे। हिंदी-निबंध के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया वह किसी भी देशी वा विदेशी साहित्य द्वारा स्पृहणीय है। निबंध के क्षेत्र में भी उनका कार्य अभूतपूर्व है। वर्तमान युग में कोई भी ऐसा निबंधकार नहीं दृष्टिगत होता जो उनकी श्रेणी के समकक्ष रखा जा सके। उनके पहले के निबंधकारों में भी कोई ऐसा निबंधकार नहीं दिखाई पड़ता जो समग्रतः निबंध की विशेषताओं की दृष्टि से उनकी तुलना में आ सके। हिंदी की प्रमुख भाषाओं की मीमांसा करते हुए उनके महत्वपूर्ण कार्यों की विवेचना हम कर चुके हैं। इस क्षेत्र में भी उन्होंने जो कार्य किया वह नवीन था। उनके अनुवादों की विशिष्टता का अवलोकन भी हम कर चुके। हिन्दी में अपने ढंग के वे एक ही अनुवादक थे। इस विषय में संभवतः किसी को ननु-नच करने की गुंजाइश प्रतीत न होगी। हिंदी-साहित्य के गद्य में जिन आचार्य शुक्ल ने परिणाम तथा विशिष्टता की दृष्टि से भी इतना महत्वपूर्ण कार्य किया, जिन आचार्य शुक्ल ने उसे ( हिंदी-साहित्य को ) इस योग्य बनाया कि वह अन्य साहित्यों के सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा करके कंधे से कंधा भिड़ाए खड़ा रहे उन आचार्य शुक्ल की गद्य-लेखन-शैली भी ऐसे गुणों से युक्त है कि वह किसी भी साहित्य की गद्य-शैली की तुलना में रखी जा सकती है। काव्य में

आचार्य शुक्ल ने जिस प्रकृति की ओर अपना विशेष झुकाव दिखाया—अर्थात् प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति की ओर—उसमें भी हम उनके कार्य को अद्वितीय स्वीकार करते हैं। प्रकृति का इतना बड़ा प्रेमी, उसका इतना बड़ा समर्थक और उसका इतना कुशल चित्रकार किसी भी साहित्य में विरला ही मिलेगा। इतना कहकर हम यह कहना चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा द्वारा हिंदी-साहित्य को इतना विशिष्टतान्वित कर दिया है कि अब वह सरलतापूर्वक किसी भी देशी तथा विदेशी साहित्य—विश्व-साहित्य—के समकक्ष प्रतिष्ठित किया जा सकता है। निकट भविष्य में हिंदी-साहित्य जब विश्व-साहित्य को अपनी देन देने चलेगा तब उसमें आचार्य शुक्ल की देन का भाग अधिक होगा, तब विश्व-साहित्यकारों की मंडली में हिंदी-साहित्यकारों में से आचार्य शुक्ल का नाम सर्वप्रथम रहेगा। हमारा यह कथन जिन्हें भाव-प्रेरित और अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत हो उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट होना आवश्यक है कि अब हिंदी-साहित्य और उसके साहित्यकारों को केवल हिंदी-साहित्य की परिमिति में घेरकर ही नहीं देखना है, प्रत्युत व्यापक सीमा में रखकर देखना है; यदि हम ऐसा न करेंगे, अपनी भ्रमपूर्ण हीनता की प्रतीति में उलझे रहेंगे तो हमारा नाम भी कोई न लेगा; और हम यह जानते हैं कि हिंदी-साहित्य संसार के किसी भी साहित्य से न विशिष्टता की दृष्टि से हीन है और न परिणाम की दृष्टि से! आवश्यकता केवल इसकी है कि हम उसे व्यापक दृष्टि से देखें और उनकी जबान बंद करें जो इसे हीन कहा करते हैं। जिन साहित्यकारों द्वारा किसी साहित्य को इतना गौरव प्राप्त होता है, 'स्वर्गीय होने पर भी युग-युग तक जिनकी वाणी प्रभूत गुण-समन्वित होने के कारण विश्वजनों को रमाया करती है, कैसे वे साहित्यकार वंदनीय नहीं हैं!' क्या आचार्य रामचंद्र शुक्ल ऐसे वंदनीय साहित्यकार नहीं थे—

दिवमप्युपयातानामाकल्प-<br>
मनल्पगुणगणा येषाम्<br>
रमयन्ति जगन्ति गिरः<br>
कथमपि कवयो न ते वन्द्याः।

---

# अनुक्रमणिका